ज्ञानदान महान् निष्पाप दान
जिसे तीर्थंकर तक करते

(प्रवचन-ग्रन्थलेखन-प्रकाशन-सहयोग-समर्थन-प्रशंसा प्रचारादि ज्ञानदान)

(गद्य-पद्यमय)

-आचार्य कनकनन्दी

पुण्य-स्मरण

वेबिनारों के द्वारा देश-विदेशों में वैज्ञानिक जैनधर्म की प्रभावना

स्वप्रेरित अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

(1) श्री विजय कुमार जी (कुण्डा वाले) चितरी, कुमार युवांश के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में

ग्रंथांक-343 संस्करण-प्रथम 2021

प्रतियाँ-300 मूल्य-151 रु.

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री हेमन्त प्रकाश देवड़ा (महावीर)

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 94608-78187

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, 55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

विषय-सूची

श्लोक.क्र.	विषय	पृ.सं
आचार्य श्रीकनकनन्दी की निस्पृहता व गुरु-शिष्यों की गुणानुमोदना		
1.	नमामि आत्मधर्म	5
2.	अनन्त सूर्य इन्द्र से भी अनन्त गुणी भगवान्	6
3.	अनन्त सूर्य इन्द्र से भी अनन्त गुणी भगवान् (रूपान्तर)	7
4.	नमामि आत्मन्! नमामि शुद्ध आत्मन्! नमामि मम आत्मन्!	8
5.	जिनवाणी-श्रुतदेवी-सरस्वती माता की स्तुति	11
6.	गुरु गुणेभ्यो नमः गुरुभ्यो	18
7.	विभाव उपज सरल V/s स्वभाव रूप सरल/सहज गुण	19
8.	तीर्थंकर तक ज्ञान दान क्यों करते!?	27
9.	ज्ञान-आराधना-ज्ञानदान	48
10.	जैन सिद्धांत समझना क्यों होता क्लिष्ट?	50
11.	कुलाचार धर्म V/s यथार्थ धर्म	102
12.	क्षुद्र लक्ष्य V/s महान् लक्ष्य	108
13.	परम विकास से चरम सफलता हेतु	117
14.	हानि से लाभ/नास्ति से अस्ति	124
15.	द्वारिका दहन घटणा एक : कार्यकारण सम्बन्ध अनन्त	141
16.	आत्मा को परमात्मा व स्वपरविश्वहित हेतु धर्म	174
17.	सापेक्ष दृष्टि से अशुभ-शुभ-शुद्ध ध्यान सहज-सरल	193
18.	प्रार्थना की शक्ति (प्रार्थना व फेथ थेरेपी)	218
19.	मम आंशिक मुक्ति के अनुभव जो पूर्ण मुक्ति हेतु प्रेरक	239
20.	कृतघ्नता व उपहास का दुष्परिणाम	258
21.	भगवान् महावीर का विश्व को दिव्य सन्देश	273
22.	तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित परम सत्य विज्ञान	274
23.	अहोभाग्य है जिनवाणी का पय जो पीये है।	275
24.	स्वाध्याय का स्वरूप-विषय एवं फल	276
25.	उपेक्षित जिनवाणी का अमृत संदेश	277

		पृ.स
26.	जिनवाणी सेवन की महिमा/फल	278
27.	सुध्यान का स्वरूप एवं सुफल	279
28.	विनयमोक्ष द्वार : पंचविध मोक्ष विनय (भक्ति)	280
29.	हितोपदेशी-जिनवाणी-प्रश्नकर्त्ता-श्रोतादि की प्रशंसा	300
30.	चिन्मय स्वरूप हे ! गुरुदेवा	319
31.	जिनकल्पी सम परभव में मम साधना की भावना	320
32.	धर्मतीर्थ प्रवर्तक को दानतीर्थ....प्रवर्तक का आहार दान	321
33.	मुझे सद्बुद्धि दोः कनकनन्दी जी गुरुदेव	322
34.	ज्ञानी प्रशंसा	326

क्या अवसर आया है !...ज्ञानानन्द छाया है...
वैश्विक गुरुवर की वेबिनार चली...
देशना से खिली..चेतना की कली...
कनकनन्दी गुरुवर...सुप्रबोधनकर्त्ता...
अभिनव श्रुत केवली...अभिप्रेरक नेता...क्या अवसर...(धुव्र)...

विलक्षणज्ञानी आतमध्यानी...ज्ञानोपयोगी विज्ञानी...
स्वमत-परमत-तात्कालीन...ज्ञान-विज्ञान पुरोगामी...
पूरब-पश्चिम के समस्त दर्शन...
आधुनिक सर्व विधा के अध्यापक...कनकनन्दी...(1)...

हिन्दु मुस्लिम-सिक्ख-ईसाई...दिक्-श्वेताम्बर जैनी...
देश-विदेश के शिष्यों में...अनेकान्त दृष्टि पैनी...
जो भी भव्य सुनते...पाते हैं शान्ति...
सुख-साता-समता...स्व/(निज) में विश्रान्ति...(2)...

वैज्ञानिक-दार्शनिक...लेखक-महाकवि...
सारस्वत-तार्किक...बहुभावी गुणी-गणी...
जीनियसों के जीनियस...पृथ्वी में अग्रणी...
निस्पृह सन्त पाकर...धन्य हुई अवनी...(3)...

(मुनि सुविज्ञ सागर)

आचार्य श्री कनकनंदी की निस्पृहता व गुरु-शिष्यों की गुणानुमोदना

सौभाग्यवती-विजयलक्ष्मी

(आचार्य कनकनंदी की शिष्या)

वैश्विक ज्ञान विज्ञान प्रसारक श्री कनकनंदी गुरुदेव को देश विदेश के वैज्ञानिक शिष्य व आचार्य शिष्य श्रुत केवली (कलिकाल श्रुत केवली; अभिनव श्रुत केवली) की उपाधि देना चाहते हैं! आचार्यश्री आधि व्याधि उपाधि से पहले से ही दूर हैं व निस्पृह हैं! गुरुदेव कहते हैं कि आप मेरे से पढ़ रहे हैं; देश विदेश में धर्म का प्रचार कर रहे हैं यही यथार्थ से मेरा अभिनंदन, स्वागत, उपाधि, गुरु दक्षिणा है इसे ही आगे बढ़ाओ! आचार्य श्री विमल सागर जी गुरुदेव आचार्य श्री भरत सागर जी गुरुदेव आचार्य श्री कनकनंदी गुरुदेव को ''कलिकाल समंतभद्र'' व ''अकलंक देव'' कह कर पुकारते थे! आचार्य कनकनंदी गुरुदेव को आचार्यश्री कुंथु सागर जी व आचार्यश्री देशभूषण जी ने 1985 में कर्नाटक में ''सिद्धांत चक्रवर्ती'' की उपाधि दी है! 1991 में दिल्ली में भी आचार्य कुंथुसागरजी व उपाध्याय आनंद सागर जी ने ''विश्व धर्म प्रभाकर'' 1991 में रोहतक में कुंथु सागर जी ने ''ज्ञान विज्ञान दिवाकर'', 25 अप्रेल 1996 उदयपुर में अभिनंदन सागर जी ने ''आचार्य रत्न'' की उपाधि तथा अन्य भी कई आचार्यों ने उन्हें विभिन्न उपाधियाँ दी है! उपरोक्त उपाधियाँ उनके आचार्य गुरुओं से प्रदत्त होने पर भी वह इनसे निस्पृह हैं इनका प्रयोग तक नहीं करते हैं। केवल गुणस्मरण में बोलते व लिखते हैं। देश विदेश के वैज्ञानिक शिष्य अगस्त से वेबिनार के माध्यम से उपाधि देने के लिए अनुरोध कर रहे हैं! 2013 में हल्दीघाटी में दिगम्बर व श्वेतांबर शिष्य भी आचार्यश्री कनकनंदी गुरुदेव को उपाधि देने के लिए व आचार्य कुंथुसागर गुरुदेव भी उपाधि देने के लिए पूर्व से चाह रहे हैं। पुनः 2020 की शरद पूर्णिमा के दिन आचार्य कुंथुसागर जी गुरुदेव ने ''निर्यापक आचार्य'' की उपाधि प्रदान के लिए घोषणा की है! यह सब गुरुओं के व शिष्यों के गुरुदेव के प्रति जो उत्तम भाव है उस का प्रतीक है! तथापि आचार्यश्री इन सबसे निर्लिप्त है। इस विषय में मैं विजयलक्ष्मी गोदावत गुरुदेव के गुणों का अनुमोदन करती हूँ। **(ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, 10-11-2020)**

कल्याणकारी गुरु आचार्य कनकनन्दी

श्री अपार सुमति एवं श्रुतज्ञान के पारंगत पंचाचार से अलंकृत स्याद्वाद रंजित वात्सल्य मूर्ति अनुपम प्रवचनदाता रत्नत्रय गुणरत्न भूषण श्री परमपूज्य आचार्य श्री कनकनंदी गुरुदेव के चरणारविंद मे मेरा त्रिकरण शुद्धि युक्त कोटि कोटि नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु। आपने उत्तम आशीष भरी कविता से एक भव्य जीव के आरोहण का पद दर्शाया। उत्साहवर्द्धक श्रीगीत को पढ़कर मैं धन्य हुआ हूँ। मुझे लगता है कि आप श्रीजी ने मेरे कल्याण को सुदृढ़ बना दिया है। पुनः कोटि कोटि नमन।

(डॉ. देवकुमार जैन दिल्ली) 9-11-2020

प्रो. जुबैदा मिर्जा का मंगलाचरण

आज (10-11-2020) मंगलवार दोपहर 3.30 बजे श्रुतरत्नाकर शिक्षण संस्थान द्वारा जूम चैनल पर आयोजित मोक्षमार्ग वेबिनार में तत्त्वार्थ सूत्र पर होने वाले आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुराज के प्रवचन का मंगलाचरण आचार्यश्री की सुशिष्या, अहिंसा प्रेमी प्रोफेसर जुबैदा मिर्जा करेंगी।

प्रोफेसर जुबैदा मिर्जा जिन्होंने आचार्यश्री द्वारा रचित साहित्यों पर अध्ययन व पीएचडी किया है आपने जैन धर्म के कई महत्वपूर्ण ग्रंथों का अध्ययन किया है।

आपका परिवार मांस, मदिरा के साथ रात्रि भोजन का त्याग रखता है।

आचार्यश्री कनकनन्दी जी गरुदेव को जो अपना आध्यात्मिक गुरु मानती है ऐसी भव्यात्मा प्रो. जुबैद्धा मिर्जा आज मंगलाचरण करेंगी।

नमामि आत्मधर्म

(चालः-1.किसी ने अपना बनाके... 2.रावण स्तोत्र... 3.बंगला... 4.देहाची तिजोरी... 5.तुम्ही हो माता... 6.कहाँ भी नहीं...)

वस्तुस्वरूप हे! सत्यधर्म! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।
मोक्षमार्गमय हे! आत्मधर्म! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।। (1)
आत्मविश्वास-ज्ञान-चारित्र धर्म! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।
तुझसे प्राप्त (होता) शाश्वत शर्म! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।। (2)

राग-द्वेष-मोह परे स्वधर्म! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।
अनन्तज्ञान-दर्श-सुख-वीर्य दायक! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।। (3)
समता-शान्ति-शुचिता दायक! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।
क्षमा-मार्दव-आर्जव-संयम दाता! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।। (4)
तप-त्याग-आकिञ्चन्य-ब्रह्म रूप! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।
उदार पावन वैश्विक रूप! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।। (5)
अन्त्योदय से सर्वोदय दायक! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।
मैत्री प्रमोद-कारुण्य-साम्य रूप! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।। (6)
आत्मविशुद्धि-उन्नति दाता धर्म! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।
द्रव्य-भाव-नोकर्म परे स्वधर्म! नमामि तुभ्यं! नमामि तुभ्यम्।। (7)
तप रूप प्राप्ति हेतु बाह्य साधन! अन्यथा सभी होते कुधर्म।
मिथ्या आडम्बर ढोंग पाखण्ड, तव स्वरूप से विपरीत कुधर्म।। (8)
संकीर्ण कट्टर राग द्वेष मोह पूर्ण होते जो धर्म वह अधर्म।
ख्यातिलाभप्रसिद्धि (वर्चस्व) हेतु जो धर्म वह निदानपूर्ण विधर्म।। (9)
ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा (भेदभाव) सहित धर्म वह कुधर्म जिससे आत्मपतन।
कुधर्म अधर्म विधर्म परे, आत्मधर्म पाना चाहे ''कनकश्रमण''।। (10)

(ग.पु.कॉ, दि. 16-8-2020, रात्रि-8.56)

अनन्त सूर्य इन्द्र से भी अनन्त गुणी भगवान्

(चालः 1.सायोनारा...)

तू ज्ञान का सूर्य है...2, अनन्त सुखवीर्यवान्...2
अनन्त सूर्य से भी (अनन्त) प्रकाशी, अनन्त इन्द्र से भी सुखवीर्यवान्...
अनन्त सूर्य भी न लोकालोक प्रकाशी न भूत भविष्य प्रकाशी।
तू तो लोकालोक प्रकाशी, अनन्त भूत भविष्य प्रकाशी...(1)
सभी द्रव्यों के गुणपर्याय ज्ञाता, तो भी स्व का ही कर्त्ता-भोक्ता।
चौरासीलक्षयोनि के ज्ञाता/(दृष्टा) तो भी किसी से भी न विरोध कर्त्ता।
यह ही तेरा वीतराग विज्ञान, समता शान्ति व निस्पृहता।

निर्विकार निरंजन कृतकृत्य, सच्चिदानन्द शुद्ध परमात्मा।। (2)
तथाहि तुझमें अनन्त सुखवीर्य, स्वअनन्त सुख हेतु अनन्तवीर्य।
तेरे असंख्यात आत्म प्रदेश में, अनन्त सुखवीर्य भी समन्वित।।
अनन्त इन्द्र चक्री से भी अनन्त, आत्मिक सुखवीर्य तुझ में।
तथापि प्रदर्शन गर्व ईर्ष्या घृणा, नहीं होते हैं कदापि तुझमें...(3)
आप ही परम स्वतंत्र स्वानुशासी, स्वावलम्बी ईश्वर प्रभु-विभु।
कृतकृत्य व विश्वात्मा, स्वयंभू सनातन अविनाशी....
तेरे गुणप्राप्ति हेतु तुझे प्रणाम ''वन्दे तद्गुणप्राप्ति हेतु'' वन्दन।
ऐसे भक्त ही तेरे सम बनते, तेरे गुणप्राप्ति हेतु स्तुति करे ''कनक''।। (4)

ग.पु.कॉ. 21-8-2020 मध्याह्न-1.09

अनन्त सूर्य-इन्द्र से भी अनन्त गुणी भगवान्

-आचार्य कनकनन्दी

(रूपान्तर-मुनि सुविज्ञसागर)

(चालः तू प्यार का सागर है...)

तू ज्ञान का सूर्य है...2 अनन्त सुखवीर्यवान्...2
अनन्त सूर्य से भी...2 अनन्त/(सत्य) प्रकाशी है तू...तू ज्ञान...(ध्रुव)
अनन्त सूर्य भी नहीं है...लोक-अलोक प्रकाशी...2
न भूत न भविष्य में...तुझ सम प्रकाशी...2
तू लोकालोक प्रकाशी...2 अनन्त भूत भविष्य प्रकाशी...तू ज्ञान का...(1)
अखिल/(सर्व) द्रव्य गुण पर्याय ज्ञाता...तथापि स्व के ही कर्त्ता/(भोक्ता)
चौरासी लक्ष योनि के ज्ञाता/(दृष्टा)...तो भी न निर्माण/(विरोध) कर्त्ता...
यही वीतराग (भेद) विज्ञान...2 समता शान्ति निस्पृहता...2 तू ज्ञान...(2)
कृतकृत्य निर्विकार निरंजन...शुद्धात्मा सच्चिदानन्द...2
तथाहि तुझमें सुखीवीर्य अनन्त...स्व सुख हेतु वीर्य अनन्त...2
असंख्यात आत्मप्रदेश में...2 अनन्त सुखवीर्य समाहित...2 तू ज्ञान...(3)
अनन्त इन्द्र-चक्री से भी...आत्मिक/(अनन्त) सुख-वीर्य...2
तथापि ईर्ष्या घृणा प्रदर्शन...गर्व न होते कदापि...2

परम स्वतंत्र स्वानुशासी...2 स्वावलम्बी ईश्वर प्रभु-विभु...2 तू ज्ञान...(4)
कृतकृत्य स्वयंभू विश्वात्मा...सनातन अविनाशी...2
तव गुण प्राप्ति हेतु प्रणाम...''वन्दे तद्गुण लब्धये''...2
ऐसे गुणग्राही भक्त गण...तब प्राप्ति हेतु करे स्तवन...तू ज्ञान...(5)

ग.पु.कॉ. 21/8/2020, मध्याह्न-1.09

नमामि आत्मन्! नमामि शुद्ध आत्मन्! नमामि मम आत्मन्!

नृत्याभिनय सह

(चाल: 1.किसी ने अपना बनाके... 2.रावण स्तोत्र... 3.बंगला... 4.देहाची तिजोरी... 5.तुम्हीं हो माता.... 6.कहाँ भी नहीं...)

अनन्त गुण सहित आत्मन्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
अनन्त सुख ज्ञान सहित आत्मन्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
समता-सत्य सहित आत्मन्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
अनन्त वीर्य संयुक्त आत्मन्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
स्वयम्भू-सनातन तव स्वरूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
राग-द्वेष-मोह रहित आत्मन्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा रहित आत्मन्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
काम-क्रोध-मद-मत्सर रिक्तं! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
संकल्प-विकल्प-संक्लेश रिक्तं! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
अक्षय-अव्यय-निराबाध स्वरूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
सच्चिदानन्द-धुव्र स्वरूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
सत्य-शिव-सुन्दर-चैतन्य रूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
शुद्ध-बुद्ध-आनन्द-नित्य रूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
शत्रु-मित्र रिक्त साम्य स्वरूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
आधि-व्याधि व उपाधि रिक्तं! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
जन्म-जरा-मृत्यु रहित रूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
परम अहिंसा निर्मल रूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...

वीतराग-निर्विकार-शान्त रूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
इन्द्रिय-मनातीत तव स्वरूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित रूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
निर्द्वन्द्व-निष्काम-निर्भय रूपम्! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...
तव गुण प्राप्ति 'कनक' लक्ष्य! नमामि आत्मन्! नमामि आत्मन्!...

ग.पु.कॉ., दि-16/8/2020, प्रातः 6.58

संदर्भ-

सुरासुरैः सदा सेव्यं तत्र नेमिजिनेश्वरम्।
लोकत्रयसुसेव्यत्वाच्छत्रत्रयसुशोभितम्।। (34) पा.पु.
शोकशङ्कापहारित्वादशोकानोकहाङ्कितम्।
चतुःषष्टिचलच्चारुचामरैः परिवीजितम्।। (35)
जगत्रयसुशीर्षस्थमिव सिंहासनाश्रितम्।
सामोददिव्यदेहत्वात्पुष्पवृष्ट्योपशोभितम्।। (36)
कर्मारिजयतो जातदिव्यदुन्दुभिदीपितम्।
अष्टादशमहाभाषाभाषणैकमहाध्वनिम्।। (37)
सूर्यकोटिसमुद्भासिभास्वद्भामण्डलामलम्।
वीक्ष्य ते पाण्डवा भक्तया पूजयन्ति स्म पूजनैः।। (38)

(पाण्डवकृत नेमिप्रभु स्तुति) जो त्रैलोक्य के द्वारा सेवनीय होने से छत्रत्रय से तीन छत्रों से सुशोभित हैं, शोक का भय नष्ट करने से अशोकवृक्ष से जो अंकित हुए हैं, चौसठ चंचल सुन्दर चामर जिनपर ढुरे जा रहे हैं, त्रैलोक्य के मानो मस्तक पर जो विराज रहे हैं, ऐसे सिंहासन का आश्रय लिये हुए, सुगन्धित और दिव्य देह से युक्त होने से जो पुष्पवृष्टि से शोभित हुए हैं, कर्म शत्रु को जीत लेने से प्राप्त हुए दिव्य दुंदुभियों से जो उद्दीप्त हुए हैं, अठारह महाभाषाओं में भाषण करने रूप एक महाध्वनि जिनकी हैं, सूर्यकोटियों से उत्पन्न प्रकाश के समान चमकनेवाला जो भामण्डल उससे जो निर्मल दिखते हैं, जिनको सुर और असुर हमेशा सेवन करते हैं ऐसे नेमिजिनेश्वर को देखकर वे पाण्डव भक्ति से पूजाओं के द्वारा पूजने लगे।

स्तोतुमारेभिरे देवं पाण्डवाः पावनाः पराः।
नावायसे नृणां नाथ संसाराब्धौ त्वमेव हि।। (39)
त्वमेव जगतां नाथस्त्वमेव परमोदयः।
त्वमेव जगतां त्राता त्वमेव परमेश्वरः।। (40)
त्वमेव हितकृन्नृणां त्वमेव भवतारकः।
त्वमेव केवलोद्भासी त्वमेव परमो गुरुः।। (41)
त्वत्प्रसादाज्जना यान्ति जवंजवाब्धिपारताम्।
तव प्रसादतो जीवो लभते पदमव्ययम्।। (42)
त्वमव्ययो विभुर्भास्वान्भर्ता भवभयापहः।
भगवान्भव्यजीवेशः प्रभग्नभयसंकटः।। (43)
कैवल्यविपुलं देवं सर्वज्ञं चिद्गुणाश्रयम्।
मुनीन्द्रमामनन्ति त्वां गणेशं गणनायकम्।। (44)

पवित्र उत्तम पाण्डवों ने नेमिजिनेश्वर की स्तुति करना प्रारंभ किया। ''हे नाथ, आप ही संसार समुद्र में मनुष्यों को नौका के समान हैं। आप ही जगत् के स्वामी हैं आप ही उत्कृष्ट उदयवाले हैं। आप ही जगत् के रक्षक और आप ही परमेश्वर हैं। आप ही मनुष्यों का हित करते हैं, और आप ही संसार-तारक हैं। आपकी कृपा से लोक संसारसमुद्र को पार करते हैं। आपके प्रसाद से जीव अविनाशी मुक्तिपद को प्राप्त करते हैं। हे प्रभो, आप अविनाशी हैं, ज्ञान से विभु-व्यापक हैं, भामण्डल से प्रकाशमान हैं आप भव्यों को हितमार्ग दिखाकर उनका पोषण करते हैं, अतः भर्ता हैं। उनके संसार-भय का नाश करते हैं। आप भगवान् समवशरण-लक्ष्मी व अनन्त ज्ञानादि ऐश्वर्य के पति हैं। भव्य जीवों के स्वामी हैं। आपके भय और संकट नष्ट हुए हैं। हे प्रभो, आप को कैवल्य से विपुल, देवों से स्तुति की जाने से देव, सर्व पदार्थों के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ, चैतन्यगुण के आधार, मुनियों के स्वामी, द्वादशगुणों के प्रभु और गणनायक कहते हैं।

त्वया बाल्येऽपि नाकारि प्राज्ये राज्ये विराजिते।
गजवाजिमहारामाराजिभिश्च महामतिः।। (45)

कन्दर्पदर्पसर्पस्य हतौ त्वं गरुडायसे।
सर्वलोकहिताख्यानाद्धितकृद्धितदायकः।। (46)
धिषणाधिष्ठितत्वेन त्वमेव धिषणायसे।
अतो नमो जिनेन्द्राय नमस्तुभ्यं चिदात्मने।। (47)
नमस्ते बोधसाम्राज्यराज्याय विजितद्विषे।
अनन्तशर्मणे नित्यमाबालब्रह्मचारिणे।। (48)
केवलज्ञानरूपाय नमस्तुभ्यं महात्मने।
नमस्तुभ्यं शिवाढ्याय केवलं केवलात्मने।। (49)
नमोऽनन्तसुबोधाय विशुद्धाय बुधाय ते।

हाथी, घोडे, सुंदर स्त्रियाँ, इनके समूहों में उत्कृष्ट, शोभायुक्त राज्य होने पर भी उसमें आपकी मति ने प्रवेश नहीं किया। हे प्रभो, मदन का गर्वरूप सर्प मारने में आप गरुड के समान हैं। सर्व लोगों को हितोपदेश करने से आप हितकृत् और हितदायक हैं। बुद्धि से केवलज्ञान से अधिष्ठित (युक्त) होने से आप ही धिषण-गुरु के समान हैं इसलिये हे जिनेन्द्र, आप को हम नमस्कार करते हैं। चैतन्यस्वरूप आपको हमारा नमस्कार है। आप केवलज्ञानरूप साम्राज्य के राजा हैं। आप शत्रुरहित हैं, आप सदा अनंत सुखी और बालब्रह्मचारी है। आप केवलज्ञान धारण करते हैं। आप महात्मा हैं इसलिये हम आपको नमस्कार करते हैं। आप अनंतशिव से-सुख से पूर्ण हैं तथा आप केवल आत्मरूप हैं अर्थात् कर्म आप से पूर्ण पृथक् हो गया है। अनंतज्ञानरूप विशुद्ध और बुद्धरूप आपको हमारी वंदना है।

जिनवाणी-श्रुतदेवी-सरस्वती माता की स्तुति

(चालः 1. तुम्ही हो माता... 2.देहाची तिजोरी... 3.कहाँ भी नहीं...)

अनेकान्तमयी हे! जिनवाणी! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
सप्तभंगमयी हे! दिव्यध्वनि! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (1)
सर्वांग निसृता! केवली सुता! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
सर्वभाषामयी! सत्यस्वरूपा! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (2)
प्रमाणनयमय! सरस्वती माता! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।

द्रव्य-तत्त्व की प्रतिपादिका! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (3)
सात सौ अठारह भाषा स्वरूपा! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
विश्वतत्त्व की प्रतिपादिका! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (4)
मोक्षमार्ग की प्रतिपादिका! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
गणधर की भी आप माता! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (5)
द्वादशसभा की ज्ञान-प्रदात्री! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
परोक्ष केवलज्ञान स्वरूपा! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (6)
निबद्ध अनिबद्ध तव द्वय रूप! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
द्रव्य-भाव रूप तव द्वय रूप! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (7)
ग्रन्थों में रचित निबद्ध रूप! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
ग्रन्थ अरचित अनिबद्ध रूप! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (8)
निबद्धमय तव द्रव्य स्वरूप! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
स्वात्माभिमुख संवित्ति भाव रूप! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (9)
सम्यक्त्व सहित सुश्रुत रूप! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
सम्यक्त्व रहित कुश्रुत रूप! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (10)
तुझसे होता है भेदविज्ञान! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
भेदविज्ञान से होता केवलज्ञान! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (11)
अतः हे! माता तू केवलज्ञानप्रदात्री! नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।
केवलज्ञान चाहे ''कनकनन्दी'' नमामि श्रुतं! नमामि श्रुतम्।। (12)

(ग.पु.कॉ., दि-16/8/2020, रात्रि-8.16)

संदर्भ-

इस प्रकार नित्य उत्सव और अनन्त कल्याणों के एक स्थानस्वरूप समवशरण में जब धर्म सुनने के इच्छुक जीव हाथ जोड़कर बैठ गये तब वरदत्त गणधरने वक्ताओं में श्रेष्ठ श्री नेमि जिनेन्द्र को नमस्कार कर समस्त भव्यजीवों का हित पूछा।

भावार्थ-हे भगवन्! समस्त जीवों के लिए हितरूप क्या है? ऐसा प्रश्न किया। गणधर के उक्त प्रश्न के अनन्तर भगवान् की दिव्य ध्वनि खिरने लगी।

भगवान् की यह दिव्यध्वनि चारों दिशाओं में दिखने वाले चार मुखों से निकलती थी; चार पुरुषार्थ चार फल को देनेवाली थी, सार्थक थी, चार वर्ण और आश्रमों को आश्रय देने वाली थी, चारों ओर सुनाई पड़ती थी, चार अनुयोगों की एक माता थी, आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी इन चार कथाओं का वर्णन करने वाली थी, चार गतियों का निवारण करने वाली थी। एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ और नौका स्थान थी, अर्थात् सामान्य रूप से एक जीव का वर्णन करने वाली होने से एक का स्थान थी, श्रावक मुनि के भेद से दो प्रकार के धर्म का अथवा चेतन-अचेतन और मूर्तिक-अमूर्तिक के भेद से दो द्रव्यों का निरूपक होने से दो का स्थान थी, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूपी रत्नत्रय अथवा चेतन, अचेतन और चेतनाचेतन द्रव्यों का वर्णन करनेवाली होने से तीन का स्थान थी, चार गति, चार कषाय अथवा मिथ्यात्वादि चार प्रत्ययों का निरूपण करनेवाली होने से चार का स्थान थी, पाँच अस्तिकाय अथवा प्रमाद-सहित मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्ययों का वर्णन करनेवाली होने से पाँच का स्थान थी, छह द्रव्यों का वर्णन करनेवाली होने से छह का स्थान थी, सात तत्त्वों की निरूपक होने से सात का स्थान थी, आठ कर्मों का निरूपण करने वाली होने से आठ का स्थान थी और सात तत्त्व तथा पुण्य-पाप इन नौ पदार्थों का वर्णन करने वाली होने से नौका स्थान थी। पर्याय-रहित होने पर भी सत्ता के समान अनन्त पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली थी, अहित को नष्ट करनेवाली थी, सदा हित की रुचि उत्पन्न करने वाली थी, हित का स्थापन करनेवाली थीं, पात्र में यथायोग्य हित को अपने प्रभाव से धारण करने वाली थी, अशुभ से शीघ्र हटाने वाली थी, उत्कृष्ट शुभ को पूर्ण करने वाली थी, अर्जित कर्म को शिथिल करनेवाली अथवा बिल्कुल ही नष्ट करने वाली थी। जहाँ भगवान् विराजमान थे वहाँ से चारों ओर एक योजन के घेरा में इतनी स्पष्ट सुनाई पड़ती थी जैसे यहाँ उत्पन्न हो रही हो। वह दिव्य ध्वनि जैसी उत्पत्ति स्थान में सुनाई पड़ती थी वैसी ही एक योजन के घेरा में सर्वत्र सुनाई पड़ती थी-उसमें हीनाधिकता नहीं मालूम होती थी, मधुर स्निग्ध, गम्भीर, दिव्य, उदात्त और स्पष्ट अक्षरों से युक्त थी, अनन्यरूप थी, एक थी और साध्वी अतिशय निर्मल थी।

भगवान् की उस दिव्यध्वनि में जगत् की वह स्थिति दिख रही थी जो भाव

और अभाव के अद्वैत-भाव से बँधी हुई अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से भावरूप और पर्यायार्थिक नय से अभावरूप है, अहेतुक है-किसी कारण से उत्पन्न नहीं है, अनादि है और पारिणामिकी है-स्वतः सिद्ध है। आत्मा है, परलोक है, धर्म और अधर्म है, यह जीव उनका कर्त्ता है, भोक्ता है तथा संसार के सब पदार्थ अस्तिरूप और नास्तिरूप हैं, यह कथन भी उसी दिव्यध्वनि में दिखाई देता था। यह जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं संसार में घूमता है और स्वयं उससे मुक्त होता है। अविद्या तथा राग से संक्लिष्ट होता हुआ संसार-सागर में बार-बार भ्रमण करता है और विद्या तथा वैराग्य से शुद्ध होता हुआ पूर्णस्वभाव में स्थित हो सिद्ध हो जाता है। इस अध्यात्म-विशेष को प्रकट करने के लिए वह दीपिका के समान थी तथा रूप आदि गुणों के विषय में जो अज्ञानान्धकार विस्तृत था उसे शीघ्र ही दूर कर रही थी। जिस प्रकार आकाश से बरसा पानी एकरूप होता है परन्तु पृथिवी पर पड़ते ही वह नाना रूप दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार भगवान् की वह वाणी यद्यपि एक रूप थी तथापि सभा में पात्र के गुणों के अनुसार वह नाना रूप दिखाई दे रही थी। संसार के जीवादि समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली भगवान् की वह दिव्यध्वनि सूर्य को पराजित करने वाली थी तथा सावधान होकर बैठी हुई सभा के अन्तःकरण में स्थित आवरण-सहित अज्ञानान्धकार को खण्ड-खण्ड कर रही थी। भगवान् कह रहे थे कि संसार के मार्ग का जो पथिक भव्यतारूपी शुद्धि से युक्त होता है उसी के मोक्ष पुरुषार्थ देखा गया है।

भावार्थ-मोक्ष की प्राप्ति भव्य जीव को ही होती है। उस मोक्ष का उपाय ध्यान और अध्ययन रूप एक हेतु से प्राप्त होता है तथा सबसे पूर्व वह, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन के समुदायरूप है। उनमें जीवादि सात तत्त्वों का, निर्मल शंका आदि समस्त अन्तरंग मलों के सम्बन्ध से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है। वह सम्यग्दर्शन, दर्शनमोहरूपी अन्धकार के क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, क्षायिक आदि के भेद से तीन प्रकार का है और निसर्गज तथा अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व है; इनका अपने-अपने लक्षणों से श्रद्धान करना चाहिए। जीव का लक्षण उपयोग है और उपयोग आठ प्रकार का है। उपयोग से

आठ भेदों में मति, श्रुत और अवधि ये तीन, सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान-दोनों रूप होते हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख ये सब चिदात्मक हैं ये ही जीव के लक्षण है; क्योंकि इनसे ही चैतन्यरूप जीव की पहचान होती है। पृथिवी आदि भूतों की आकृति मात्र को जीव नहीं कहते; क्योंकि वह तो इसके शरीर की अवस्था है। शरीर का चैतन्य के साथ अनेकान्त है अर्थात् शरीर यहीं रहता है और चैतन्य दूर हो जाता है। आटा, किण्व (मदिरा का बीज) तथा पानी आदि मदिरा के अंगों में मद उत्पन्न करने वाली शक्ति का अंश पृथक् होता है, परन्तु शरीर के अवयवों में चैतन्य शक्ति पृथक् नहीं होती। **भावार्थ**-आटा आदि मदिरा के कारणों को पृथक्-पृथक् कर देने पर भी उनमें जिस प्रकार मादक शक्ति का कुछ अंश बना रहता है उस प्रकार शरीर के अंगों को पृथक्-पृथक् करने पर उनमें चैतन्य शक्ति का कुछ अंश नहीं रहता इससे सिद्ध होता है कि चैतन्य शरीर के अंगों का धर्म नहीं है, किन्तु उनसे पृथक् द्रव्य है। जो पृथिवी आदि चार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानते है उनके मत में बालु आदि से तेल की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति क्यों नहीं ली जाती है? **भावार्थ**-जिस प्रकार बालू आदि से तेल की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति मानते हैं उनके मत में बालू आदि से तेल की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यह जीव इस संसार में अनादि निधन है, निजकर्म से परवश हुआ यहाँ दूसरी गति से आता है और कर्म के परवश हुआ दूसरी गति को जाता है। जितना यह प्रत्यक्ष गोचर दिखाई देता है इतना ही जीव है-अतीत अनागत काल में इसकी सन्तति नहीं चलती इत्यादि कथन निज-पर का अहित करने वाले जीवों का ही विरुद्ध कथन है। क्षण-क्षण में जो संविद् (ज्ञान) उत्पन्न होता है उतना ही आत्मा है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि संवित्ति को क्षणिक मान लेने पर आगे-पीछे की कड़ी जोड़ने वाली बुद्धि का लोप हो जायेगा और उसके लोप होने पर लेने-देने तथा कर्त्ता-कर्म आदि व्यवहार का ही लोप हो जायेगा। इससे सिद्ध होता है कि यह जीव स्वयं द्रव्यरूप है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, कर्त्ता है, भोक्ता है, कर्मों का नाश करने वाला है, उत्पाद-व्ययरूप है, सदा गुणों से सहित है, असंख्यात प्रदेशी है, संकोच विस्तार रूप है, अपने शरीर प्रमाण है और वर्णादि बीस गुणों से रहित है। न यह आत्मा सावाँ के कण के बराबर है, न आकाश के बराबर है,

न परमाणु के बराबर है, न अगूँठा के पोरा के बराबर है और न पाँच सौ योजन प्रमाण है। यदि आत्मा को सावाँ के कण, अंगुष्ठ-पर्व अथवा परमाणु के समान छोटा माना जायेगा तो आत्मा प्रत्येक शरीर में उसके खण्ड-खण्ड रूप प्रदेशों के साथ ही रह सकेगा, समस्त प्रदेशों के साथ नहीं और इस दशाा में जहाँ आत्मा न रहेगा वहाँ की स्पर्शन इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकेगी। जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ शरीर के किसी निश्चित स्थान में ही कार्य कर सकती हैं उसी प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय भी जहाँ आत्मा होगा वहीं कार्य कर सकेगी सर्वत्र नहीं। इसी प्रकार आत्मा का परिमाण यदि शरीर से अधिक माना जायेगा तो अनेकों योजनों तक जहाँ कि शरीर नहीं है मात्र आत्मा के प्रदेश हैं, वहाँ सब ओर क्या पदार्थ का स्पर्शन होने लगेगा? और इस दशा में जिस प्रकार चक्षु के द्वारा योजनों की दूरी तक पदार्थों का अवलोकन होता है उसी प्रकार योजनों की दूरी तक पदार्थ का स्पर्शन भी होने लगेगा और ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों से विरोध आता है इसलिए शरीर के प्रमाण ही आत्मा को मानना चाहिए। सब का अनुभव भी इसी प्रकार का है। वह जीव गति, इन्द्रिय, छह काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, सम्यक्त्व, लेश्या, दर्शन, संज्ञित्व, भव्यत्व और आहार इन चौदह मार्गणाओं से खोजा जाता है तथा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों से उसका कथन किया गया है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सत्, संख्या और निर्देश आदि से संसारी जीव का तथा अनन्त ज्ञान आदि आत्मगुणों से मुक्त जीव का निश्चय करना चाहिए। वस्तु के अनेक स्वरूप हैं उनमें-से किसी एक निश्चित स्वरूप को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय कहलाता है। इसके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो भेद हैं। इनमें द्रव्यार्थिक नय यथार्थ है और पर्यायार्थिक नय अयथार्थ है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये ही दो मूल नय हैं तथा दोनों ही परस्पर सापेक्ष माने गये हैं। अच्छी तरह देखे गये नैगम, संग्रह आदि नय इन्हीं दोनों नयों के भेद हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन नय द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं और वे सामान्य को विषय करते हैं तथा अवशिष्ट चार नय पर्यायार्थिक नय के भेद हैं और वे विशेष को विषय करते हैं। पदार्थों के संकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नय नैगम नय कहलाता है। प्रस्थ तथा ओदन आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। **भावार्थ**-जो नय अनिष्पन्न पदार्थ के संकल्पमात्र को विषय

करता है वह नैगम नय कहलाता है, जैसे कोई प्रस्थ की लकड़ी लेने के लिए जा रहा है उससे कोई पूछता है कि कहाँ जा रहे हो, तो वह उत्तर देता है कि प्रस्थ लेने जा रहा हूँ। यद्यपि जंगल में प्रस्थ नहीं मिलता है वहाँ से लकड़ी लाकर प्रस्थ बनाया जाता है तथापि नैगम नय संकल्प मात्र का ग्राहक होने से ऐसा कह देता है कि प्रस्थ लेने के लिए जा रहा हूँ। इसी प्रकार प्रकार ओदन-भात बनाने के लिए लकड़ी, पानी आदि सामग्री इकट्ठी कर रहा है उस समय कोई पूछता है कि क्या कर रहे हो? तो वह उत्तर देता है कि ओदन बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह ओदन नहीं बना रहा है तथापि उसका संकल्प है इसलिए नैगम नय ऐसा कह देता है कि ओदन बना रहा हूँ। अनेक भेद और पर्यायों से युक्त पदार्थ को एकरूपता प्राप्त कराकर समस्त पदार्थ का ग्रहण करना संग्रह नय है; जैसे सत् अथवा द्रव्य।

भावार्थ-संसार के पदार्थ अनेक रूप है उन्हें एकरूपता प्राप्त कराकर सत् शब्द से कहना। इसी प्रकार जीव, अजीव आदि अनेक भेदों से युक्त पदार्थों को 'द्रव्य' इस सामान्य शब्द से कहना यह संग्रह नय है।

संग्रह नय के विषयभूत सत्ता आदि पदार्थों के विशेष रूप से भेद करना व्यवहार नय है, क्योंकि व्यवहार नय सत्ता के भेद करता-करता उसे अन्तिम भेद तक ले जाता है। **भावार्थ**-जैसे संग्रह नय से जिस सत् को ग्रहण किया था व्यवहार नय कहता है कि वह सत्, द्रव्य और गुण के भेद से दो प्रकार का है। अथवा संग्रह नय से जिस द्रव्य को विषय किया था व्यवहार नय कहता है कि उस द्रव्य के जीव और अजीव के भेद से दो भेद हैं। इस प्रकार यह नय पदार्थ में वहाँ तक भेद करता जाता है जहाँ तक भेद करना सम्भव है।

पदार्थ की भूत-भविष्यत् पर्याय को वक्र और वर्तमान पर्याय को ऋजु कहते हैं। जो नय पदार्थ की भूत-भविष्यत्रूप वक्र पर्याय को छोड़कर सरल सूत्रपात के समान मात्र वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय कहलाता है। **भावार्थ**-इस के सूक्ष्म और स्थूल के भेद से दो भेद हैं। जीव की समय-समय में होने वाली पर्याय को ग्रहण करना सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय का विषय है और देव, मनुष्य आदि बहुसमयव्यापी पर्याय को ग्रहण करना स्थूल ऋजुसूत्र नय का विषय है।

(हरि.पु.)

गुरु गुणेभ्यो नमः गुरुभ्यो

(चालः ॐ कार स्वरूपा...)

रत्नत्रय साधक गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।
मोक्षसाधक गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।।
आत्मविश्वास युक्ताय...नमो नमः नमो नमः।
आत्म ज्ञान युक्त गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।।
आत्मानुचरण युक्त गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।
मोहतिमिर नाशक गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।।
राग द्वेष नाशक गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।
ईर्ष्या तृष्णा नाशक गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।।
ख्याति पूजा लाभ मुक्ताय...नमो नमः नमो नमः।
भेद विज्ञान युक्त गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।।
भेद भाव रहिताय गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।
सत्य साम्य सुख साधक...नमो नमः नमो नमः।।
ध्यान अध्ययन रत गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।
दर्श धर्म युक्ताय गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।।
पंच महाव्रत युक्ताय गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।
पंच समिति युक्ताय गुरुवे! नमो नमः नमो नमः।।

आत्मा के लिए आत्मा के द्वारा आत्मा में साधना करते गुरु।
इसके अतिरिक्त अन्य सभी बाह्य प्रपंच नवकोटि से त्यागते हो!
इससे ही आत्मविशुद्धि द्वारा, आत्म विकास से बनते प्रभु।
शुद्ध बुद्ध आनन्द बनकर बनते हो आप त्रैलोक्य प्रभु।
इसलिए आप परमपूज्य परम आदर्श परम गुरु।
तव सम 'कनक' बनूँ शुद्ध बुद्ध आनन्द तव अनुयायी गुरु।।

ग.पु.कॉ. दि. 17/8/2020 प्रातः 7.56

विभाव उपज सरल V/s स्वभाव रूप सरल/सहज गुण

(मोही रागी द्वेषी के सरल भाव काम V/s रागद्वेष मोह क्षय से प्राप्त स्वाभाविक सहज भाव)

(चालः 1.भातुकली (मराठी).... 2.क्या मिलिए...)

सरल है रागद्वेष काम क्रोध, सरल ईर्ष्या तृष्णा घृणा मद।
सरल है मोह लाभ मत्सर, परनिन्दा अपमान वाद विवाद।।
अनादिकालीन कर्म उदयवशात्, उक्त भाव काम होते विभाव वशात्।
प्रबल आन्धी वशत् उड़ते रजतृणदि, तथाहि विभाव से होते उक्त भावादि।। (1)
तथाहि आहार निद्रा मैथुन परिग्रह, कर्म परतंत्रतात् जीव करते अनादि से।
बिना सुने देखे भी करते उक्त काम, ये नहीं पुरुषार्थ ये हैं संक्लेशस्थान/(अध्यवसाय)।।
आत्मा है पुरुष उसके हित पुरुषार्थ, उक्त भाव काम दूर करना पुरुषार्थ।
मोक्ष हेतु धर्म पुरुषार्थ होता प्रमुख, शक्ति अभाव से धर्मानुसार अर्थकाम (पुरुषार्थ)।। (2)
अन्यथा न होते अर्थ काम पुरुषार्थ, यथा चोरी वेश्यागमन न अर्थ काम (पुरुषार्थ)।
उक्त विभाव युक्त न धर्म पुरुषार्थ, इससे न होता प्राप्त मोक्ष पुरुषार्थ।।
ऐसे पुरुषार्थ रिक्त राजा महाराजा, सेठ साहुकार मंत्री नेता व जज।
नहीं होते सत् पुरुषार्थी आगमन उक्त, भले समाज सरकार से मान्यता प्राप्त।। (3)
यथा मान्यता प्राप्त वधशाला, मधुशाला, वेश्यालय से अन्यायपूर्ण कार्यशाला।
दासप्रथा, बली प्रथा, सती दाह, अन्याय काम, तानाशाही आतंकवादी सम काम।।
इनसे परे सत्य-समता शान्ति भाव, उदार पावन शुचि उदार काम।
सरल सहज क्षमा मृदुता नम्रता, महान् पुरुषार्थ कठिन दुर्लभ काम।। (4)
महान् पुरुषार्थ युक्त होते महापुरुष, वे ही पाते अनन्त में परम मोक्ष।
मोक्ष में ही होता अनन्तसुख, शुद्ध-बुद्ध आनन्द अक्षय धाम।।
यह ही जीवों का सहज स्वरूप, विभाव है कर्मज अशुद्ध दुःख रूप।
परस्पर विरुद्ध अभाव स्वरूप, ''सूरी कनक'' का लक्ष्य स्वशुद्ध रूप।। (5)

ग.पु.कॉ. 20/8/2020 मध्याह्न-3.46

सुलेख-सुश्री मासूम जैन

(यह कविता श्रीमती टीना मनीष व यशवंत शाह के कारण बनी।)

साम्यभाव का वर्णन

मोहवह्निमपाकर्त्तुं स्वीकर्त्तुं संयमश्रियम्।

छेत्तु रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम्।। (1)

हे आत्मन्! तू मोहरूप अग्नि को बुझाने के लिये और संयमरूपी लक्ष्मी को ग्रहण करने के लिये तथा रागरूप वृक्षों के समूह को काटने के लिये समभाव का (समता का) अवलंबन कर ऐसा उपदेश हैं।

चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः।

न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत्।। (2)

जिस पुरुष का मन चित् (पुत्र कलत्र शत्रु मित्रादि), अचित् (धन धान्य तृणकंचनादि) इष्ट अनिष्टरूप पदार्थों के द्वारा मोह को प्राप्त नहीं होता, उस पुरुष के ही साम्यभाव में स्थिति होती है। यह साम्यभाव का लक्षण है।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।

समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम्।। (3)

हे आत्मन्! तू काम और भोगादिक से विरक्त हो, शरीर में वांछा-आसक्तता छोड़कर समता को भज (सेव), क्योंकि यह समताभाव केवलज्ञान लक्ष्मी का (लोकालोक के जानने का) कुलगृह है अर्थात् वह लक्ष्मी समभाव में ही है।

छित्वा प्रशमशस्त्रेण भवव्यसनवागुराम्।

मुक्तेः स्वयंवरागारं वीर व्रज शनैः शनैः।। (4)

हे आत्मन्! हे वीर! तू शांतभावरूपी शस्त्र से सांसारिक कष्टरूप (आपदारूप) फाँसी को छेदकर मुक्तिरूप स्त्री के स्वयंवर के स्थान को शनैः शनैः गमन कर। **भावार्थ**-शान्तभाव होने से मार्ग में रोकनेवाला कोई भी नहीं है इस कारण मंद मंद गति से निःशंकतया मोक्षस्थान को गमन कर, यह धीरज बँधाया है।

साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे।

प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः।। (5)

संयमी मुनि समभावरूपी सूर्य की किरणों से रागादि तिमिरसमूह के नष्ट होने पर परमात्मा का स्वरूप अपने में ही अवलोकन करता है। **भावार्थ**-परमात्मा का

स्वरूप अनन्तचतुष्टयरूप है सो रागादिक तिमिर से आच्छादित है सो समभाव के प्रकाश होने पर आप में ही दिखता है।

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी।। (6)

भेदविज्ञानी पुरुष है सो समभाव की सीमा का अवलंबन करके तथा अपने में ही अपने आत्मा का निश्चय करके, मिले हुए जीव और कर्म को पृथक्-पृथक् करता है।

साम्यवारिणि शुद्धानां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्।
इहैवानन्तबोधादिराज्यलक्ष्मीः सुखी भवेत्।। (7)

अर्थ-जो समभावरूपी जल से शुद्ध हुए हैं और जिनके ज्ञान ही नेत्र है ऐसे सत्पुरुषों के इस ही जन्म में अनन्त ज्ञानादिक लक्ष्मी सखी होती हैं। **भावार्थ**-कोई यह जाने कि समभाव का फल परलोक में होता है, सो यह एकान्त नहीं है; किन्तु इस ही जन्म में केवलज्ञानादिक की प्राप्ति होती है।

भावयस्व तथाऽऽत्मानं समत्वेनातिनिर्भरम्।
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णात्यर्थकदम्बकम्।। (8)

हे आत्मन्! अपने आत्मा को तू समभाव से अति निर्भररूप इस प्रकार भाव, कर कि जिस प्रकार से यह आत्मा रागद्वेषादि से पदार्थों के समूह को ग्रहण न करे। **भावार्थ**-आत्मा में ऐसा लीन हो कि जहाँ रागद्वेषादिक अवकाश न पावें।

रागादिविपिनं भीमं मोहशार्दूलपालितम्।
दग्धं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजार्चिषा।। (9)

यह रागादिकरूप भयानक वन है सो मोहरूपी सिंह के द्वारा रक्षित है, उस वन को मुनिरूपी महासुभटों ने समभावरूप अग्नि की ज्वाला से दग्ध कर दिया है।

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता।। (10)

पुरुषों के हृदय में मोहरूपी कर्दम के सूखने से तथा रागादि बन्धनों के दूर होने पर जगत्पूज्या समभावरूपी लक्ष्मी निवास करती है।

भावार्थ-मलिन घर में और बंधनसहित घर में उत्तम स्त्री प्रवेश नहीं करती, इस प्रकार समभावरूप लक्ष्मी भी रागद्वेषमोहादि सहित हृदय में प्रवेश नहीं करती।

आशाः सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात्।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना।। (11)

जिस पुरुष के समभाव की भावना है उसकी आशाएँ तो तत्काल नाश हो जाती है, अविद्या क्षणभर में क्षय हो जाती है, उसी प्रकार चित्तरूपी सर्प भी मर जाता है अर्थात् भ्रमण से रहित हो जाता है। यही समभावना का फल है।

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत्।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः।। (12)

समभाव की हदपर आरूढ़ हुआ संयमी मुनि जो नेत्र के टिमकार मात्र से कर्म को जीतता है अर्थात् कर्मों का क्षय करता है, उतना समभावरहित इतर पुरुष कोटि तपों के करने पर भी नहीं कर सकता, यह साम्यभाव का माहात्म्य है।

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः।। (13)

आचार्य महाराज कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान् ने साम्यभाव को ही उत्कृष्ट ध्यान कहा है और यह शास्त्रों का विस्तार है सो निश्चयतः उस साम्यभाव को प्रगट करने के लिये ही है, ऐसा मैं मानता हूँ।

भावार्थ-शास्त्र में जितने व्याख्यान हैं वे साम्य को ही दृढ़ करते हैं।

साम्यभावितभावानां स्यात्सुख यन्मनीषिणाम्।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्ववलम्बते।। (14)

आचार्य देव कहते हैं कि साम्यभावों से पदार्थों के विचार करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषों के जो सुख होता है सो मैं ऐसा मानता हूँ कि वह ज्ञानसाम्राज्य (केवलज्ञान) की समता को अवलम्बन करता है। **भावार्थ**-समभावों से केवलज्ञान उत्पन्न होता है उससे पहिले ही समभाव में ऐसा सुख है कि उसे केवलज्ञान के समान ही माना जाता है क्योंकि दुःख तो रागादिक से हैं, उसके विना केवल मात्र सुख ही सुख है।

यः स्वभावोत्थितां साध्वीं विशुद्धिं स्वस्य वाञ्छति।

स धारयति पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठितं मनः।। (15)

जो पुरुष अपने स्वभाव में उत्पन्न हुई समीचीन विशुद्धता को चाहता है सो पुरुष अपने मन को समभावों सहित धारता है। वही पुण्यात्मा है, महाभाग्य है।

तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम्।

यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत्।। (16)

जिस समय यह आत्मा अपने आत्मा को औदारिक, तैजस और कार्माण इन तीन शरीरों से तथा रागद्वेषमोह से रहित जानता है तब ही समभाव में स्थिति (स्थिरता) होती है।

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम्।

निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते।। (17)

जिस समय यह आत्मा अपने को समस्त परद्रव्यों की पर्यायों से तथा परद्रव्यों से विलक्षण भिन्नस्वरूप निश्चय करता है उसी काल साम्यभाव उत्पन्न होता है।

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम्।

तस्यैव बन्धविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः।। (18)

जिस योगीश्वर के समभाव है उसके ही तो अविचल सुख है और उसके ही अविनाशी पद और कर्मबन्ध की निर्जरा है।

यस्य हेयं न चादेयं जगद्विश्वं चराचरम्।

स्यात्तस्यैव मुनेः साक्षाच्छुभाशुभमलक्षयः।। (19)

जिस मुनि के चराचररूप समस्त जगत् में न तो कोई हेय है और न उपादेय है, उस मुनि के ही शुभाशुभरूप कर्मरूपी मैल का साक्षात् क्षय है।

शाम्यति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम्।

अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः।। (20)

इस साम्य के प्रभाव से अपने स्वार्थ में प्रवृत्त मुनि के निकट परस्पर वैर करनेवाले क्रूर जीव भी शान्त हो जाते हैं। **भावार्थ**–मुनि तो अपने स्वरूप के साधनार्थ साम्यभावों में प्रवर्त्तते हैं किन्तु उनकी साम्यमूर्ति अवलोकन करके उनके

निकट रहनेवाले क्रूर सिंहादिक भी परस्पर वैरभाव छोड़कर शान्तभाव का, समता का आश्रय कर लेते हैं, ऐसा ही साम्यभाव का माहात्म्य है।

भजन्ति जन्तवो मैत्रीमन्योऽन्यं त्यक्तमत्सराः।

समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्मार्चितां क्षितिम्।। (21)

समभाव का अवलंबन करनेवाले मुनियों के चरणकमलों के प्रभाव से पूजनीय पृथ्वी को प्राप्त होने पर प्राणीजन परस्पर का ईर्ष्याभाव छोड़कर मित्रता को प्राप्त हो जाते हैं।

शाम्यन्ति योगिभिः क्रूराः जन्तवो नेति शङ्क्यते।

दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैर्बलाहकैः।। (22)

योगीगण क्रूर जीवों को उपाय करके शान्तरूप करते हैं ऐसी शंका कदापि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जैसे दावानल से जलता हुआ वन स्वयमेव मेघ बरसने से शान्त हो जाता है उसी प्रकार मुनियों के तप के प्रभाव से स्वयं की ही जीव समतारूप प्रवर्तने लग जाते हैं; योगीश्वर उनको प्रेरणा कदापि नहीं करते।

भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम्।

चेतांसि योगिसंसर्गेऽगस्त्ययोगे जलानिवत्।। (23)

जिस प्रकार शरद ऋतु में अगस्त्य तारा के संसर्ग होने से जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार समतायुक्त योगीश्वरों की संगति से जीवों के मलिन चित्त भी प्रसन्न अर्थात् निर्मल हो जाते हैं।

क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वराः

मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः क्रूरताम्।

रुग्वैरप्रतिबन्धविभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते

स्याद्योगीन्द्रसमत्वसाध्यमथवा किं किं न सद्यो भुवि।। (24)

समभावयुक्त योगीश्वरों के प्रभाव से ग्रह यक्ष किन्नर मनुष्य ये क्षोभ को प्राप्त होते हैं और नाकेश्वर अर्थात् इन्द्रगण हर्षित होते हैं तथा हाथी दैत्य सिंह अष्टापद सर्प इत्यादि क्रूर प्राणी अपनी क्रूरता को छोड़ देते हैं और यह जगत् रोग वैर प्रतिबन्ध विभ्रम भयादिक से रहित हो जाता है। इस पृथ्वी में ऐसा कौनसा कार्य है, जो

योगीश्वरों के समभावों से साध्य न हो अर्थात् समभावों से सर्व मनोवांछित सधते हैं।

चन्द्रः सान्द्रैर्विकिरति सुधामंशुभिर्जीवलोके
भास्वानुग्रैः किरणपटलैरुच्छिनत्त्यन्धकारम्।
धात्री धत्ते भुवनमखिलं विश्वमेतच्च वायु-
र्यद्वत्साम्याच्छमयति तथा जन्तुजातं यतीन्द्रः।। (25)

जिस प्रकार चन्द्रमा जगत् में किरणों से सघन झरता हुआ अमृत वर्षाता है और सूर्य तीव्र किरणों के समूह से अन्धकार का नाश करता है तथा पृथ्वी समस्त भुवनों को धारण करती है, तथा पवन है सो इस समस्त लोक को धारण करता है, उसी प्रकार मुनीश्वर यति भी साम्यभावों से जीवों के समूह को शान्तभावरूप करते हैं।

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्।। (26)

क्षीण हो गया है मोह जिसका और शान्त हो गया है कलुष कषायरूप मैल जिसका ऐसे समभावों में आरूढ़ हुए योगीश्वरों को आश्रय करके हरिणी तो सिंह के बालक को अपने पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती वा प्यार करती है और गौ है सो व्याघ्र के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से प्यार करती है; मार्जारी हंसके बच्चे को स्नेह की दृष्टि से वशीभूत हो स्पर्शती है तथा मयूरनी सर्प के बच्चे को प्यार करती है; इसी प्रकार अन्य प्राणी भी जन्म से जो वैर है उसको मदरहित हो छोड़ देते हैं। यह साम्यभाव का ही प्रभाव है।

एकः पूजां रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः
क्रुद्ध कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम्।। (27)

जिस मुनि की ऐसी वृत्ति हो कि कोई तो नम्रीभूत होकर पारिजात के पुष्पों से पूजा करता है और कोई मनुष्य क्रुद्ध होकर मारने की इच्छा से गले में सर्प की माला

पहनाता है, इन दोनों में ही जिसकी सदा रागद्वेषरहित समभाव वृत्ति हो, वही योगीश्वर समभावरूपी आराम (क्रीडावन) में प्रवेश करता है, और ऐसे समभावरूप क्रीडावन में ही केवलज्ञान के प्रकाश होने से अवकाश है।

नोऽरण्यान्नगरं न मित्रमहिताल्लोष्टान्न जाम्बूनदं
न स्रग्दाम भुजङ्गमात्र दृषदस्तल्पं शशाङ्कोज्ज्वलम्।
यस्यान्तःकरणे बिभर्ति कलया नोत्कृष्टतामीषद-
प्यार्यास्तं परमोपशान्तपदवीमारूढमाचक्षते।। (28)

जिस मुनि के मन में वन से नगर, शत्रु से मित्र, लोष्ट से कांचन (सुवर्ण), रस्सी व सर्प से पुष्पमाला, पाषाणशिला से चन्द्रमासमान उज्ज्वल शय्या, इत्यादि पदार्थ अन्तःकरण की कल्पना से किंचिन्मात्र भी उत्कृष्ट नहीं दिखते उस मुनि को आर्य सत्पुरुष परम उपशान्तरूप पदवी को प्राप्त हुआ कहते हैं। **भावार्थ**-वनादिक से नगरादिक में कुछ भी उत्तमता न मानें वही मुनि रागद्वेषरहित साम्यभावयुक्त है।

सौधोत्सङ्गे स्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुंकुमे वा।
पल्यङ्के कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु।
शीर्णाङ्गे दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासं।। (29)

जिस मुनि का चित्त महलों के शिखर में और स्मशान में तथा स्तुति और निन्दा के विधान में, कीचड और केशर में, पल्यंक-शय्या और कांटों के अग्रभाग में, पाषाण और चन्द्रकान्त मणि में, चर्म और चीनदेशीय रेशम के वस्त्रों में, और क्षीणशरीर व सुन्दर स्त्री में अतुल्य शान्तभाव के प्रभाव से विकल्पों से स्पर्शित न हो, वही एक प्रवीणमुनि समभाव की लीला के विलास का अनुभव करता है; अर्थात् वास्तविक समभाव ऐसे मुनि के ही जानना।

चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवयोगतः।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनेः साम्यप्रतिष्ठितम्।। (30)

अर्थ-यह प्रत्यक्ष अचल पर्वतों की श्रेणी कदाचित् चलायमान भी हो जाय तो आश्चर्य नहीं; किन्तु साम्यभाव में प्रतिष्ठित मुनि का चित्त उपसर्गों से कदापि नहीं चलता, ऐसा लीन हो जाता है।

उन्मत्तमथ विभ्रान्तं दिग्मूढं सुप्तमेव वा।
साम्यस्थस्य जगत्सर्वं योगिनः प्रतिभासते।। (31)

साम्यभाव में स्थित मुनि को यह जगत् ऐसा भासता है कि मानों यह जगत् उन्मत्त है वा विभ्रमरूप है अथवा दिशा भूला हुआ अथवा सोता है।

तीर्थंकर तक ज्ञानदान क्यों करते!?

(ग्रन्थ रचना-प्रकाशन-प्रचार-प्रसार सहयोग आदि महान् ज्ञानदान)

(ध्यान-अध्ययन मुख्य मुनिधर्म-दानपूजा श्रावक धर्म)

(चालः 1.छिप गया कोई रे... 2.यमुना किनारे...)

ज्ञानदान महान् है तीर्थंकर करते, केवली गणधर सूरीपाठक करते।
गौण रूप से साधु श्रावक सुदृष्टि करते, लेखन प्रकाशनादि से गृहस्थ करते।
यह है प्रवचन, धर्मोपदेश, स्वाध्याय, देवशास्त्र गुरु भक्ति व परम तप।
आहार औषधि वसतिका में गृहस्थ मुख्य, ज्ञानदान में तीर्थंकरादि प्रमुख।। (1)
अन्यथा न होता प्रथमोपशम सम्यक्त्व, इस से अन्य सम्यक्त्व होते क्रमशः।
ऐसा ही सर्व जीव बनते सुदृष्टि, तीर्थंकर भी ऐसा ही बनते सुदृष्टि।।
सम्यक्त्व ही होता ज्ञान भी सम्यक्, जिस से चारित्र भी होता सम्यक्।
जिससे होता मोक्षमार्ग भी प्रारंभ, तीनों की पूर्णता से मिलता मोक्ष।। (2)
इसलिए ज्ञानदान सर्वोत्तम दान, निरवद्यदान अतः करते तीर्थंकर।
केवली गणधर आचार्य पाठक, आहार वसतिका दानादि न करते विशेष।।
तो भी ज्ञानदानी होते दानी महान्, किमिच्छकदानी चक्री से भी महान्।
चक्री भी नमन करते ज्ञानदानी को, चक्रवर्ती भी बनते अन्त में श्रमण।। (3)
ज्ञानदानी ही होते परमगुरु, अन्यदानी न होते परमगुरु।
गुरु से महान् कोई नहीं होते, आत्मा से परमात्मा गुरु से बनते।।
तीर्थंकरो का विहार ज्ञानदान हेतु होता, श्रमणों का विहार ज्ञानदान हेतु होता।
सिंह हेतु गये चारण ऋद्धिधारी मुनि, नरक भी जाते कुछ देव उपकारी।। (4)
ध्यान अध्ययन रत गुरु रहते; उनकी सेवा-व्यवस्था गृहस्थ करते।
ग्रन्थ रचना ज्ञानी गुरु करते, ग्रन्थ प्रकाशन गृहस्थदानी करते।।

ऐसे ज्ञानदानी भी महान् दानी होते, निबद्धज्ञान/(लिपिबद्ध) को सुरक्षित करते।
उस से ज्ञान का प्रचार-प्रसार होता, ग्रन्थकार के परे भी होता।। (5)
उनके प्रत्यक्ष-परोक्ष में भी होता, परम्परा से भी आगे होता रहता।
दिव्यध्वनि का यह निबद्धरूप, केवलज्ञान का यह परोक्ष रूप।।
अतएव ग्रन्थरचना व प्रकाशन, सहयोग व प्रचार-प्रसार।
जिनवाणी व जिनेन्द्र का सम्मान, पूजा आराधना से प्रचार-प्रसार।। (6)
देव के अनन्तर शास्त्र महान्, इस के अनन्तर गुरु महान्।
गणधर तक जिनवाणी आराधक, आचार्य उपाध्याय साधु श्रावक।।
जिनवाणी से भव्य बने भगवान्, जिनवाणी बिन न ज्ञान ध्यान।
इस के बिना न परिनिर्वाण, जिनवाणी आराधक ''कनक श्रमण''।। (7)
जो जिनवाणी श्रद्धा से करते श्रवण, वह निकट भव्य बने भगवान्।
जिनवाणी बिन मोक्षमार्ग न प्रारंभ, मोक्षमार्ग बिन न मोक्ष संभव।।
अतएव गणधर से परम्पराचार्य, श्रुतरचना करते छपाते श्रावक।
भौतिक निर्माण न करते श्रमण, गृहस्थ करते मन्दिर मूर्ति निर्माण।। (8)
ग्वाला बना ज्ञानदान से कुन्दकुन्द, ज्ञानदान से गणधर सर्वज्ञ।
अतः ग्रन्थरचना व प्रकाशन, करो कराओ और अनुमोदन।।

ग.पु.कॉ. दि-27/8/2020 रात्रि 9.09

(यह कविता राजेश जीतमल जैन के कारण बनी।)

संदर्भ-

देवाधिदेव भगवान् आश्चर्यकारी विभूति के साथ जब समवशरण सभा में विराजमान थे तब भक्ति से भरे हुए महाराज भरत ने हर्ष के साथ आकर उन्हें नमस्कार किया। महाराज भरत ने मनुष्य और देवों से पूजित उन जिनेन्द्रदेव की अर्थ से भरे हुए अनेक स्तोत्रों-द्वारा पूजा की और फिर वे विनय से नत होकर अपने योग्य स्थान पर बैठ गये। देदीप्यमान देवों से भरी हुई वह सभा भगवान् से धर्म रूपी अमृत का पान कर उस तरह संतुष्ट हुई थी जिस तरह सूर्य के तेज किरणों का पान कर कमलिनी संतुष्ट होती है। इसके अनन्तर मूर्तिमान् विनय की तरह महाराज भरत हाथ जोड़ सभी के बीच खड़े होकर यह वचन कहने लगे। प्रार्थना करते समय

महाराज भरत के दाँतों की किरणरूपी केशर से शोभायमान मुख से जो मनोहर वाणी निकल रही थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो उसके मुख से प्रसन्न हुई उज्ज्वलवर्णधारिणी सरस्वती ही निकल रही हो। हे देव, देव और धरणेन्द्रों से भरी हुई यह सभा आपके निमित्त से प्रबोध-प्रकृष्ट ज्ञान को (पक्ष में विकास को) पाकर कमलिनी के समान शोभायमान हो रही है क्योंकि सब के मुख कमल के समान अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहे हैं। हे भगवन्, आपके यह दिव्य वचन अज्ञानान्धकाररूप प्रलय में नष्ट हुए जगत् की पुनरुत्पत्ति के लिए सींचे गये अमृत के समान ज्ञात होते हैं। हे देव, यदि अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाले आपके वचनरूप किरण प्रकट नहीं होते तो निश्चय से यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी सघन अन्धकार में पड़ा रहता। हे देव, आप के दर्शन मात्र से ही मैं कृतार्थ हो गया हूँ, यह ठीक ही है महानिधि को पाकर कौन कृतार्थ नहीं होता? आपके वचन सुनकर तो मैं और भी अधिक कृतार्थ हो गया क्योंकि जब लोग अमृत को देखकर ही कृतार्थ हो जाते हैं तब उसका स्वाद लेनेवाला क्या कृतार्थ नहीं होगा? अर्थात् अवश्य ही होगा। हे नाथ, वन में मेघ का वरसना सब को इष्ट है यह कहावत जो सुनी जाती थी जो आज यहाँ आप के द्वारा धर्मरूपी जल की वर्षा देखकर मुझे प्रत्यक्ष हो गयी। **भावार्थ**-जिस प्रकार वन में पानी की वर्षा सब को अच्छी लगती है उसी प्रकार इस कैलास के कानन में आपके द्वारा होनेवाली धर्मरूपी जल की वर्षा सबको अच्छी लग रही है। हे भगवन्, उपदेश देते हुए आपने किस पदार्थ को छोड़ा है? अर्थात् किसी को भी नहीं। क्या सघन अन्धकार को नष्ट करनेवाला सूर्य किसी पदार्थ को प्रकाशित करने से बाकी छोड़ देता है? अर्थात् नहीं। हे भगवन्, आपके द्वारा दिखलाये हुए तत्त्वों में सत्पुरुषों की बुद्धि कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होती। क्या महापुरुषों के द्वारा दिखाये हुए विशाल मार्ग में नेत्रवाला पुरुष कभी गिरता? अर्थात् नहीं गिरता।

त्वद्वचोविस्तरे कृत्स्नं वस्तुविम्बं मयेक्षितम्।
त्रैलोक्यश्रीमुखालोकमङ्गलाब्दतलायिते।। (165)
तथापि किमपि प्रष्टुमिच्छा मे हृदि वर्त्तते।
भवद्वचोमृताभीक्ष्ण पिपासा तत्र कारणम्।। (166)

हे स्वामिन?, तीनों लोकों की लक्ष्मी के मुख देखने के लिए मंगल दर्पण के समान आचरण करनेवाले आपके इन वचनों के विस्तार में प्रतिबिम्बित हुई संसार की समस्त वस्तुओं को यद्यपि मैं देख रहा हूँ तथापि मेरे हृदय में कुछ पूछने की इच्छा का कारण आपके वचनरूपी अमृत के निरन्तर पान करते रहने की लालसा ही समझनी चाहिए।

गणेशमथवोल्लङ्घ्य त्वां प्रष्टुं क इवाहकम्।
भक्तो न गणयामीदमतिभक्तिश्च नेष्यते।। (167)

हे देव, यद्यपि लोग कह सकते हैं कि गणधर को छोड़कर साक्षात् आप से पूछनेवाला यह कौन है? तथापि मैं इस बात को कुछ नहीं समझता, आप की सातिशय भक्ति ही मुझे आप से पूछने के लिए प्रेरित कर रही है।

किंविशेषैषितैषा मे किमनीषल्लभादरः।
श्रद्धोत्कर्षीच्चिकीर्षा नु मुखरीकुरुतेऽद्य माम्।। (168)

हे भगवन्, पदार्थ का विशेष स्वरूप जानने की इच्छा, अधिक लाभ की भावना, श्रद्धा की अधिकता अथवा कुछ करने की इच्छा ही मुझे आपके सामने वाचाल कर रही है। हे भगवन्, मैं तीर्थंकर आदि महापुरुषों के उस पुण्य को सुनना चाहता हूँ जिसमें सर्वज्ञप्रणीत समस्त धर्मों का संग्रह किया गया हो। हे देव, मुझ पर प्रसन्न होइए, दया कीजिए और कहिए कि आप के समान कितने सर्वज्ञ-तीर्थंकर होंगे? मेरे समान कितने चक्रवर्ती होंगे? कितने नारायण, कितने बलभद्र और कितने उनके शत्रु-प्रतिनारायण होंगे? उनका अतीत चरित्र कैसा था? वर्तमान में और भविष्यत् में कैसा होगा? हे वक्तृश्रेष्ठ, यह सब मैं आपसे सुनना चाहता हूँ। हे सबका हित करनेवाले जिनेन्द्र, यह भी कहिए कि वे सब किन-किन नामों के धारक होंगे? किस-किस गोत्र में उत्पन्न होंगे? उनके सहोदर कौन-कौन होंगे? उनके क्या-क्या लक्षण होंगे? वे किस आकार के धारक होंगे? उनके क्या-क्या आभूषण होंगे? उनके क्या-क्या अस्त्र होंगे? उनकी आयु और शरीर का प्रमाण क्या होगा? एक-दूसरे में कितना अन्तर होगा? किस युग में कितने युगों के अंश होते हैं? एक युग से दूसरे युग में कितना अन्तर होगा? युगों का परिवर्तन कितनी बार होता है? युग के कौन-से भाग में मनु-कुलकर उत्पन्न होते हैं? वे क्या जानते हैं? एक मनु से दूसरे मनु के

उत्पन्न होने-तक कितना अन्तराल होता है? हे देव, यह सब जानने का मुझे कौतूहल उत्पन्न हुआ है सो यथार्थ रीति से मुझे इन सब तत्त्वों का स्वरूप कहिए। इसके सिवाय लोक का स्वरूप, काल का अवतरण, वंशों की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, क्षत्रिय आदि वर्णों की उत्पत्ति भी मैं आपके श्रीमुख से जानना चाहता हूँ।

अनादिवासनोद्भूतमिथ्याज्ञानसमुत्थितम्।
नुद मे संशयध्वान्तं जिनार्कवचनांशुभिः।। (177)

हे जिनेन्द्रसूर्य, अनादिकाल की वासना से उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञान से सातिशय बढ़े हुए मेरे इस संशयरूपी अन्धकार को आप अपने वचनरूप किरणों के द्वारा शीघ्र ही नष्ट कीजिए।

इति प्रश्नमुपन्यस्य भरतः शातमातुरः।
विरराम यथास्थानमासीनश्च कथोत्सुकः।। (178)
लब्धावसरमिद्धार्थं सुसंबद्धमनुद्धतम्।
अभ्यनन्दत् सभा कृत्स्ना प्रश्नमस्येशितुर्विशाम्।। (179)

इस प्रकार प्रश्न कर महाराज भरत चुप हो गये और कथा सुनने में उत्सुक होते हुए अपने योग्य आसन पर बैठे गये तब समस्त सभा ने भरत महाराज के इस प्रश्न की सातिशय प्रशंसा की जो कि समय के अनुसार किया गया था, प्रकाशमान अर्थों से भरा हुआ था, पूर्वापर सम्बन्ध से सहित था तथा उद्धतपने से रहित था।

तत्क्षणं सत्कथाप्रश्नात्तदर्पितेदृशः सुराः।
पुष्पवृष्टिभिवातेनुः प्रतीता भरतं प्रति।। (180)

उस समय उनके इस प्रश्न को सुनकर सब देवता लोग महाराज भरत की ओर आँख उठाकर देखने लगे जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो वे उन पर पुष्पवृष्टि ही कर रहे हैं।

साधु सो भरताधीश प्रतीक्ष्योऽसि त्वमद्य नः।
प्रशशंसुरितीन्द्रास्तं प्रश्रयात् को न शस्यते।। (181)

हे भरतेश्वर, आप धन्य हैं, आज आप हमारे भी पूज्य हुए हैं। इस प्रकार इन्द्रों ने उनकी प्रशंसा की थी सो ठीक ही है, विनय से किसकी प्रशंसा नहीं होती? अर्थात् सभी की होती है।

प्रश्नाद्विनैव तद्भावं जानन्नपि स सर्ववित्।
तत्प्रश्नान्तमुदैक्षिष्ट प्रतिपन्ननुरोधतः।। (182)

संसार के सब पदार्थों को एक साथ जाननेवाले भगवान् वृषभनाथ यद्यपि प्रश्न के बिना ही भरत महाराज के अभिप्राय को जान गये थे तथापि वे श्रोताओं के अनुरोध से प्रश्न के पूर्ण होने की प्रतीक्षा करते रहे।

इस प्रकार महाराज भरत के द्वारा प्रार्थना किये गये आदिनाथ भगवान् सातिशय गम्भीर वाणी से पुराण का अर्थ कहने लगे। उस समय भगवान् के मुख से जो वाणी निकल रही थी वह वह बड़ा ही आश्चर्य करनेवाली थी क्योंकि उसके निकलते समय न तो तालु, कण्ठ, ओठ, आदि अवयव ही हिलते थे और न दाँतों की किरण ही प्रकट हो रही थी। अथवा सचमुच में भगवान् का मुखकमल ही इस सरस्वती का उत्पत्तिस्थान था उसने वहाँ उत्पन्न होकर ही जगत् को वश में किया। भगवान् के मुख से जो दिव्य ध्वनि प्रकट हो रही थी वह बोलने की इच्छा के बिना ही प्रकट हो रही थी सो ठीक है क्योंकि जगत् का उद्धार चाहनेवाले महापुरुषों की चेष्टाएँ आश्चर्य करने वाली ही होती हैं। जिस प्रकार नहरों के जल का प्रवाह एकरूप होने पर भी अनेक प्रकार के वृक्षों को पाकर अनेकरूप हो जाता है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की वाणी एकरूप होने पर भी पृथक्-पृथक् श्रोताओं को प्राप्तकर अनेकरूप हो जाती है।

भावार्थ-भगवान् की दिव्य ध्वनि उद्गम स्थान से एकरूप ही प्रकट होती है परन्तु उसमें सर्वभाषारूप परिणमन होने का अतिशय होता है जिससे सब श्रोता लोग उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं। वे जगद्गुरु भगवान् स्वयं कृतकृत्य होकर भी धर्मोपदेश के द्वारा दूसरों के हित के लिए उद्योग करते थे। इससे निश्चय होता है कि महापुरुषों की चेष्टाएँ स्वभाव से ही परोपकार के लिए होती हैं। उनके मुख से प्रकट हुई दिव्यवाणी ने उस विशाल सभा को अमृत की धारा के समान सन्तुष्ट किया था क्योंकि अमृतधारा के समान ही उनकी वाणी भव्य जीवों का सन्ताप दूर करनेवाली थी, जन्म-मरण के दुःख से छुड़ानेवाली थी। महाराज भरत ने जो कुछ पूछा था उस सबको भगवान् वृषभदेव बिना किसी कष्ट के क्रमपूर्वक कहने लगे। जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव ने सबसे पहले उत्सर्पिणीकाल सम्बन्धी तिरेसठ शलाकापुरुषों का चरित्र निरूपण करनेवाले अत्यन्त गम्भीर पुराण का निरूपण

किया, फिर अवसर्पिणीकाल का आश्रय कर तत्सम्बन्धी तिरेसठ शलाकापुरुषों की कथा कहने की इच्छा से पीठिकासहित उनके पुराण का वर्णन किया। भगवान् वृषभनाथ ने तृतीय काल के अन्त में जो पूर्वकालीन इतिहास कहा था, वृषभसेन गणधर ने उसे अर्थरूप से अध्ययन किया। तदनन्तर गणधरों में प्रधान वृषभसेन गणधर ने भगवान् की वाणी को अर्थरूप से हृदय में धारण कर जगत् के हित के लिए उसकी पुराणरूप से रचना की। वही पुराण अजितनाथ आदि शेष तीर्थंकरों, गणधरों तथा बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा प्रकाशित किया गया।

तदनन्तर चतुर्थ काल के अन्त में एक समय सिद्धार्थ राजा के पुत्र सर्वज्ञ महावीर स्वामी विहार करते हुए राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर आकर विराजमान हुए। इसके बाद ज्ञात होने पर राजगृही के अधिपति विनयवान् श्रेणिक महाराज ने जाकर उन अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर से उस पुराण को पूछा। महाराज श्रेणिक के प्रति महावीर स्वामी के अनुग्रह का विचार कर गौतम गणधर ने उस समस्त पुराण का वर्णन किया। गौतम स्वामी चिरकाल तक उसका स्मरण-चिन्तवन करते रहे, बाद में उन्होंने उसे सुधर्माचार्य से कहा और सुधर्माचार्य ने जम्बू स्वामी से कहा। उसी समय से लेकर आज तक यह पुराण बीच में नष्ट नहीं होनेवाली गुरुपरम्परा के क्रम से चला आ रहा है। इसी पुराण का मैं भी इस समय शक्ति के अनुसार प्रकाश करूँगा। इस कथन से सिद्ध होता है कि इस पुराण के मूलकर्ता अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं और निकटक्रम की अपेक्षा उत्तर ग्रन्थकर्त्ता गौतम गणधर हैं।

महाराज श्रेणिक के प्रश्न को उद्देश्य करके गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया था उसी का अनुसंधान-विचार कर मैं इस पुराण ग्रन्थ की रचना करता हूँ। यह प्रतिमुख नाम का प्रकरण कथा के सम्बन्ध को सूचित करनेवाला है तथा कथा की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उपयोगी है अतः मैंने यहाँ उसका वर्णन किया है। यह पुराण ऋषियों के द्वारा कहा गया है इसलिए निश्चय से प्रमाणभूत है। अतएव आत्मकल्याण चाहनेवालों को इसका श्रद्धान, अध्ययन और ध्यान करना चाहिए। यह पुराण पुण्य बढ़ानेवाला है, पवित्र है, उत्तम मङ्गलरूप है, आयु बढ़ानेवाला है, श्रेष्ठ है, यश बढ़ानेवाला है और स्वर्ग प्रदान करने वाला है।

इस काल में जिनके वचन मोक्षमार्ग के उपदेशरूप प्रवर्ते हैं, ऐसे भगवान् से वांछित लक्ष्मी की प्रार्थना करना युक्त है।

श्रुतस्कन्धनभश्चन्द्रं संयमश्रीविशेषकम्।

इन्द्रभूतिं नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये।।(6) ज्ञाना.

अर्थ : आचार्य कहते हैं कि, योगियों में इन्द्र के समान इन्द्रभूति कहिये श्री गौतम गणधर भगवान् को ध्यान की सिद्धि के अर्थ नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं इन्द्रभूति? श्रुतस्कन्ध कहिये द्वादशांगरूप शास्त्र, सो ही हुआ आकाश, उसमें प्रकाश करने के अर्थ चन्द्रमा के समान है। फिर कैसे है? संयमरूपी लक्ष्मी को विशेष करने वाले हैं। **भावार्थ**- श्री गौतम गणधर ने श्रीवर्द्धमानस्वामी की दिव्यध्वनि सुनकर द्वादशांगरूप शास्त्र की रचना की, आप संयम पाल, ध्यान कर और केवल लक्ष्मी को प्राप्त करके मोक्ष को पधारे। पश्चात् उनसे ध्यान का मार्ग प्रवर्त्ता। इस कारण उनको इस ध्यान के (योग के) ग्रंथ के आदि में नमस्कार करना युक्त समझकर नमस्कार किया हैं।

सर्वज्ञ के स्याद्वादरूप शासन को आशीर्वादरूप वचन-

प्रशान्तमतिगम्भीरं विश्वविद्याकुलगृहम्।

भव्यैकशरणं जीयाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम्।।(7) ज्ञानार्णव

श्रीमत् कहिये निर्बाध लक्ष्मीसहित जो सर्वज्ञ का शासन (आज्ञामत) है, सो जयवन्त प्रवर्त्तो। कैसा है सर्वज्ञ शासन? व्याकरण, न्याय, छन्द, अलंकार, साहित्य, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, निमित्त और मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति आदि विद्याओं के वसने का कुलगृह है; तथा भव्य जीवों को एकमात्र अद्वितीय शरण है। प्रशान्त है, तथा समस्त आकुलता और क्षोभ का मिटाने वाला है, अतएव अति गम्भीर है, मन्दबुद्धि प्राणी इसकी थाह नहीं पा सकते।

भावार्थ-सर्वज्ञ का मत समस्त जीवों का हित करने वाला है, सो जयवन्त प्रवर्त्तो ऐसा आचार्य महाराज ने अनुराग सहित आशीर्वाद दिया है।

सत्पुरुषों की वाणी जीवों के उपकारार्थ ही प्रवर्तती है-

प्रबोधायं विवेकाय हिताय प्रशमाय च।

सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्त्तते।।(8)

सत्पुरुषों की उत्तम वाणी जो है, सो जीवों के प्रकृष्ट ज्ञान, विवेक, हित, प्रशमता और सम्यक् प्रकार से तत्त्व के उपदेश देने के अर्थ प्रवर्तती है।

भावार्थ : यहाँ प्रकृष्टज्ञान का अभिप्राय पदार्थों का विशेषरूप ज्ञान होता है, और विवेक कहने से आपापर के भेद जानने का अभिप्राय लेना चाहिये, क्योंकि पदार्थों के ज्ञान बिना आपापर का भेदज्ञान कैसे हो? एवं पदार्थों का ज्ञान आपापर के ज्ञान बिना निष्फल है। तथा हित शब्द का अभिप्राय सुख का कारण समझना, क्योंकि भेदविज्ञान भी हो, उसमें सुख नहीं उपजै तो भेदज्ञान कैसा? तथा प्रशम कहने का अभिप्राय कषायों का मंद होना है, सो जिस वाणी से कषाय मंद (उपशम भावरूप) न हो, वह वाणी दुःख का कारण होती है, उसे ग्रहण करना योग्य नहीं है। तथा सम्यक्तत्त्वोपदेश का अर्थ यथार्थ तत्त्वार्थ के उपदेश का जानना है। जिसमें मिथ्या तत्त्वार्थ का उपदेश हो, यह वाणी सत्पुरुषों की नहीं है। इस प्रकार पाँच प्रयोजनों की सिद्धि के अर्थ सत्पुरुषों की वाणी होती है। यहाँ यह आशय भी ज्ञात होता है कि, हम जो यह शास्त्र रचते हैं तो सर्वज्ञ की परम्परा से जो उपदेश चला आता है, वह ही समस्त जीवों का हित करने वाला है, उसी के अनुसार हम भी कहते हैं। सो इसमें भी उक्त पाँच प्रयोजनों का विचार लेना, और जो इन पाँच प्रयोजनों के अतिरिक्त वचन हों सो सत्पुरुषों के वचन न जानने।

तच्छ्रुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तत्परं तपः।
अयमात्मा यदासाद्य स्वस्वरूपे लयं व्रजेत्।।(9)

अर्थ-वही शास्त्र का सुनना है, वही चतुराईरूप भेद विज्ञान है, वही ध्यान वा तप है, जिसको प्राप्त होकर यह आत्मा अपने स्वरूप में लवलीन होता है।

भावार्थ : आत्मा का परमार्थ (हित) अपने स्वरूप में लीन होना है, सो जो शीघ्र पढ़ना, सुनना, भेदज्ञान करना, ध्यान करना, महान् तप करना तथा स्वरूप में लीन होने का कारण होता है, वही तो सफल है, अन्य सब निष्फल खेद मात्र है।

दुरन्तदुरिताक्रान्तं निःसारमतिवञ्चकम्।
जन्म विज्ञाय कः स्वार्थे मुह्यत्यङ्गी सचेतनः।।(10)

जन्म अर्थात् संसार के स्वरूप को जानकर ज्ञान सहित प्राणी ऐसा कौन है, जो अपने हितरूप प्रयोजन में मोह को प्राप्त हो? अर्थात् कोई नहीं। कैसा है जन्म?

दुःखकर है अंत जिसका ऐसा, तथा दुरित से (पाप से) व्याप्त है, ठग है, क्योंकि ठग के समान किंचित्सुख का लालच बताकर सर्वस्व हर लेता है, और निगोद का वास कराता है। इस प्रकार संसार का स्वरूप ज्ञानकर ज्ञानी पुरुष को अपना हित भूलना उचित नहीं है, ऐसी उपदेश की सूचना दी गई है।

आचार्य ग्रन्थ रचने की प्रतिज्ञा

अविद्याप्रसरोद्भूतग्रहनिग्रहकोविदम्।
ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम्।।(11)

आचार्य कहते हैं, कि मैं इस ज्ञानार्णव नाम के ग्रंथ को कहूँगा। कैसा होगा यह ग्रंथ? अविद्या के प्रसार से (फैलाव से) उत्पन्न हुए आग्रह (हठ) तथा पिशाच को निग्रह करने में प्रवीण, तथा सत्पुरुषों के लिये आनन्द का मंदिर।

भावार्थ : यहाँ अविद्या शब्द से मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न अज्ञान का ग्रहण करना चाहिए। उस अज्ञान का प्रसार अनादिकाल से जीवों के हृदय में व्याप्त होने के कारण उत्पन्न हुआ जो एकान्तरूप हठ उसको यह ज्ञानार्णव नामक शास्त्र इसका अज्ञान निराकरण करने वाला है। और यही सत्पुरुषों को आनन्दित करने वाला है, क्योंकि सर्वथा एकान्त पक्ष है सो वस्तु का स्वरूप नहीं है, और अवस्तु में ध्याता ध्यान ध्येय फल काहे का? शास्त्रों में मिथ्यात्व दो प्रकार कहा गया है, एक अगृहीत, दूसरा गृहीत। इनमें से अगृहीत मिथ्यात्व तो जीवों के बिना उपदेश ही अनादिकाल से विद्यमान है, सो इसमें एकान्तपक्ष संसार देह भोगों को ही अपना हित समझ लेना है। इस प्रकार समझ लेने से जीवों के आर्त रौद्रध्यान स्वयमेव प्रवर्तते हैं। और गृहीत मिथ्यात्व है सो उपदेशजन्य है, उसके कारण यह जीव वस्तु का स्वरूप सर्वथा सत् अथवा असत्, सर्वथा नित्य अथवा अनित्य तथा सर्वथा एक तथा अनेक, सर्वथा शुद्ध तथा अशुद्ध इत्यादि भिन्न धर्मियों का कहा हुआ सुनकर उसी पक्ष को दृढ़ कर उसी को मोक्षमार्ग समझ लेता है, वा श्रद्धान कर लेता है, सो उस श्रद्धान से कुछ भी कल्याण की सिद्धि नहीं है। इस कारण उस एकांत हठ का निराकरण जब स्याद्वाद की कथनी सुने, तब ही सर्वथा हो। वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाने और श्रद्धान करे, तब ही ध्याता ध्यान ध्येय फल की संभवता वा असंभवता का निश्चय हो। इसी अभिप्राय से आचार्य महाराज ने यह ज्ञानार्णव शास्त्र रचा है इसी से समस्त संभवासंभव जाना जायेगा, ऐसा आशय व्यक्त होता है।

आचार्य ज्ञानार्णव की महिमा तथा अपनी लघुता प्रकट करते हैं-

अपि तीर्येत बाहुभ्यामपारो मकरालयः।

न पुनः शक्यते वक्तुं मद्धिधैर्यागिरञ्जकम्।। (12)

आचार्य देव कहते हैं कि, मकरालय कहिये समुद्र अपार है, तो भी अनेक समर्थ पुरुष उसे भुजाओं से तैर सकते हैं, परंतु यह ज्ञानार्णव योगियों को रंजायमान करनेवाला अथाह है, सो हम जैसों से नहीं तैरा जा सकता।

भावार्थ-यह ज्ञानार्णव अपार है अतः हम जैसे इसका पार कैसे पावें?

महामतिभिर्निःशेषसिद्धान्तपथपारगैः।

क्रियते यत्र दिग्मोहस्तत्र कोऽन्यः प्रसर्पति।। (13)

जहां बड़ी बुद्धिवाले समस्त सिद्धान्त मार्ग के पार करनेवाले भी दिशा भूल जाते हैं, वहाँ अन्य जन किस प्रकार पार पा सकते हैं? **भावार्थ**-यह ज्ञानार्णव अथाह है इसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान भी चकरा जाते हैं, फिर अन्य का तो कहना ही क्या?

पूर्व के महाकवियों की महिमा और अपनी लघुता

समन्तभद्रादिकवीन्द्र भास्तवां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।

व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः।। (14)

जहाँ समन्तभद्रादिक कवीन्द्ररूपी सूर्यों की निर्मल वचनरूपी किरणें फैलती हैं, वहाँ ज्ञानलव से उद्धत पटबीज के (जुगनू के) समान मनुष्य क्या हास्यता को प्राप्त नहीं होंगे? अवश्य ही होंगे।

भावार्थ-सूर्य के सामने खद्योत कीट का प्रकाश क्या प्रकाश कर सकता है?

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।

कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते।। (15)

जिनके वचन जीवों के काय वचन मन से उत्पन्न होनेवाले मलों को नष्ट करते हैं, ऐसे देवनन्दीनामक मुनीश्वरों को (पूज्यपादस्वामी को) हम नमस्कार करते हैं।

जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्रैविद्यवन्दिताः।

योगिभिर्यत्समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये।। (16)

जिनसेन आचार्य भगवन्त के वचन है, सो जयवन्त हैं। क्योंकि योगीश्वर उनके वचनों को प्राप्त होकर आत्मा के निश्चय में स्खलित नहीं होते, अर्थात् यथार्थ निश्चय कर लेते हैं। तथा उनके वचन न्याय, व्याकरण और सिद्धान्त इन तीन विद्याओं के ज्ञातापुरुषों के द्वारा वन्दनीय हैं।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।

अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया।। (17)

श्रीमत् कहिये शोभायमान निर्दोष भट्टाकलंक नामा आचार्य की पवित्र वाणी है, सो हम को पवित्र करो और हमारी रक्षा करो। कैसी है वाणी? अनेकान्त स्याद्वादरूपी आकाश में चन्द्रमा की रेखा समान आचरण करती है।

भावार्थ-भट्टाकलंक नामक आचार्य स्याद्वाद विद्या के अधिकारी हुए, उनकी वाणीरूपी चन्द्रमा की किरणें स्याद्वादरूपी आकाश में प्रकाश करती हैं।

आचार्य अपनी कृति का प्रयोजन प्रकट करते हैं-

भवप्रभवदुर्वारक्लेशसन्तापपीडितम्।

योजयाम्यहमात्मानं पथि योगीन्द्रसेविते।। (18)

आचार्य महाराज कहते हैं कि, इस ग्रंथ के रचने से संसार में जन्म ग्रहण करने से उत्पन्न हुए दुर्निवार क्लेशों के संताप से पीड़ित मैं अपने आत्मा को योगीश्वरों से सेवित ज्ञानध्यानरूपी मार्ग में जोड़ता हूँ।

भावार्थ-यहाँ अपना प्रयोजन संसार के दुःख दूर करने का ही जनाया है।

न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया।

कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम्।। (19)

यह ग्रंथरूपी मेरी कृति (कार्य) है, सो केवल मात्र अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये है। कविता के अभिमान से तथा जगत् में कीर्ति होने के अभिप्राय से नहीं की जाती है।

भावार्थ-यहाँ आचार्य देव ने ग्रन्थ रचने में लौकिक प्रयोजन साधने का निषेध किया है।

सत्पुरुषों के शास्त्र रचने का विचार किस प्रकार से होता है-

अयं जागर्ति मोक्षाय वेत्ति विद्यां भ्रमं त्यजेत्।

आदत्ते शमसाम्राज्यं स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः।।(20)

न हि केनाप्युपायेन जन्मजातङ्कसंभवा।
विषयेषु महातृष्णा पश्य पुंसां प्रशाम्यति।। (21)
तस्याः प्रशान्तये पूज्यैः प्रतीकारः प्रदर्शितः।
जगञ्जन्तूपकाराय तस्मिन्नस्यावधीरणा।। (22)
अनुद्विग्नैस्तथाप्यस्य स्वरूपं बन्धमोक्षयोः।
कीर्त्यते येन निर्वेदपदवीमधिरोहति।। (23)
निरूप्य सच्च कोऽप्युच्चैरुपदेशोऽस्य दीयते।
येनादत्ते परां शुद्धिं तथा त्यजति दुर्मतिम्।। (24)

सत्पुरुष ऐसा विचारते हैं कि, यह प्राणी अपना निजस्वरूप तत्त्व के सन्मुख करने से मोक्ष के अर्थ जागता है। मोहनिद्रा को छोड़कर सम्यग्ज्ञान को जानता है। तथा भ्रम कहिये अनादि अविद्या को छोड़कर उपशम भावरूपी (मन्दकषायरूपी) साम्राज्य को ग्रहण करता है। और देखो कि, पुरुषों की विषयों में महातृष्णा है। वह तृष्णा कैसी है? जन्म से (संसार से) उत्पन्न हुए आतंक (दाहरोग) से वह उपजी है, सो किसी भी उपाय से नष्ट नहीं होती। उस तृष्णा की प्रशान्ति के अर्थ पूज्य पुरुषों ने प्रतीकार (उपाय) दिखाया है, और वह जगत् के जीवों के उपकारार्थ ही दिखाया है। किन्तु यह जीव उस प्रतीकार की अवज्ञा (अनादर) करता है। तथापि उद्वेगरहित पूज्य पुरुषों के द्वारा इस प्राणी के हितार्थ बन्धमोक्ष का स्वरूप वर्णन किया जाता है, जिससे यह प्राणी वैराग्य पदवी को प्राप्त हो। इस कारण कोई अतिशय समीचीन उपदेश विचार करके इस प्राणी को देना चाहिये, जिससे वह प्राणी उत्कृष्ट शुद्धता को ग्रहण करे और दुर्बुद्धि को छोड़ दे।

भावार्थ-सत्पुरुष इस प्रकार विचार कर जीवों के संसार सम्बन्धी दुःख दूर करने के लिये ऐसा उपेदश देते हैं, वा शास्त्रों की रचना करते हैं।

ग्रंथकर्त्ता आचार्य कहते हैं कि, हमको भी यही विचार हुआ है-

अहो सति जगत्पूज्ये लोकद्वयविशुद्धिदे।
ज्ञानशास्त्रे सुधीः कः स्वमसच्छास्त्रैर्विडम्बयेत्।। (25)

अहो ! जगत्पूज्य और लोकपरलोक में विशुद्धि के देनेवाले समीचीन ज्ञानशास्त्रों के होते हुए भी ऐसा कौन सुबुद्धि है, जो मिथ्याशास्त्रों के द्वारा अपने आत्मा को विडंबना रूप करे।

मिथ्याशास्त्रों के रचनेवाले पर आक्षेप तथा उनके बनाये शास्त्रों का निषेध करते हैं-

असच्छास्त्रप्रणेतारः प्रज्ञालवमदोद्धताः।

सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे कवयः स्वान्यवञ्चकाः।।(26)

स्वतत्त्वविमुखैर्मूढ़ैः कीर्तिमात्रानुरञ्जितैः।

कुशास्त्रच्छद्मना लोको वराको व्याकुलीकृतः।।(27)

इस पृथ्वी तल में बुद्धि के अंशमात्र से मदोन्मत्त होकर असत् शास्त्रों के रचनेवाले अनेक कवि हैं। वे केवल अपने आत्मा तथा अन्य भोले जीवों को ठगनेवाले ही हैं। तथा आत्मतत्त्व से विमुख, अपनी कीर्ति से प्रसन्न होनेवाले मूढ़ हैं। और उन्हीं मूढ़ोनें इस अज्ञानी जगत् को अपने बनाये हुए मिथ्याशास्त्रों के बहाने से व्याकुलित कर दिया है।

अधीतैर्वा श्रुतैर्ज्ञातैः कुशास्त्रैः किं प्रयोजनम्।

यैर्मनः क्षिप्यते क्षिप्रं दुरन्ते मोहसागरे।। (28)

उन शास्त्रों के पढ़ने, सुनने व जानने से क्या प्रयोजन (लाभ) है, जिनसे जीवों का चित्त (मन) दुरन्त तथा दुर्निवार मोह समुद्र में पड़ जाता है?

क्षणं कर्णामृतं सूते कार्यशून्यं सतामपि।

कुशास्त्रं तनुते पश्चादविद्यागरविक्रियाम्।।(29)

कुशास्त्र यद्यपि सुनने में क्षणभर के लिये अमृतकी-सी वर्षा करता है, परन्तु कालान्तर में वह सत्पुरुषों के कार्य से रहित अविद्यारूपी विष के विकार को बढ़ाता है, अर्थात् विषयतृष्णा को बढ़ाता है।

अज्ञानजनितश्चित्रं न विद्मः कोऽप्ययं ग्रहः।

उपदेशशतेनापि यः पुंसामपसर्प्पति।। (30)

आचार्य श्री कहते हैं कि, यह बड़ा आश्चर्य है, जो जीवों का अज्ञान से उत्पन्न

हुआ यह आग्रह (हठ) सैकड़ों उपदेश देने पर भी दूर नहीं होता। हम नहीं जानते कि, इसमें क्या भेद है?

भावार्थ-एक बार मिथ्याशास्त्र की युक्ति भोले जीवों के मन में ऐसी प्रविष्ट हो जाती है कि, फिर सैकड़ों उत्तमोत्तम युक्तियाँ सुने, तो भी वे चित्त मे प्रवेश नहीं करती हैं। अर्थात् ऐसा ही कोई संस्कार का निमित्त है कि, वह मिथ्या आग्रह कभी दूर नहीं होता।

सत्पुरुषों को शास्त्रों के गुण-दोषों का विचार करना चाहिए-

सम्यग्निरूप्य सद्वत्तैर्विद्वाद्भिर्वीतमत्सरैः।

अत्र मृग्या गुणा दोषाः समाधाय मनः क्षणम्।।(31)

ऐसे सदाचारी पुरुष जिन्हें मत्सर कहिये द्वेष नहीं है, उन्हें उचित है कि इस शास्त्र तथा प्रवृत्ति में मन को समाधान करके गुणदोष को भले प्रकार विचारें।

स्वसिद्ध्यर्थं प्रवृत्तानां सतामपि च दुर्धियः।

द्वेषबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते केचिज्जगति जन्तवः।।(32)

इस जगत् में अनेक दुर्बुद्धि ऐसे हैं, जो अपनी सिद्धि के अर्थ प्रवृत्त हुए सत्पुरुषों पर द्वेषबुद्धि का व्यवहार करते हैं। **भावार्थ**-दुष्ट जीव सत्पुरुषों से द्वेष रखते हैं।

सत्पुरुष परीक्षा कर निर्णय करते हैं-

साक्षाद्वस्तुविचारेषु निकषग्रावसन्निभाः।

विभजन्ति गुणान्दोषान्धन्याः स्वच्छेन चेतसा।। (33)

वे धन्य पुरुष हैं जो अपने निष्पक्ष चित्त से वस्तु के विचार में कसौटी के समान है और गुणदोषों को भिन्न भिन्न जान लेते हैं।

जीवों के गुणदोष स्वभाव से ही होते हैं-

प्रसादयति शीतांशुः पीडयत्यंशुमाञ्जगत्।

निसर्गजनिता मन्ये गुणदोषाः शरीरिणाम्।। (34)

आचार्य देव उत्प्रेक्षा करते हैं कि, देखो चन्द्रमा जगत् को प्रसन्न करता है और ताप को नष्ट करता है! एवं सूर्य पीड़ित करता है, अर्थात् ताप को उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार जीवों के गुणदोष स्वभाव से ही हुआ करते हैं। ऐसा मैं मानता हूँ।

दूषयन्ति दुराचारा निर्दोषामपि भारतीम्।
विधुबिम्बश्रियं कोकाः सुधारसमयीमिव।। (35)

जो दुष्ट पुरुष हैं वे निर्दोष वाणी को भी दूषण लगाते हैं। जैसे सुधारसमयी चन्द्रमा के बिम्ब की शोभा को चक्रवाक दूषण देते हैं कि, चन्द्रमा ही चकवी से हमारा विछोह (वियोग) करा देता है।

आत्मा की शुद्धि का उपाय-

अयमात्मा महामोहकलङ्की येन शुद्ध्यति।
तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः परं मतम्।। (36)

यह आत्मा महामोह से (मिथ्यात्व कषाय से) कलंकी और मलिन है, अतः जिससे यह शुद्ध हो, वही अपना हित है, वही अपना घर है और वही परम ज्योति वा प्रकाश है।

भावार्थ-मलिनता नष्ट होने से उज्ज्वलता होती है। यह आत्मा निश्चय से तो अनंतज्ञानादि प्रकाशस्वरूप है, परन्तु मिथ्यात्वकषायादि से मलिन हो रहा है। इस कारण से मिथ्यात्वकषायरूपी मैल नष्ट हो, तब निजस्वरूप का प्रकाश हो सकता है। मिथ्यात्वकषायादिक के नष्ट करने का उपाय जिनागम में कहा है वही जानना।

विलोक्यं भुवनं भीमयमभोगीन्द्रशङ्कितम्।
अविद्याव्रजमुत्सृज्य धन्या ध्याने लयं गताः।। (37)

इस जगत् को भयानक कालरूपी सर्प से शङ्कित देखकर अविद्याव्रज अर्थात् मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण के समूह को छोड़ निजस्वरूप के ध्यान में लवलीन हो जाते हैं, वे धन्य कहिये महाभाग्यवान् पुरुष हैं।

हृषीकराक्षसाक्रान्तं स्मरशार्दूलचर्वितम्।
दुःखार्णवगतं विश्वं विवेच्य विरतं बुधैः।।(38)

जो बुद्धिमान् है, उन्होंने इस जगत् को इन्द्रियरूपी राक्षसों से व्याप्त तथा कामरूपी सिंह से चर्वित और दुःखरूपी समुद्र में डूबा हुआ समझ कर छोड़ दिया।

भावार्थ-जिस जगह राक्षस विचरें, सिंह व्याघ्र भक्षण कर जावें और जहाँ दुःख ही दुःख दिखाई पड़े, उस जगह विवेकी जन किसलिये बसें?

जन्मजातङ्कदुर्वारमहाव्यसनपीडितम्।

जन्तुजातमिदं वीक्ष्य योगिनः प्रशमं गताः।। (39)

संसार से उत्पन्न दुर्निवार आतंक (दाहरोग) रूपी महाकष्ट से पीडित इस जीवसमूह को देखकर ही योगीजन शान्तभाव को प्राप्त हो गये।

संसार में जीवों को प्रत्यक्ष दुःखी देखकर ज्ञानी जन क्यों मोहित हो?

भवभ्रमणविभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने।

एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम्।। (40)

संसार-भ्रमण से विभ्रान्त और मोहरूपी निद्रा से जिसकी चेतना नष्ट हो गई है, ऐसे इस जगत् में मुनिगण ही निरंतर जागते हैं। भावार्थ-जैसे निरन्तर भ्रमण करने से शरीर खेदखिन्न हो जाता है, तो उसके निमित्त से प्रगाढ़ निद्रा आती है और तब यह जीव अपने को भूल जाता है। ऐसा समझ कर ज्ञानीजन निरन्तर सावधान ही रहते हैं।

रजस्तमोभिरुद्भूतं कषायविषमूर्च्छितम्।

विलोक्य सत्त्वसंतानं सन्तः शान्तिमुपाश्रिताः।। (41)

जो सत्पुरुष हैं, वे रज कहिये ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म और तम कहिये मिथ्याज्ञान से अथवा रजोगुण तमोगुण से कम्पायमान तथा कषायरूपी विष से मूर्च्छित इस सत्वसंतान कहिये जगत् को देखकर शान्तभाव को ग्रहण करते हैं।

मुक्तिस्त्रीवक्त्रशीतांशुं द्रष्टुमुत्कण्ठिताशयैः।

मुनिभिर्मथ्यते साक्षाद्विज्ञानमकरालयः।। (42)

मुक्तिरूपी स्त्री के मुखरूपी चन्द्रमा को देखने को उत्सुक हुए मुनिराज साक्षात् विज्ञानरूपी समुद्र का मन्थन करते हैं।

भावार्थ-लोक में ऐसी प्रसिद्धि है कि, नारायण ने समुद्र को मथ कर चन्द्रमा को निकाला है। सो यहाँ आलंकारिक रीति से कहा है, मुनिजन मुक्तिरूपी स्त्री के मुखरूपी चन्द्रमा को देखने की अभिलाषा से ज्ञानरूपी समुद्र का मन्थन करते हैं। क्योंकि ज्ञान के ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उपर्युपरिसंभूतदुःखवह्निक्षतं जगत्।

वीक्ष्य सन्तः परिप्राप्ताः ज्ञानवारिनिधेस्तटम्।। (43)

वारंवार उत्पन्न हुई दुःखाग्नि से क्षय होते जगत् को देखकर सन्तपुरुष ज्ञानरूपी समुद्र के तटपर प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ–संसार की दुःखरूपी अग्नि के बुझाने को ज्ञान ही कारण है।

अनादिकालसंलग्ना दुस्त्यजा कर्मकालिका।

सद्यः प्रक्षीयते येन विधेयः तद्धि धीमताम्।। (44)

अनादि काल से लगी हुई कर्मरूपी कालिमा बड़े कष्ट से त्यजने योग्य है। इस कारण यह कालिमा जिससे शीघ्र ही नष्ट हो जाये, वही उपाय बुद्धिमानों को करना चाहिए। अन्य उपाय करना व्यर्थ है।

मोक्षकथनः–

निष्कलङ्कं निराबाधं सानन्दं स्वस्वभावजम्।

वदन्ति योगिनो मोक्षं विपक्षं जन्मसन्ततेः।। (45)

प्राणी का हित मोक्ष (कर्मों से छूटना) है। सौ कैसा है? समस्त प्रकार की कालिमा से रहित निःकलंक है, बाधा (पीड़ा) रहित है, आनंद सहित है, जिसमें किसी भी प्रकार का दुःख नहीं है। तथा अपने स्वभाव से उत्पन्न है, क्योंकि जो परका उपजाया हो, उसको वह नष्ट भी कर सकता है, परन्तु जो स्वभाव से उत्पन्न हो, उसका कभी नाश नहीं होता। और संसार का विपक्षी कहिये शत्रु है। योगीगण मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं।

मोक्ष को हित जान उसका साधन करने की शिक्षा–

जीवितव्ये सुनिःसारे नृजन्मन्यतिदुर्लभे।

प्रमादपरिहारेण विज्ञेयं स्वहितं नृणाम्।। (46)

मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है। जीवितव्य है सो निःसार है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को आलस्य त्यागकर अपने हित को जानना चाहिए। वह हित मोक्ष ही है।

विचारचतुरैर्धीरैरत्यक्षसुखलालसैः।

अत्र प्रमादमुत्सृज्य विधेयः परमादरः।। (47)

जो धीर और विचारशील पुरुष हैं, तथा अतीन्द्रिय सुख (मोक्षसुख) की लालसा रखते हैं, उनको प्रमाद छोड़कर इस मोक्ष में ही परम आदर करना चाहिए।

न हि कालकलैकापि विवेकविकलाशयैः।

अहो प्रज्ञाधनैर्नेया नृजन्मन्यतिदुर्लभे।। (48)

अहो भव्य जीवो! यह मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है और इसका बारबार मिलना कठिन है, इस कारण बुद्धिमानों को चाहिए कि, विचारशून्य हृदय होकर काल की एक कला को भी व्यर्थ नहीं जाने दें।

जिनानिव यजन्सिद्धान्साधून्धर्मं च नन्दति।

तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणं मङ्गलं य यत्।। (42) सा.ध.

भावार्थ-जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने वाला अंतरंग और बहिरंग विभूति से संवर्धित होता है अर्थात् उसकी अंतरंग और बहिरंग विभूति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है उसी प्रकार सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और रत्नत्रयरूप निश्चय व्यवहार धर्म की पूजा आराधना करने वाले के भी अंतरंग सम्यग्दर्शनादि विभूति तथा स्वर्गादि बहिरंग विभूति वृद्धिंगत होती है। क्योंकि जिन्होंने अपने धर्म को सिद्ध किया ऐसे सिद्ध भगवान् तथा साधु भी जिनेन्द्र के समान लोक में उत्कृष्ट हैं। दुःख के नाशक, अपाय से रक्षण के उपाय होने से शरणरूप हैं तथा पाप के नाशक, अपाय से रक्षण के उपाय होने से शरणरूप हैं। तथा पाप के नाशक और पुण्यवर्धक होने से मंगलरूप हैं।

संपूर्ण पूज्य और पूजा के विधि का प्रकाशन करते हुए सम्यग्श्रुतदेवता की आराधना का विधान करते हैं-

यत्प्रसादान्न जातु स्यात् पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।

तां पूजयेज्जगत्पूज्यां स्यात्कारोड्डमरां गिरम्।। (43)

भावार्थ-जिन जिनवाणी के अनुग्रह से पूज्य ''अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और रत्नत्रयधर्म'' का तथा पूजा की विधि का उल्लंघन नहीं हो सकता अर्थात् पूज्य और पूजा का ज्ञान जिससे होता है, अतः 'स्यात्' पद के प्रयोग से सर्वथा एकांतवाद से अजेय, हितोपदेशी होने से जगत्पूज्य ऐसी जिनवाणी की भी पूजा करनी चाहिये। पूजा की यथोक्त विधि का उल्लंघन होना व्यतिक्रम है। जिनवाणी के

द्वारा शास्त्रज्ञान होने से विधि का उल्लंघन नहीं होता है।

श्रुतपूजक और जिनपूजक में परमार्थ में कोई अन्तर नहीं है ऐसा कहते हैं-

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।

न किञ्चिदन्तरं प्राहु-राप्ता हि श्रुतदेवयोः।। (44)

भावार्थ-जो मानव भक्तिपूर्वक जिनवाणी की पूजा करते हैं वे निश्चय से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हैं। क्योंकि गणधर देव ने जिनवाणी और जिनेन्द्र देव में कुछ भी अन्तर नहीं कहा है। अर्थात् जो श्रुत है वह देव है, जो देव है वह श्रुत है।

इस प्रकार देवपूजा की विधि का संक्षेप से उपदेश देकर साक्षात् उपकारी होने से गुरु की उपासना में नित्य नियुक्त करते हैं-

उपास्या गुरुवो नित्य-मप्रमत्तैः शिवार्थिभिः।

तत्पक्षताक्ष्यपक्षान्तरश्चरा विघ्नोरगोत्तराः।। (45)

भावार्थ-मुमुक्षु पुरुषों को प्रमादरहित होकर निरंतर धर्माराधना में तत्पर धर्म गुरुओं की सेवा आराधना करनी चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार गरुड़ के पास में सर्प नहीं आते हैं अर्थात् जिसके पास गरुड़ है उसको विषधर सर्प नहीं काट सकता, उसी प्रकार गुरु की भक्तिरूपी गरुड़ जिनके हृदय में है, उसको धर्मानुष्ठान में आने वाले विघ्नरूपी सर्प काट नहीं सकते अर्थात् उनको कभी भी धर्म कार्यों में विघ्न नहीं आ सकते हैं।

गुरूपासना की विधि बताते हैं-

निर्व्याजया मनोवृत्या सानुवृत्या गुरोर्मनः।

प्रविश्य राजवच्छश्वद्विनयेनानुरञ्जयेत्।। (46)

भावार्थ-कल्याण चाहने वाले मनुष्य गुरु के मन को विनय आदि के द्वारा अनुरंजित करे। विनय तीन प्रकार का होता है।

कायिकविनय-गुरु के सम्मुख आते समय उठ के खड़े होना, चलते समय पीछे-पीछे चलना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना आदि कायिक विनय कहलाते हैं।

वाचनिक विनय-उनके प्रति हितमित प्रिय वचन प्रतिपादन करना व नम्रता से बोलना वाचनिक विनय है।

मानसिक विनय-हमेशा गुरुओं के विषय में शुभ चिंतवन करना मानसिक विनय है। इस प्रकार मन, वचन और काय के विनय से गुरु को अपने प्रति प्रसन्न

करें। जैसे राजा के साथ राजा के हृदय में स्थान करके विनयपूर्वक व्यवहार किया जाता है, वैसे ही गुरु के मन को भी अपनी छलकपटरहित और गुरु के अनुकूल मनोवृत्ति बनाकर उनके हृदय में अपना गुणानुरागी स्थान बनाकर यथाहित व्यवहार करे। जैसे राजा की सेवक वर्ग राजा के प्रसन्नता के अनुसार सेवा करते हैं।

विनय से गुरु के मन को अनुरंजित करे इसी अर्थ को विशेष रूप से कहते हैं-

पार्श्वे गुरुणां नृपवत्प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः।
अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा मनो जातु न दूषयेत्।। (47)

भावार्थ-जिस प्रकार राजा के निकट में हास्यादि विकारी चेष्टा करना निषिद्ध है उसी प्रकार उपासक श्रावक को भी गुरुओं के समीप में अपने स्वाभाविक क्रियाओं को छोड़ करके क्रोध, हास्य, विवाद आदि विकारी क्रियायें तथा शास्त्र निषिद्ध पर्यस्ति का (बैठना) उपाश्रयादि सम्पूर्ण क्रियाओं को छोड़ देना चाहिये अर्थात् ऐसी चेष्टा गुरु के सामने नहीं करना चाहिये। और जिस कार्य में गुरु के मन में आर्तरौद्रध्यान हो ऐसा कार्य भी नहीं करना चाहिये।

निष्ठीवनमवष्टम्भं जृम्भणं गात्रभञ्जनम्।
असत्यभाषणं नर्महास्य पादप्रसारणम्।।
अभ्याख्यान करस्फोट करेण करताडनम्।
विकारमंगसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ।।

गुरु के समीप में थूकना, अंगडाई लेना, जांभई लेना, शरीर को तोड़ना, असत्यभाषण करना हँसी मजाक करना, पैर फैलाकर बैठना, लड़ाई करना, ताली बजाना, चुटकी बजाना, अंग में विकार उत्पन्न करना, अंग का संस्कार करना आदि चेष्टायें नहीं करनी चाहिये।

कौण्डेश की कथा

(ज्ञानदानफल)

भारत के कुरुमरी नामक गाँव में गोविन्द नाम का ग्वाला रहता था। उसने जंगल में वृक्ष की कोटर में जैनधर्म का एक पवित्र ग्रंथ देखा। वह उसे घर लाया और पूजा करने लगा। एक दिन उस ग्वाले ने ग्रन्थ को पद्मनन्दि नामक मुनि को भेंट कर दिया। गोविन्द ने मृत्यु के बाद कुरुमरी गाँव के चौधरी के यहाँ जन्म ग्रहण

किया। इस बालक की सुन्दरता देख कर सबको प्रसन्नता हुई। पूर्वजन्म के पुण्यफल से ही ये सब बातें सुलभ हो गयी। एक दिन इसे पद्मनन्दि मुनि के दर्शन हुए। उन्हें देखते ही उसे जातिस्मरण हो गया। मुनि को नमस्कार कर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। उसके हृदय की पवित्रता बढ़ती गयी। वह शान्ति से मृत्यु प्राप्त कर पुण्योदय से कौण्डेश नामक राजा हुआ। उसकी सुन्दरता और कान्ति को देखकर एक बार चन्द्र को भी लज्जित होना पड़ता था, शत्रु उसके भय से काँपते थे। वह प्रजापालक और दयालु था। इस प्रकार कौण्डेश का समय शान्तिपूर्वक व्यतीत हो रहा था। किन्तु विषय सम्पत्ति को क्षण-क्षण नष्ट होते देख उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसे घर में रहना दुःखमय जान पड़ा। वह राज्य का अधिकारी अपने पुत्र को बना कर जिनमन्दिर में गया और वहाँ निर्ग्रन्थगुरु को नमस्कार कर दीक्षित हो गया। पूर्वजन्म में कौण्डेश ने शास्त्रदान किया था, उसके फल से वह थोड़े समय में ही श्रुतकेवली हो गया। जिसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। ज्ञानदान तो केवलज्ञान का भी कारण होता है। जिस प्रकार शास्त्रदान से एक ग्वाला श्रुतज्ञानी हुआ, उसी प्रकार सत्पुरुषों को भी दान देकर आत्महित करना चाहिये। जो भव्य जन जिस ज्ञानदान की पूजा, प्रभावना, मान, स्तवन किया करते हैं, वे उत्तमसुख, दीर्घायु आदि का मनोवांछित फल प्राप्त करते हैं। यह ज्ञानदान की कथा केवलज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो, यह मेरी मनोकामना है।

ग्रन्थकार द्वारा स्वग्रन्थ में स्व प्रशस्ति का वर्णन-

ज्ञान-आराधना-ज्ञानदान

(ग्रन्थलेखन-प्रकाशन-सहयोगी आदि का वर्णन पूर्वाचार्य तक स्वग्रन्थों में करने का कारण) (वर्णन नहीं करते तो घोर पाप होता है)

(चालः ज्योत से ज्योत जलाते चलो...)

ज्ञान से ज्ञान बढ़ाते चलो!...मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करो...

ज्ञान से सम्यक्त्व प्राप्त करो...ज्ञान से चारित्र उज्ज्वल करो...(स्थायी)...

इससे वीतराग विज्ञानी बनो, शुद्ध-बुद्ध-आनन्द बनो!...

अतः ध्यान-अध्ययन मुख्य मुनि धर्म, अन्यथा न मुनिधर्म...

ज्ञान बिना न...होता ध्यान...ध्यान बिना नहीं मुनिधर्म...(1)...
वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश पञ्चविध स्वाध्याय...
इस हेतु विधेय धार्मिक ग्रन्थ, अन्यथा न वाचना सम्भव...
वाचना से पृच्छना-अनुप्रेक्षा...तथाहि आम्नाय-धमोपर्देश...(2)...
इस हेतु विधेय ग्रन्थ रचना, आद्य रचनाकार गणधर...
सर्वज्ञ प्रतिपादित सत्य/(धर्म), उससे ग्रन्थ रचे गणधर...
अथानन्तर...परम्पराचार्य...ग्रन्थ रचे आगमानुसार...(3)...
उस हेतु चाहिए ज्ञानोपकरण, लेखन प्रचार (सहयोग) प्रकाशन...
इस हेतु रचनाकार स्व गुरु का, करते स्मरण-नाम-लेखन...
अन्यथा वे...होंगे कृतघ्न...बान्धेंगे घोर घाती (पाप) कर्म...(4)...
ऐसा वे जिन ग्रन्थों से करते, अध्ययन व उद्धरण...
उनका का भी स्मरण नाम लेखन करते, अन्यथा बन्धे पापकर्म...
लेखन-प्रकाशन...आदि सहयोगी का...करते नाम उच्चारण लेखन...(5)...
स्व शिष्य-भक्त रचना स्थान, काल का भी करे कोई वर्णन...
किन्तु गृहस्थ माता-पिता-बन्धु, सत्ता-सम्पत्ति पत्नी सन्तान...
दिग्विजय राज्य...शासन उल्लेख...नहीं करे मन्दिर मूर्ति (महल) निर्माण...(6)...
गृहस्थ सम्बन्धी वर्णन से तो, होती संयम की विराधना...
किन्तु गुरु ग्रन्थादि वर्णन बिना, होती सम्यक्त्व-विराधना...
न हि कृत उपकार...साधवं विस्मरन्ति...यह कृतज्ञता महान् गुण...(7)...
उपकार भूलना कृतघ्नता है, मिथ्यात्व सम दुर्गुण...
इसे ही कहते पूजा प्रार्थना (आरती), वन्दना विनय मंगलाचरण...
अतः पूर्व आचार्य...अनुसार...'कनक' स्व गुरु आदि का करे स्मरण...(8)...
अनेक न जाने इस विधि को, किन्तु करे गृहस्थ जनों का उल्लेख...
दोष को गुण, गुण को दोष माने, उन्हें जताने हेतु यह काव्य...
ख्याति-पूजा-लाभ प्रसिद्ध हेतु...करे गृहस्थ काल ले से धार्मिक काम...
/(नाम मान धन वर्चस्व भी चाहे...गुण-गुणी प्रशंसा को गर्व माने)...(9)...

ग.पु.कॉ., दि-19/8/2020, रात्रि-9.31 व 1.09

संदर्भ-

श्रावक व मुनि धर्म के मुख्य कर्त्तव्य

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मो ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा तहा सोवि।। (11) रयण.

पद्यभावानुवाद

दान पूजा मुख्य श्रावक धर्म में, न श्रावक इसके बिना।
ध्यान-अध्ययन मुख्य मुनि धर्म में, न श्रमण इसके बिना।। (1)

समीक्षा व शिक्षा

आरंभ-परिग्रह व भोग-उपभोग सहित होते हैं श्रावक जन।
इससे होता है निश्चय से पाप बन्ध, उसे दूर हेतु पूजा-दान।।(2)
यदि श्रावक न करते हैं दान-पूजा वे निश्चय से धर्म हीन।
उपार्जित पाप न होता दूर, जिससे पाते दुःख अनेक ।।(3)
अपरिग्रही होते हैं श्रमण, इनके प्रमुख धर्म-ध्यान-अध्ययन।
ध्यान-अध्ययन के बिना श्रमण धर्म से वे होते न्यून।। (4)
इससे शिक्षा मिलती प्रमुख श्रावक करे पूजा-दान।
ध्यान-अध्ययन प्रमुख श्रमण धर्म इसमें लीन रहे श्रमण।। (5)

जैन सिद्धांत समझना क्यों होता है क्लिष्ट ?

(चाल : छोटी-छोटी गैया ..., शत-शत वंदन..., सायोनारा)
सुना भोगा व अनुभव भी किया, हर जीव काम भोग बंध तत्त्व।
अतएव यह सब सहज आते, न सहज होता स्व-आत्म तत्त्व।। (1)
अनादिकालीन संस्कार-वशतः, जीवों के होते हैं अशुभ भाव।
काम-क्रोध-मोह-मद-मत्सर, ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-तृष्णा विभाव।। (2)
आहार निद्रा व भय मैथुन, हिंसा प्रतिहिंसा व युद्ध संहार।
चोरी मिलावट व कूट-कपट, निन्दा अपमान व परिग्रह संग्रह।। (3)
द्रव्यकर्म भावकर्म व जिनोम, दिमाग हारमोन व वातावरण।
परिवार समाज व रीति-रिवाज, परंपरा संस्कार व भोजन-पान।। (4)

शिक्षा संगति व संकीर्ण विचार, सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि-आडम्बर।
फैशन-व्यसन संक्लेश के कारण, तत्त्वज्ञान होता अति-दुष्कर।। (5)
जीव तो चेतनमय मोह(कर्म) कारण, बनते हैं मोही व कुज्ञानी।
अतएव कुज्ञान होता सरल है, कुमति-श्रुत व अवधिज्ञानी।। (6)
कुज्ञान से जीव भी करते काम, आहार-निद्रा व भय-मैथुन।
प्रजनन आत्मरक्षण संग्रहण, लौकिक ज्ञान-विज्ञान प्रशिक्षण।। (7)
भाषा राजनीति कानून व्याकरण, कला संगीत व नृत्य भजन।
तर्क-वितर्क व स्वार्थ साधन, भौतिक यंत्र-उपकरण निर्माण।। (8)
इनसे परे है आगम का ज्ञान, जिससे होता है परमज्ञान।
आत्म-अनात्म का सच्चा विज्ञान, जिसे कहते वीतराग विज्ञान।। (9)
इसी हेतु विशेष प्रज्ञा चाहिए, जिस हेतु विशेष श्रद्धा चाहिए।
इसी हेतु क्षयोपशम चाहिए, मोह अनंतानुबंधी उपशम/(क्षयोपशम) चाहिए।।(10)
इसी से योग्यताएँ उत्पन्न होती, रूचि जिज्ञासाएँ प्रगट होती।
अध्ययन-मनन-स्मरण-ध्यान, जिससे ज्ञानार्थी बनता प्रवीण।। (11)
श्रद्धा से जो अध्ययन करता, मन्द क्षयोपशम से भूल भी जाता।
फल अवश्य उसे भी मिलता, आगामी भव में ज्ञानी भी बनता।।(12)
श्रद्धा विनय से अतः करो स्वाध्याय, यह है अंतरंग तप निश्चय।
तप से निर्जरा व मोक्ष मिलता, इसी हेतु 'कनक' स्वाध्याय करता।। (13)

संदर्भ - सुदपरिचिदाणुभुदा सव्वस्स वि कामभोगबन्ध कहा।
एयत्तसुहलंभो णवरि ण सुलह विहत्तस्स।।(समयसार)

आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभि नराणाम्।
ज्ञानं(धर्मः) विशेष खलु मानवानाम् ज्ञानेनविना पशुभि मानवाः।।
विरला विसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि।। (279, का. अनु)
तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चल-भावेण गिण्हदे जो हि।
तं चिय भावेदि सया सो वि य तच्च विया णेई।। (280, का अनु.)

बहिरात्मा की परिणति पतंगे के समान

दाणु व धम्मणु चागु ण भोग गुण बहिरप्प जो पयंगो सो।
लोहकसायग्गिमुहे पडिउ मरिउ ण संदेहो।। (12) रयण.

पद्यभावानुवाद –

जो दान-धर्म-त्याग-भोग व गुण रहित वह बहिरात्मा पतंग।
लोभ कषाय अग्नि मुख में पड़कर मरता इसमें नहीं संदेह।। (1)

समीक्षा व शिक्षा –

लोभ कषाय व परिग्रह संज्ञा रूपी मूर्च्छा से जो होता पीड़ित।
वह न करता दान-धर्म-त्याग-भोग-गुण वह बनता पतित।। (2)
वह होता है बहिरात्मा पतंग तृष्णाग्नि से होता पतित।
तथापि पतंग सम तृष्णा के कारण दानादि से होता च्युत।। (3)
इससे मिलती शिक्षा प्रचुर शक्ति अनुसार सदा करणीय दानादि।
दानादि से तृष्णाग्नि होती मन्द जिससे बन्धे सातिशय पुण्यादि।। (4)

औदार्यवर्य पुण्य दक्षिण्यमन्यत्। समशुद्धो बोधः पातकात्स्याज्जुगुप्सा।।
आख्यातं मुख्यं सिद्धधर्मस्य। लिंगं लोकभेयस्तद्दातुरेवोपपन्नम्।। (108)

श्रेष्ठ उदारता, पवित्रता, मृदुता या सरलता निर्मलता पाप से ग्लानि तथा लोकप्रियता से अनादि सिद्ध धर्म के चिह्न कहे गये हैं ये सब गुण दाता को ही प्राप्त होता है।

तीर्थोन्नतिः परिणतिश्च परोपकारे। ज्ञानादि निर्मल गुणावलिकाभिवृद्धिः।
वित्तादि वस्तुविषये च विनाश बुद्धि। संवादिता भवति दानवतात्मशुद्धि।। (109)

दान देने से तीर्थं की उन्नति, दाता की परोपकार परिणति(प्रवृत्ति) ज्ञानादि निर्मल गुण समूह की वृद्धि धन आदि वस्तुओं में नश्वरता का विचार और दाता की आत्मशुद्धि भी है।

सीदंति पश्यतां येषां शक्तानामपि साधवः।
न धर्मो लौकिकोऽप्येषां दूरे लोकोत्तराः स्थितः।। (110)

दुःख को दूर करने में समर्थ होकर जो श्रावक साधु जन को कष्ट देखकर

भी उनके दुःख को दूर नहीं करते हैं, उनके लौकिक धर्म भी संभव नहीं है, फिर भला लोकोत्तर धर्म तो उनसे बहुत दूर है। ऐसा समझना चाहिये।

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिभेर्षजाद्भवेत्।।

ज्ञान दान से दानी विशिष्ट क्षायोपशम के माध्यम से मतिश्रुत, अवधि, मनःपर्याय ज्ञानी होता है। श्रुत केवली होता है एवं शेष में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाता है। अभय दान से इहलोक-परलोक में निर्भय होता है। अन्न दान से इहलोक-परलोक से सुखी होता है। औषधदान देने से शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक रोग से रहित होकर परम स्वास्थ्य रूप अमृत रूप पद को प्राप्त करता है।

यस्यान्नपानैः संतृप्ताः साधवः साधयंत्यमी।
स्वाध्यायादि क्रिया सार्वी तस्य पुण्यं तदुद्भवम्।।

जिस दाता के अन्न पानी से तृप्त हुए मुनिजन आत्म हितकर सब स्वाध्यायादि क्रियाओं को करते हैं, उसमें उत्पन्न हुए पुण्य उस दाता को प्राप्त होता है।

दान अभाव के दोषः-

सीदंतो यतयो यदण्यनुचितं किंचिज्जलान्नादिकं।
स्वीकुर्वतिविशिष्ट भक्ति विकलाःकालादिदोषादहो।
मालिन्य रचयंति यज्जिनमतस्यास्थानशय्यादिना।
श्राद्धानमिद्मेतिदूषणपदंशक्तानुपेक्षाकृपाय।। (401)

रोगादि से पीड़ित साधुजन विशिष्ट भक्ति से रहित होते काल आदि के दोष से यदि अपने पद के अयोग्य जल व अन्नादिक का स्वीकार करते हैं तथा अयोग्य वसति व शय्या आदि का ग्रहण करके जिनमत में मलिनता को उत्पन्न करते हैं तो यह दोष शक्ति होने पर भी उपेक्षा करने वाले श्रावक पर आता है। उसे श्रावकों का दोष समझना चाहिये।

दान तीर्थं और धर्म तीर्थ की अपेक्षा दो प्रकार का है। दान तीर्थ के माध्यम से शरीर की रक्षा होती है और शरीर के माध्यम से धर्मपालन होता है। ''शरीरमाध्यम् खलु धर्मसाधनम्'' धर्मपालन से इहलोक में अलौकिक सुख मिलता है। इसलिये श्रावकों को धर्मतीर्थ प्रवर्तन के लिये दान देना चाहिये।

दान पूजादि क्या पाप बंध का कारण ?

शंका : पूजा दानादिक से आरंभ होने से हिंसा होती है और उससे पाप बंध होता है। इसलिये दान पूजादिक नहीं करना चाहिये।

ननुदधिदुग्ध गंधमाल्यादिना भगवतः पूजाभिदाने पापमप्युपार्ज्यते लेशतः सावद्य सद्भावात् इत्याशंक्याह।

श्री जिनेन्द्र भगवान् की दही-दूध-गंध-फूल मालादि से पूजा करने से पाप उत्पन्न होता है क्योंकि उस पूजादि से (में) सावद्य है। (पापात्मक आरंभादिक है।)

समाधान : पूजातिशय पूज्य भगवान् आपकी पूजा करने से भव्य जीवों को सातिशय महत् पुण्य उपार्जन होता है। यद्यपि पूजादिक सामग्री लाना, धोना, स्वच्छतादि करने से पाप उत्पन्न होता है तथापि वह पाप इतना कम है कि पूजादि से उत्पन्न पुण्य से उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वह अपना कार्य करने के लिए अशुभ कर्म फल देने के लिये असमर्थ हो जाता है। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय को तृप्त करने वाले ठंडे पानी से भरा समुद्र में एक कण विष पड़ने से उस संपूर्ण समुद्र को वह विष कण दूषित नहीं कर पाता है।

प्रारम्भोऽप्येष पुण्याय देवाद्युद्देशतः कृतः।
सामग्ज्यंतर पातित्वा ज्जीवनाय विषं यथा।। (339)

देव, शास्त्र, गुरु के उद्देश्य से किया गया महान् आरंभ भी उसकी सामग्री के अन्तर्गत होने से पुण्य के लिए होता है। जैसे विष इतर सामग्री से युक्त होने पर जीवन के लिये प्राण रक्षा का कारण होता है।

भिन्न हेतुक एवायं भिन्नात्मा भिन्न गोवरः।
भिन्नागुबंधस्तेनस्यात्पुण्यबंधर्निबंधनम्।। (340)

इस आरंभ का चूंकी हेतु भिन्न, स्वरूप भिन्न, विषय भिन्न संबंध भी भिन्न है। इसलिये वह पुण्य बंध का कारण होता है।

लोभादि हेतुकःपापारंभी गेहादि गोचरः
पापनुबंधीसंत्याज्यःकार्योऽन्यःपुण्यसाधनः।। (341)

लोभ के कारण जो गृह कुटुंबादि के विषय में आरंभ किया जाता है। वह पाप का बंधक होने से छोड़ने के योग्य है। परंतु दूसरा जिनप्रतिमा के निर्माणादि

तथा आहार दानादि विषयक आरंभ पुण्य का बंधक होने से आचरणीय है।

धर्मारंभस्तस्य रज्यति जनः कीर्ति पराजायते।
राजानोऽनुगुणा भवैति रिपवो गच्छंति साहायकम्।।
चेतःकांचन निवृत्तिं च लभते प्रायोऽर्थमलाभःपरः।
पापारंभभराघनार्थवितरिश्चेति प्रतिता गुणाः।। (342)

जो भव्य धर्म के निमित्त आरंभ में निरत होता है, उसे लोग प्रेम करते हैं। उसे उत्तम कीर्ति का लाभ होता है, राजा उसके अनुकूल होता है, शत्रु सहायक होता है। उसका चित्त किसी अभूतपूर्व शांति को प्राप्त करता है। उसे प्रायः बहुत धन का लाभ होता है। तथा वह प्रचुर पापारंभ से परिपूर्ण अनर्थों से निरर्थक कर्मों से विरक्त होता है। इस प्रकार धर्मारंभ भी तत्पर भव्य के ये प्रसिद्ध गुण हुआ करते हैं।

न मिथ्यात्वात्प्रमादाद्वा कषायाद्वा प्रवर्तते।
श्राद्धो द्रव्यस्तवे हेन तस्य बंधोऽस्ती नाशुभः।। (343)

श्रावक चूंकि मिथ्यात्व से, प्रमाद से, अथवा कषाय से द्रव्य स्तव में पूजा प्रतिष्ठा एवं दानादिरूप बाह्य संयम में प्रवृत्त नहीं होता है, इसलिये उनको अशुभ का बंध नहीं होता है।

कृष्यादि कर्म बहुजंगय जंतुद्यति। कुर्वति ये गृह परिग्रह भोगसक्ताः।।
धर्माय रंधनकृतां किलपापमेषा। मेवं वदन्नापि न लज्जित एव दुष्टः।।

जो गृहस्थ घर, परिग्रह तथा भोगों से आसक्त होकर बहुत से त्रस जीवों के घात के कारणभूत खेती आदिक कार्यों को करते हैं उन्हें धर्म के लिए भोजन को तैयार करने में पाप का भागी कहने वाले दुष्टों को लज्जा नहीं आती ? तात्पर्य मुनियों को आहार देने के लिए जो आरंभ होता है उससे पाप अल्प और पुण्य महान् होता है। अतः ऐसे आरंभ का निषेध करना अनुचित है।

एवं विधस्याप्य बुधस्य वाक्यं सिद्धांत बाह्यं बाधकं च।
मूढ़ा दृढं श्रद्धधते कदर्याः पापे रमतेऽमतयाः सुखेन।।

जो आज्ञानी जन लोभ के वशीभूत होकर इस प्रकार बोलने वाले मूर्ख के भी आगम बाह्य और अतिशय बाधक जिन वचन पर स्थिर श्रद्धा करते हैं वे दुर्बुद्धि पाप में आनंद से रममाण होते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

पुण्य-पाप :-

शंका : भले पूजादि से पापबंध से बच सकते हैं किन्तु पुण्य बंध से नहीं बच सकते हैं। पुण्य भी संसार का कारण है। यथा -

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह त होदी सुसीलं जं संसार पवेसेदि।। (145) (समयसार)

अशुभ कार्य कुशील पापरूप है। शुभ कार्य पुण्य सुशील स्वरूप है। ऐसा साधारण जन कहते हैं। परंतु शुभ कार्य कैसे हैं ? जो कि संसार रूप कारागार में प्रवेश करने के लिये कारण है।

जई भणइ कोवि एवं गिह वावारेसु वह माणोवि।
पुण्णे अम्ह ण कज्जं संसारे जंसुवाडेई।। (389) (भावसंग्रह)

गृहवास में रहते हुए भी और गृह व्यापार से प्रवृत्त होते हुए भी कोई कहता है कि हमको पुण्य नहीं चाहिये क्योंकि पुण्य संसार में गिराने वाला है।

समाधान :-

मेहुणसण्णारूढ़ो मारइ णवलक्खसुहुम जीवाई।
इदं जिणवरेहिं भणियं बज्झंतर णिग्गंथ रूवेहिं।। (390)
गेहे वट्टतस्स य वावरसयाइ सया कुणंतस्स।
आसवइ कम्ममसुहं अट्ठरूद्दे पवत्तस्स।। (391)
जाम ण छडइ गेहं तामण परिहरइ इंत्तयं पावं।
पावं अपरिहतो हेउ पुण्णस्स भजयउ।। (393)

उपरोक्त कुशंका का समाधान देते हुए आचार्य प्रवर देवसेन ने नय एवं अवस्थाओं का अवलंबन लेकर स्याद्वाद पद्धति से उसका समर्थ एवं आगमोक्त उत्तर दिए हैं। बाह्य अभ्यंतर ग्रंथों से रहित जिनेन्द्र भगवान् ने बताया है कि एक बार मैथुन संज्ञा से सहित होकर मनुष्य जब भोग करता है तब लिंग और योनि में संघर्षण से 9 लाख पंचेन्द्रिय मनुष्य जातीय लब्ध्यपर्याप्तक जीवों का घात करता है। पहले जीव मैथुन मोह कर्म के उदय से निर्मल ब्रह्मचर्य रूपी आत्म स्वरूप का घात करता है। उस समय जिस प्रकार सरसों से भरे हुए पात्र में संतप्त लौह शलाका डालने पर

सरसों जल जाते हैं उसी प्रकार योनिगत 9 लाख लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य जीव भी जल जाते हैं। गृह में रहते हुए हजारों गृह व्यापारों को सदा करते हुए अत्यन्त अशुभ आर्त्तरौद्र परिणाम से अशुभ कर्म का आस्रव करता है जो कि एकांत से संसार का कारण होने से अत्यन्त हेय स्वरूप है। जब तक आर्त्त-रौद्र-ध्यानों का निवास स्वरूप गृहवास को त्याग नहीं करते हैं तब तक अत्यंत इन पापों का त्याग नहीं हो सकता है। यदि पाप का त्याग नहीं होता है तो पुण्य कारणों को मत छोड़ो।

पुण्यं कुरुत्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि। नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भत्यै।।
संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः। पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम्।। (31)
(आ.शा.)

हे भव्य जीव! तू पुण्य कर्म को कर, क्योंकि पुण्यवान् प्राणी के ऊपर असाधारण भी उपद्रव कुछ प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। इतना ही नहीं बल्कि वह उपद्रव भी उसके लिये संपत्ति का साधन बन जाता है। देखो, समस्त संसार को संतप्त करने वाला भी सूर्य कमलों में विकासरूप लक्ष्मी को ही करता है।

यथांगमध्यक्ष सुखे हि धर्मस्तथा परोक्षऽपिच मौक्ष सौख्यै।
भोगाय भोगादि सुखाय धर्मो मित्रादि यत्नोऽपि निमित्तमात्रम्।। 13।।
(धर्म रत्नाकर)

धर्म जैसे प्रत्यक्ष सुख का कारण है वैसे ही वह परोक्ष स्वरूप मोक्ष सुख का भी कारण है। भोगोपभोगादि सुख के लिये धर्म ही कारण है। इस सुख के लिये मित्रादिकों का यत्न भी निमित्तमात्र है।

पुण्य का लक्षण :-

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्।। (सर्वार्थ सिद्धि)

जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है।

यस्तु शुद्धात्म भावना साधनार्थ बहिरंग व्रत तपश्चरण दान पूजादिकं करोति स परंपराया मोक्षं लभते इति भावार्थ।।

शुद्धात्मा भावना को सिद्ध करने के लिए अथवा प्राप्त करने के लिए बहिरंग व्रत तपश्चरण, दान, पूजादिक को जो करता है वह परंपरा से मोक्ष को प्राप्त करता है। (समयसार 15 म.गा. जयसेनाचार्य तात्पर्यवृत्ति)

पावागम दाराइं अणाइरुवट्ठि याइं जीवम्मि।

तत्थ सुहासवदारं उग्धादेतेकथं सदोसो।। (57) (जय धवला)

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है तब तक जीव अनादिकाल से पाप बंध ही करता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही सातिशय पुण्य का आस्रव होता है जीव में अनादिकाल से पापास्रव के द्वार स्थित है। उसके रहते हुए जो जीव शुभास्रव द्वार का उद्घाटन करता है अर्थात् पापास्रव के कारणभूत मिथ्यात्व, विषय, कषाय, हिंसादि त्याग करके शुभास्रव के कारणभूत सम्यग्दर्शन, दया, दानादि में प्रवृत्त होता है। वह कैसे सदोष हो सकता है ? अर्थात् कभी भी नहीं हो सकता है। इसलिये प्राथमिक जीव को परंपरा से मोक्ष के साधनभूत पुण्य को निदान रहित होकर सतत उपार्जन करना चाहिये।

(1) उत्कृष्ट(2) मध्यम (3) जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि संयम से रहित होने के कारण तथा सम्यग्दर्शन से सहित होने के कारण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य पात्र हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक विरताऽविरत होने से मध्यम पात्र हैं। समस्त पापों से विरत छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज उत्कृष्ट पात्र हैं। पात्र वे हैं जो मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त होते हैं।

दान में अहिंसाधर्म पलता

हिंसायाः पर्यायो, लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।

तस्मादतिथि वितरणं हिंसा व्युपरमणमेवेष्टम्।। (172)

In making a gift one gets over greed, which is a form of Himsa and hence gift made to a worthy recipient amount to a renunciation of Himsa.

व्याख्या - भावानुवाद : - लोभ भी हिंसा का नामान्तर है अर्थात् लोभ स्वयं भाव हिंसा है। इसलिये जहाँ लोभ है वहाँ अवश्य ही हिंसा है। जिस दान से निराकरण होता है उसे दान कहते है। जिसके कारण अतिथि के लिये दिया गया दान हिंसा को दूर करता है, लोभ को दूर करता है, वही दान इष्ट है, मान्य है।

जो दान नहीं देता वह हिंसक

गृहमागताय गुणिने, मधुकर वृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नाऽतिथये, स कथं नहि लोभवान् भवति।। (173)

व्याख्या - भावानुवाद : - जो पुरुष ऐसे अतिथि मुनियों के लिये आहार नहीं देता है वह किस प्रकार लोभवान् नहीं होगा अर्थात् वह निश्चय से लोभवान् होगा ही। जो मधुकर वृत्ति से गृहस्थों के घर में आते हैं तथा जो मूलगुण तथा उत्तरगुण से सहित होते हैं, भ्रमर वृत्ति से दूसरों को बिना क्लेश दिये हुए आहार ग्रहण करते हैं ऐसे मुनियों के लिये जो उपासक-श्रावक-गृहस्थ आहार नहीं देते हैं वे कैसे लोभवान् और हिंसक नहीं होंगे। अर्थात् वे अवश्य लोभवान् और हिंसक होंगे ही।

समीक्षा :- आचार्य श्री ने इस श्लोक में एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण विषय का उद्घाटन किया है। आचार्य श्री ने यह सिद्ध किया कि यदि केवल कोई अस्त्र-शस्त्रों से दूसरों की हत्या करता है तो वह ही हिंसक नहीं परन्तु जो योग्य पात्र को दान नहीं देता वह भी हिंसक है क्योंकि भाव हिंसा रूपी लोभ प्रवृत्ति उसके मन में व्याप्त है। इतना ही नहीं सम्यग्दृष्टि में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उसके धारकों के प्रति अनुराग, भक्ति, समर्पित भाव होता है। वह उनका आदर करता है, सत्कार करता है, सेवा करता है। इन गुणों से युक्त जीव ही सच्चा धार्मिक है। मेरा प्रायोगिक अनुभव है कि अनेक व्यक्ति भोग विलासिता के लिये तो अनाप-शनाप खर्चा करेंगे धार्मिक बाह्य आंडबरों के लिये, प्रदर्शन के लिये धन लुटायेंगे, नाम के लिये पंचकल्याणक आदि मेला-ठेला,भीड़-भाड़ में रूपयों की बोली लेंगे, अहिंसा का भाषण झाडेंगे परन्तु साधुओं को पानी तक नहीं पिलायेंगे, आहार नहीं देंगे ऐसे व्यक्ति यथार्थ से धार्मिक नहीं है, अहिंसक नहीं हैं परन्तु धर्मान्ध लोभी तथा हिंसक हैं। जो जीवन्त धर्म-स्वरूप साधु-सन्तों की आहार दानादि देकर वैयावृत्ति नहीं करते हैं वे सब जड़वादी, जड़पूजक, बाह्य आडम्बरी हैं। इसका विशेष वर्णन मैंने अपनी कृति ''आहार दान से अभ्युदय'', पूजा से मोक्ष, पुण्य तथा पाप भी'' आदि में किया है।

दान भी अहिंसाव्रत

कृत्मात्मार्थं मुनये, ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरति-विषाद-विमुक्तः, शिथलित लोभो भवत्यहिंसैव।। (174)

When one gives to a saint, food out of what he has prepared for himself such thought fully offered gift, which is without any disregard or regret, with suppressed greed, is itself Ahimsa.

व्याख्या भावानुवाद :- जो पूर्वोक्त प्रकार से नवधा-भक्ति, सप्तगुणों से युक्त होकर स्वयं के लिये बना हुआ शुद्ध भोजन मुनियों के लिये देता है वह दान उसके लिए अहिंसा रूप ही होता है। जो व्यक्ति अप्रेम/अभक्ति, खेद(विषाद) से रहित होकर संतोष, प्रसन्न चित्त से लोभ को मन्द करता हुआ आहार दान देता है वह अहिंसा व्रती होता है।

समीक्षा :- इसी ग्रन्थ में आचार्य श्री ने यत्र-तत्र-सर्वत्र हिंसा एवं अहिंसा का व्यापक, सूक्ष्म एवं सार्वभौम वर्णन किया है। वस्तुतः भाव की कलुषता ही हिंसा है और वह कलुषता लोभ, क्रोध, मान, माया, मिथ्यात्व आदि से आती है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार एवं आध्यात्मिक दृष्टि से लोभ-राग सबसे बड़ा पाप है, परिग्रह है, प्रमाद है, इसलिये लोकोक्ति है - ''लोभ पाप का बाप बखाना।'' ऐसे

ते दुर्गतौ चिरं भ्रान्त्वा तीव्रलोभाकुला ह्यघात्।
पुनः सर्पादिगत्याप्त्यै जायन्ते कृपणा भुवि।। (163)।।

जो कृपण पुरुष क्वचित् कदाचित् भी पात्रों के लिये दान नहीं देते हैं और तीन लोक की लक्ष्मी और सुख के इच्छुक होकर के भी जिनपूजा के लिये धन नहीं देते हैं वे कृपण अपने इस पाप के द्वारा तीव्र लोभ से आकुलित होकर चिरकाल तक दुर्गतियों में परिभ्रमण कर पुनः सर्प आदि की गति पाने वाले होते हैं। (श्री वीरवर्धमान चरिते)

वन्दना व स्वाध्याय आदि
धर्म कार्यों में विघ्न डालने का फल

णरइतिरियाइदुगइदारिद्दवियलंगहाणि दुक्खाणि।
देवगुरुसत्थवंदणसुयभेयसज्झादाणविघणफलं।। (37) रयण.

पद्य- देव-शास्त्र-गुरु वन्दन श्रुत स्वाध्याय दान विघ्न फल।
नरक-तिर्यंचादि दुर्गति दरिद्र विकलांगादि दुःख भोग।। (1)
समीक्षा- जो शुभ कार्यों में बाधा डाले वह बान्धे अन्तराय कर्म।
दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य में उसे नहीं मिलता सुफल।।(2)
ऐसे जीव होते ईर्ष्यालु दंभी जिससे वे अविवेकी होते।
जिससे वे असंयमी होकर शुभ कार्यो में विघ्न डालते।। (3)

अन्तराय कर्म का आस्रव

विघ्नकरणमन्तरायस्य। (27) मोक्ष शा.

The inflow of obstrcutive अन्तराय Karma is caused by disturbing others in दान Charity लाभ gain, भोग enjoyment of consumable things; and वीर्य making use of their powers.

दानादिक में विघ्न डालना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

दानादि का विघात करना विघ्न कहलाता है। दानादि अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। किसी के दान लाभादि में विघ्न उपस्थित करना विघ्न कहलाता है। ज्ञान का प्रतिच्छेद सत्कारोपघात (किसी के सत्कार में विघ्न डालना) दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, विभूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदि में विघ्न करना, किसी के विभव, समृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग नहीं करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, देवता के लिए निवेदित किये गये या अनिवेदित किये गये द्रव्य का ग्रहण करना, देवता का अवर्णवाद करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग, दूसरों की शक्ति का अपहरण, धर्म का व्यवच्छेद करना, कुशल चारित्र वाले तपस्वी, गुरु तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ आदि को दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र, आश्रय, आदि में विघ्न करना, परनिरोध, बन्धन, गुह्य अंगच्छेदन, कान, नाक, ओंठ आदि का काट देना, प्राणिवध आदि अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम्।
अनाथदीनकृपणभिक्षादिप्रतिषेधनम्।। (55)

वधबन्धनिरोधैश्च नासिकाच्छेदकर्तनम्।
प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा।। (56)
निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम्।
दानभोगोपभोगादिप्रत्यूहकरणं तथा।। (57)
ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा।
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः।। (58) (तत्त्वार्थसार)

तपस्वी गुरु और प्रतिमाओं की पूजा न करने की प्रवृत्ति चलाना, अनाथ, दीन तथा कृपण मनुष्यों को भिक्षा आदि देने का निषेध करना, वध-बन्धन तथा अन्य प्रकार की रुकावटों के साथ पशुओं की नासिका आदि का छेद करना, देवताओं को चढ़ाये हुए नैवेद्य का प्रमाद से ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का परित्याग करना(जिन पीछी या कमण्डल आदि उपकरणों में कोई खराबी नहीं आई है उन्हें छोड़कर नये ग्रहण करना) जीवों का घात करना, दान-भोग-उपभोग आदि में विघ्न करना, ज्ञान का प्रतिषेध करना-स्वाध्याय या पठन-पाठन का निषेध करना तथा धर्मकार्यों में विघ्न करना ये सब अन्तराय-कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

पञ्चमकाल में विशुद्धि की हीनता (काल प्रभाव)

सम्मविसोही तवगुणचारित्तं सण्णाण दाणं परिहीणं।
भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियदं।। (38) रयण.

पद्य- भरत क्षेत्र में दुषमा काल में मनुष्यों में होते नीच गुण।
सम्यक्त्व विशुद्धि तप-गुण चारित्र सुज्ञान दान परिहीन।। (1)

(13) बछड़ों से वहन किये हुए रथ को देखने से बहुधा करके लोग तारुण्य अवस्था में संयम ग्रहण करेंगे किन्तु शक्ति के घट जाने से वृद्धा अवस्था को धारण नहीं कर सकेंगे।

(14) ऊँट पर चढ़े हुए राजपुत्र को देखने से ज्ञात होता है कि राजा लोग निर्मल धर्म को छोड़कर हिंसा मार्ग स्वीकार करेंगे।

रजसाऽच्छादित सद्रत्नराशेरी क्षणतो मृशम्।
करिष्यन्ति नपाः स्तेयां निर्ग्रन्थमुनयो मिथः।।(47)

(15) धूलि से आच्छादित रत्नराशि को देखने से निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर में निन्दा करने लगेंगे।

(16) काले हाथियों का युद्ध देखने से मेघ मनोभिलाषित नहीं बरसेंगे।

भद्रबाहु स्वामी के मुख से स्वप्न के विचित्र फल को सुनकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने विशाल भारत का शासन छोड़कर भद्रबाहु स्वामी से निर्ग्रन्थ दिगम्बरी दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करके स्वर्ग सिधारे।

चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा देखे हुए स्वप्नों का जो फल भद्रबाहु स्वामी ने भविष्यवाणी रूप से जो घोषणा की थी वह घोषणा आज सत्य साबित हो रही है। चन्द्रगुप्त मौर्य का स्वप्न स्वप्न ही नहीं रहा किन्तु वास्तविक रूप में परिणत होते हुए अनुभव में आ रहा हैं। तीसरे स्वप्न में चन्द्रमण्डल को बहुत छिद्र युक्त देखने का फल कलिकाल में जिनमत में अनेक मत, सम्प्रदाय पंथप्रादुर्भाव होने का निर्णय भद्रबाहु स्वामी ने किया था। उसका वास्तविक रूप आज अहिंसा परायण साम्यवादी अनेकांत एवं स्याद्वाद के पुजारी जैनियों में अनेक मतभेद होते जा रहे हैं, जो धर्म समस्त विवादों का विनाशक एवं समता, एकता का विधाता था। आज उसी धर्म में छोटी-छोटी बातों को लेकर तनाव, विवाद, मन-मुटाव, मुकदमा, शीतयुद्ध चल रहा है। इसमें केवल साधारण जैन ही भाग नहीं ले रहे हैं किन्तु विशिष्ट श्रावक नेता, कर्णधार पंडित, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, मुनि, आर्यिका, उपाध्याय, आचार्य आदि भी सक्रिय भाग ले रहे हैं। पहले दीपक के नीचे अंधकार रहता था, किन्तु वैज्ञानिक युग में बल्ब, ट्यूब आदि के नीचे अंधकार है, इसी प्रकार पहले मिथ्या कुधर्म में विवाद आदि होता था। परन्तु आज जैन धर्म में भी अधिक विवाद हो रहा है, यह सब कर्म दोष से संकुचित स्वार्थान्ध मनोभाव से कलियुग के प्रभाव से हो रहा है। कलियुग की दयनीय परिस्थिति का चित्रण करते हुए चित्रकों ने यथार्थ से कहा है-

सीदंति संतो विलसत्यसंतः पुत्रा म्रियंते जनकश्चिरायुः।
परेषु मैत्री स्वजनेषु वैरं पश्यन्तु लोकाः कलिकौतुकानि।।

हे विश्व के लोगों। कलिकाल के आश्चर्यपूर्ण कौतुक को देखिये! इस कलिकाल में सज्जन लोग दुःखित होते हैं तथा दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त होते हैं,

पुत्र का मरण होता है तथा पिता दीर्घजीवी होता है। दूसरें से मित्रता करते हैं तथा स्वजन से वैरभाव रखते हैं।

अनृते पटुता चौरे चित्तं सतामपमानता। (पुत्राः पितुर्द्वेषिणः)
मतिरविनये धर्मे शां गुरुष्वपि वंचना।।
ललित मधुर वाक् प्रत्यक्षे परोक्ष विभाषिणी।
कलियुग महाराजस्यैताः स्फुरन्ति विभूतयः।।

झूठ बोलने में चतुर, दक्ष, चोरी में दत्त चित्त, सज्जनों का अपमान, पुत्र पिता से द्वेष करने वाला, अविनीत मति, धर्म में शठता(मायाचारी) गुरु की भी वंचना,प्रत्यक्ष में ललित मधुर वचन बोलना एवं परोक्ष में विपरीत भाषण करना यह सब कलियुग महाराज के वैभव का विस्तार है।

धर्मः प्रज्वलितस्तपः प्रचिलितं, सत्यं च दूरे गतं।
पृथ्वी मन्दफला नृपोऽति कुटिलो, लौल्यं गता ब्राह्मणाः।।
लोकोः स्त्रीषुरताः स्त्रीयोऽति चपलाः शास्त्रागमे विप्लवः।
साधुःसीदति दुर्जनः प्रभवति प्रायः प्रविष्टे कलौ।।

कलिकाल के प्रवेश से धर्म एवं प्रज्वलित तप चलायमान हो जाते हैं, सत्य दूर भाग जाता है, पृथ्वी कम फल देने वाली हो जाती है, राजा अत्यन्त कुटिल तथा ब्राह्मण अत्यन्त लोलुपी हो जाते हैं, लोग स्त्री में आसक्त रहते हैं, स्त्री अत्यन्त चंचल हो जाती है, शास्त्र-आगम में अनेक विप्लव होते हैं, साधु दुःख पाते हैं, दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त करते हैं।

निर्वीर्यो पृथिवी, निरोषधिरसो, नीचा महत्वं गताः।
भूपाला निज कर्म धर्म रहिता, विप्राः कुमार्गे रताः।।
भार्या भर्तृ विरोधिनी पररता, पुत्राः पितृद्वेषिणो।
हा कष्टं खलु वर्तते कलियुगे धन्या नराः सज्जनाः।।

दुःख की बात है कि कलियुग में पृथ्वी वीर्यहीन(सारहीन) हो जाती है, रस, प्राण-शक्ति को देने वाली औषधि से रहित पृथ्वी हो जाती है, नीच लोग महत्व को प्राप्त हो जाते हैं, राजा लोग स्व-कर्त्तव्य एवं धर्म से रहित हो जाते हैं,

ब्राह्मण लोग कुमार्ग में गमन करते हैं, स्त्री (भार्या) पति विरोधिनी होकर पर पुरुष में रत होती है, पुत्र पिता के द्वेषी हो जाते हैं। इसी प्रकार भयंकर कलियुग में जो नर धर्म, नीति, नियम को पालन करते हैं, वे धन्य हैं।

कलिकाल में धर्म करने वाले धन्य

धन्या भारतवर्ष संभवजना योऽद्यापि काले कलौ।
निस्तीर्थेश्वर केवले निरवद्यो भ्रश्यन्मनःपर्यये।
त्रुट्यच्छ्रोत्र विशेष संपदि भव दौर्गत्य दुःखापदि।
श्री जैनेन्द्रवचोनुरागवशतः कुर्वित धर्मोद्यमम्।।

वर्तमान घोर पंचम कलिकाल में तीर्थंकर, केवली, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानियों का अभाव है, योग्य श्रोताओं का भी अभाव है, विशेष वैभव से रहित, दरिद्रता आदि संकट से सहित कलियुग के मनुष्य है। इसी प्रकार विपरीत कलियुग में भी जिनेन्द्र देव के वचनानुसार धर्म में उद्यत होते हैं वे अत्यन्त अभिनंदनीय, अभिवंदनीय एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

प्राचीन काल में अर्थात् चतुर्थ काल में धर्म साधन के अनुकूल परिस्थिति थी। इसलिये उस समय में धर्म का आचरण करना सरल साध्य था, परन्तु वर्तमान पंचम काल में विपरीत परिस्थिति में धर्म आचरण कष्ट साध्य है। जैसे अनुकूल जल के स्रोत में नौका को खेकर ले जाना सरल सहज है, परन्तु प्रतिकूल स्रोत में नौका को खेकर ले जाना श्रम साध्य है। जो प्रतिकूल स्रोत में एवं तूफान के समय में नौका को खेकर अपने गंतव्य स्थान में बढ़ते हैं, वह जैसे धन्यवाद के पात्र है उसी प्रकार उपर्युक्त कलिकाल में जो धर्म का श्रद्धापूर्वक, विवेकपूर्वक पालन करते हैं वे धन्य हैं। कलिकाल में अधिकांश लोग श्रद्धा, विवेक एवं आत्मकल्याण की बुद्धि से रहित होकर धर्माचरण अहंकार की पुष्टि, ख्याति, लाभ, कीर्ति के लिये करते हैं। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है -

भयं दक्षिण्य कीर्ति च लज्ज्या आशा तथैव च।
पचभिः पंचमेकाले जैनो धर्मः प्रवर्तते।।

पंचम काल में लोग जैन धर्म को (1) लोकभय (2) अन्य का मनःदुखित

न होने के लिये (3) कीर्ति (4) लज्जा(5) आशा से पालन करेंगे।

श्रद्धा, विवेक, आत्म विशुद्धि से रहित होकर कुछ संकुचित स्वार्थनिष्ठ मनोभाव से धर्माचरण के कारण जब उस संकुचित स्वार्थ निष्ठ भाव को धक्का लगता है, तब वे धर्म से उस प्रकार टूट पड़ते हैं जिस प्रकार रत्न के समान प्रतिभाषित काँच थोड़े से धक्के के कारण टूटकर नीचे गिर पड़ता है, परन्तु यथार्थ से जो रत्न होता है वह सामान्य धक्के से टूटकर नहीं गिरता है। इसी प्रकार जो यथार्थ धर्मात्मा होता है वह सामान्य प्रतिकूल अवस्था से प्रतिघातित होकर धर्म से च्युत नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि जो छोटी-छोटी बातों को लेकर धर्म में कलह उत्पन्न करके धर्म, समाज, राष्ट्र देश में फूट डालकर आतंकवाद मचा देते हैं वे यथार्थ से धर्मात्मा नहीं है।

जो अज्ञानान्धकाररूप वस्त्र से आच्छादित जगत् को प्रकाशित करनेवाले हैं तथा सब ओर फैलनेवाली ज्ञानरूपी प्रभा के भार से अत्यन्त उद्भासित-शोभायमान हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्ररूपी सूर्य को हमारा नमस्कार है। जिसकी महिमा अजेय है, जो मिथ्यादृष्टियों के शासन का खण्डन करनेवाला है, जो नय प्रमाण के प्रकाश से सदा प्रकाशित रहता है और मोक्षलक्ष्मी का प्रधान कारण है ऐसा जिनशासन निरन्तर जयवन्त हो। श्री अरहन्त भगवान् ने जिसके द्वारा पापरूपी शत्रुओं की सेना को सहज ही जीत लिया था ऐसा जयनशील जिनेन्द्र प्रणीत रत्नत्रयरूपी अस्त्र हमेशा जयवन्त रहे। जिस अग्रपुरुष-पुरुषोत्तम ने इन्द्र के वैभव को तिरस्कृत करनेवाले अपने साम्राज्य को तृण के समान तुच्छ समझते हुए मुनिदीक्षा धारण की थी, जिनके साथ ही केवल स्वामिभक्ति से प्रेरित होकर इक्ष्वाकु और भोजवंश के बड़े-बड़े हजारों राजाओं ने दीक्षा ली थी, जिनके निर्दोष चरित्र को धारण करने के लिए अमसर्थ हुए कच्छ महाकच्छ आदि अनेक राजाओं ने वृक्षों के पत्ते तथा छाल को पहिनना और वन में पैदा हुए कन्द-मूल आदि का भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया था, जिन्होंने आहार पानी का त्यागकर सर्वसहा पृथिवी की तरह सब प्रकार के उपसर्गों के सहन करने का दृढ़ विचार कर अनेक परीषह सहे थे तथा कर्मनिर्जरा के मुख्य कारण तप को चिरकाल तक तपा था, चिरकाल तक तपस्या करनेवाले जिन जिनेन्द्र के मस्तकपर बढ़ी हुई जटाएँ ध्यानरूपी अग्नि से जलाये गये कर्मरूप ईंधन से

निकलती हुई धूम की शिखाओं के समान शोभायमान होती थीं, मर्यादा प्रकट करने के अभिप्राय से स्वेच्छापूर्वक चलते हुए जिन भगवान् को देखकर सुर और असुर ऐसा समझते थे मानो सुवर्णमय मेरु पर्वत ही चल रहा है, जिन भगवान् को हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस के दान देने पर देवरूप मेघों ने पाँच प्रकार के रत्नों की वर्षा की थी, कुछ समय बाद घातियाकर्मरूपी शत्रुओं को पराजित कर देने पर जिन्हें लोकालोक को प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति प्राप्त हुई थी, जो सभारूपी सरोवर में बैठे हुए भव्य जीवों के मुखरूपी कमलों को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान थे, जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करनेवाले समीचीन धर्म का उपदेश दिया था, और जिनसे अपने वंश का माहात्म्य सुनकर वल्कलों को पहिने हुए भरतपुत्र मरीचिने लीलापूर्वक नृत्य किया था। ऐसे उन नाभिराजा के पुत्र वृषभचिह्न से सहित आदिदेव (प्रथम तीर्थंकर) भगवान् वृषभदेव को मैं नमस्कार कर एकाग्र चित्त से बार-बार उनकी स्तुति करता हूँ। इसके पश्चात्, जो धर्मसाम्राज्य के अधिपति हैं ऐसे अजितनाथ को आदि लेकर महावीर पर्यन्त तेईस तीर्थंकरों को भी नमस्कार करता हूँ। इसके बाद, केवलज्ञानरूपी साम्राज्य के युवराज पद में स्थित रहनेवाले तथा सम्यग्ज्ञानरूपी कण्ठाभरण को प्राप्त हुए गणधरों की मैं बार-बार स्तुति करता हूँ। हे भव्य पुरुषों! जो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आदि और अन्त से रहित है, उन्नत है, अनेक फलों को देनेवाला है, और विस्तृत तथा सघन छाया से युक्त है ऐसे श्रुतस्कन्धरूपी वृक्ष की उपासना करो। इस प्रकार देव गुरु शास्त्र के स्तवनों द्वारा मङ्गलरूप सत्क्रिया को करके मैं त्रेसठ शलाका (चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र) पुरुषों से आश्रित पुराण का संग्रह करूँगा। तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और उनके शत्रुओं-प्रतिनारायणों का भी पुराण कहूँगा। यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है इसलिए पुराण कहलाता है। इसमें महापुरुषों का वर्णन किया गया है अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने इसका उपदेश दिया है अथवा इसके पढ़ने से महान् कल्याण की प्राप्ति होती है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं। 'प्राचीन कवियों के आश्रय से इसका प्रसार हुआ है इसलिए इसकी पुराणता-प्राचीनता प्रसिद्ध ही है तथा इसकी महत्ता इस के माहात्म्य से ही प्रसिद्ध है इसलिऐ इसे महापुराण कहते हैं' ऐसा भी कितने ही विद्वान् महापुराण की

निरुक्ति-अर्थ करते हैं। यह पुराण महापुरुषों से सम्बन्ध रखनेवाला है तथा महान् अभ्युदय-स्वर्ग मोक्षादि कल्याणों का कारण है इसलिए महर्षि लोग इसे महापुराण मानते हैं। यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होने के कारण आर्ष, सत्यार्थ का निरूपक होने से सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने के कारण धर्मशास्त्र माना जाता है। 'इति इह आसीत् यहाँ ऐसा हुआ-ऐसी अनेक कथाओं का इसमें निरूपण होने से ऋषि गण इसे 'इतिहास' 'इतिवृत्त' और 'ऐतिह्य' भी मानते हैं। जिस इतिहास नामक महापुराण का कथन स्वयं गणधर देव ने किया है उसे मैं मात्र भक्ति से प्रेरित होकर कहूँगा क्योंकि मैं अल्पज्ञानी हूँ। बड़े-बड़े बैलों द्वारा उठाने योग्य भार को उठाने की इच्छा करने वाले बछड़े को जैसे बड़ी कठिनता पड़ती है वैसे ही गणधरदेव के द्वारा कहे हुए महापुराण को कहने की इच्छा रखनेवाले मुझ अल्पज्ञ को पड़ रही है। कहाँ तो यह अत्यन्त गम्भीर पुराणरूपी समुद्र और कहाँ मुझ जैसा अल्पज्ञ! मैं अपनी भुजाओं से यहाँ समुद्र को तैरना चाहता हूँ इसलिए अवश्य ही हँसी को प्राप्त होऊँगा। अथवा ऐसा समझिए कि मैं अल्पज्ञानी होकर भी अपनी शक्ति के अनुसार इस पुराण को कहने के लिए प्रयत्न कर रहा हूँ जैसे कि कटी पूँछवाला भी बैल क्या अपनी कटी पूँछ को नहीं उठाता? अर्थात् अवश्य उठाता है। यद्यपि यह पुराण गणधरदेव के द्वारा कहा गया है तथापि मैं भी यथाशक्ति इसके कहने का प्रयत्न करता हूँ। जिस रास्ते से सिंह चले हैं उस रास्ते से हिरण भी अपनी शकत्यानुसार यदि गमन करना चाहता है तो उसे कौन रोक सकता है? प्राचीन कवियों-द्वारा क्षुण्ण किये गये-निरूपण कर सुगम बनाये गये कथामार्ग में मेरी भी गति है क्योंकि आगे चलनेवाले पुरुषों के द्वारा जो मार्ग साफ कर दिया जाता है उस मार्ग में कौन पुरुष सरलतापूर्वक नहीं जा सकता है? अर्थात् सभी जा सकते हैं। अथवा बड़े-बड़े हाथियों के मर्दन करने से जहाँ वृक्ष बहुत ही विरले कर दिये गये हैं ऐसे वन में जंगली हस्तियों के बच्चे सुलभता से जहाँ-तहाँ घूमते ही हैं। अथवा जिस समुद्र में बड़े-बड़े मच्छों ने अपने विशाल मुखों के आघात से मार्ग साफ कर दिया है उसमें उन मच्छों के छोटे-छोटे बच्चे भी अपनी इच्छा से घूमते हैं। अथवा जिस रणभूमि में बड़े-बड़े शूरवीर योद्धाओं ने अपने शस्त्र-प्रहारों से शत्रुओं को रोक दिया है उसमें कायर पुरुष भी अपने को योद्धा मानकर निःशङ्क हो उछलता है।

तत्पुराणकवीनेव मत्वा हस्तावलम्बनम्।

महतोऽस्य पुराणोब्धेस्तरणायोद्यतोऽस्म्यहम्।। (35)

इसलिए मैं प्राचीन कवियों को ही हाथ का सहारा मानकर इस पुराणरूपी समुद्र को तैरने के लिए तत्पर हुआ हूँ।

महत्यस्मिन् पुराणाब्धौ शाखाशततरङ्गके।

स्खलितं यत्प्रमादान्मे तद् बुधाः क्षन्तुमर्हथ।। (36)

सैकड़ों शाखारूप तरङ्गों से व्याप्त इस पुराणरूपी महासमुद्र में यदि मैं कदाचित् प्रमाद से स्खलित हो जाऊँ-अज्ञान से कोई भूल कर बैठूँ तो विद्वज्जन मुझे क्षमा ही करेंगे।

कविप्रमादजान् दोषनपास्यास्मात् कथामृतात्।

सन्तो गुणान् जिघृक्षन्तु गुणगृह्यो कि सज्जनः।। (37)

सज्जन पुरुष कवि के प्रमाद से उत्पन्न हुए दोषों को छोड़कर इस कथारूपी अमृत से मात्र गुणों के ही ग्रहण करने की इच्छा करें क्योंकि सज्जन पुरुष गुण ही ग्रहण करते हैं।

सुभाषितमहारत्नसंभृतेऽस्मिन् कथाम्बुधौ।

दोषग्राहाननादृत्य यतध्वं सारसंग्रहे।। (38)

उत्तम-उत्तम उपदेशरूपी रत्नों से भरे हुए इस कथारूपी समुद्र में मगरमच्छों को छोड़कर सार वस्तुओं के ग्रहण करने में ही प्रयत्न करना चाहिए।

कवयः सिद्धसेनाद्या वयं च कवयो मताः।

मणयः पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचकः।। (39)

पूर्वकाल में सिद्धसेन आदि अनेक कवि हो गये हैं और मैं भी कवि हूँ सो दोनों में कवि नाम की तो समानता है परन्तु अर्थ में उतना ही अन्तर है जितना कि पद्मराग मणि और काँच में होता है।

यद्वचोदर्पण कृत्स्नं वाङ्मंयं प्रतिबिम्बितम्।

तान् कवीन् बहुमन्येऽहं किमन्यैः कविमानिभिः।। (40)

इसलिए जिनके वचनरूपी दर्पण में समस्त शास्त्र प्रतिबिम्बत थे मैं उन कवियों को बहुत मानता हूँ-उनका आदर करता हूँ। मुझे उन अन्य कवियों से क्या प्रयोजन है जो व्यर्थ ही अपने को कवि माने हुए हैं।

नमः पुराणकारेभ्यो यद्वक्त्राब्जे सरस्वती।

येषामद्धा कवित्वस्य सूत्रपातायितं वचः।। (41)

मैं उन पुराण के रचनेवाले कवियों को नमस्कार करता हूँ जिनके मुखकमल में सरस्वती साक्षात् निवास करती है तथा जिनके वचन अन्य कवियों की कविता में सूत्रपात का कार्य करते हैं-मूलभूत होते हैं।

प्रवादिकरियूधानां केसरी नयकेसरः।

सिद्धसेनकविर्जीयात् विकल्पनखराङ्कुर।। (42)

वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हों जो कि प्रवादीरूप हाथियों के झुण्ड के लिए सिंह के समान हैं, नैगमादि नय की जिनकी केसर (अयाल-गरदनपर-के बाल) तथा अस्ति नास्ति आदि विकल्प ही जिनके पैने नाखून थे।

नमः समन्तभद्राय महते कविवेध से।

यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः।। (43)

मैं उन महाकवि समन्तभद्र को नमस्कार करता हूँ जो कि कवियों में ब्रह्मा के समान हैं और जिनके वचनरूपी वज्र के पात से मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते थे।

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि।

यशः सामन्तभद्रायं मूर्धिन चूडामणीयते।। (44)

स्वतन्त्र कविता करनेवाले कवि, शिष्यों को ग्रन्थ के मर्म तक पहुँचानेवाले गमक-टीकाकार, शास्त्रार्थ करनेवाले वादी और मनोहर व्याख्यान देनेवाले वाग्मी इन सभी के मस्तकपर समन्तभद्र स्वामी का यश चूड़ामणि के समान आचरण करनेवाला है, अर्थात् वे सब में श्रेष्ठ हैं।

श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये।

कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने।। (45)

मैं उन श्रीदत्त के लिए नमस्कार करता हूँ जिनका शरीर तपोलक्ष्मी से अत्यन्त सुन्दर है और जो प्रवादीरूप हस्तियों के भेदन में सिंह के समान थे।

विदुष्विणीषु संसत्सु यस्य नामापि कीर्तितम्।

निखर्वयति तद्गर्व यशीभद्रः स पातु नः।। (46)

विद्वानों की सभा में जिनका नाम कह देने मात्र से सबका का गर्व दूर हो जाता है वे यशोभद्र स्वामी हमारी रक्षा करें।

चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।

कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्।। (47)

मैं उन प्रभा चन्द्र कवि की स्तुति करता हूँ जिनका यश चन्द्रमा की किरणों के समान अत्यन्त शुक्ल है और जिन्होंने चन्द्रोदय की रचना करके जगत् को हमेशा के लिए आह्लादित किया है।

चन्द्रोदयकृतस्तस्य यशः केन न शस्यते।

यदाकल्पमनाम्लानि सतां शेखरतां गतम्।। (48)

वास्तव में चन्द्रोदय की (न्यायकुमुदचन्द्रोदय की) रचना करनेवाले उन प्रभाचन्द्र आचार्य के कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाले तथा सज्जनों के मुकुट भूत यश की प्रशंसा कौन नहीं करता? अर्थात् सभी करते हैं।

शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाराध्यचतुष्टयम्।

मोक्षमार्ग स पायान्नः शिवकोटिर्मुनीश्वरः।। (49)

जिनके वचनों से प्रकट हुए चारों आराधनारूप मोक्षमार्ग (भगवती आराधना) की आराधना कर जगत् के जीव सुखी होते हैं वे शिवकोटि मुनीश्वर भी हमारी रक्षा करें।

काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रबलवृत्तयः।

अर्थान् स्मानुवदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात्।। (50)

जिनकी जटारूप प्रबल-युक्ति पूर्ण वृत्तियाँ-टीकाएँ काव्यों के अनुचिन्तन में ऐसी शोभायमान होती थीं मानो हमें उन काव्यों का अर्थ बतला रही हों, ऐसे वे जटासिंहनन्दि आचार्य (वराङ्गचरित के कर्ता) हम लोगों की रक्षा करें।

धर्मसूत्रनुगा हृद्या यस्य वाङ्मणयोऽमलाः।

कथालंकारतां भेजुः काणभिक्षुर्जयत्सौ।। (51)

वे काणभिक्षु जयवान् हों जिनके धर्मरूप सूत्र में पिरोये हुए मनोहर वचनरूपी

निर्मल मणि कथाशास्त्र के अलंकार को प्राप्त हुए थे अर्थात् जिनके द्वारा रचे गये कथाग्रन्थ सब ग्रन्थों में अत्यन्त श्रेष्ठ हैं।

कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थ यस्य वचीमयम्।। (52)

जो कवियों में तीर्थंकर के समान थे अथवा जिन्होंने कवियों को पथप्रदर्शन करने के लिए किसी लक्षणग्रन्थ की रचना की थी और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानों के शब्दसम्बन्धी दोषों को नष्ट करनेवाला है ऐसे उन देवाचार्य-देवनन्दी का कौन वर्णन कर सकता है?

भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः।। (53)

भट्टाकलङ्क, श्रीपाल और पात्रकेसरी आदि आचार्यों के अत्यन्त निर्मल गुण विद्वानों के हृदय में मणिमाला के समान सुशोभित होते हैं।

कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम्।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः।। (54)

वे वादिसिंह कवि किसके द्वारा पूज्य नहीं है जो कि कवि, प्रशस्त व्याख्यान देनेवाले और गमकों-टीकाकारों में सबसे उत्तम थे।

श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः।
स नः पुनातु पूतात्मा कविवृन्दारको मुनिः।। (55)
लोकवित्त्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम्।
वाङ्मिताऽवाङ्मिता यस्य वाचा वाचस्पतेरपि।। (56)

वे अत्यन्त प्रसिद्ध वीरसेन भट्टारक हमें पवित्र करें जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है, जो कवियों में श्रेष्ठ हैं, जो लोकव्यवहार तथा काव्यस्वरूप के महान् ज्ञाता हैं तथा जिनकी वाणी के सामने औरों की तो बात ही क्या, स्वयं सुरगुरु बृहस्पति की वाणी भी सीमित-अल्प जान पड़ती है।

सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम्।
मन्मनःसरसि स्थेयान् भृदुपादकुशेशयम्।। (57)

धवलादि सिद्धान्तों के ऊपर अनेक उपनिबन्ध-प्रकरणों के रचनेवाले हमारे गुरु श्रीवीरसेन भट्टारक के कोमल चरणकमल हमेशा हमारे मनरूप सरोवर में विद्यमान रहें।

धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च विधुनिर्मलाम्।
धवलीकृतनिश्शेषभुवनां नन्नमीम्यहम्।। (58)

श्रीवीरसेन गुरु की धवल, चन्द्रमा के समान निर्मल और समस्त लोक को धवल करनेवाली वाणी (धवलाटीका) तथा कीर्ति में मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।

जन्मभूमिस्तपोलक्ष्म्याः श्रुतप्रशमयोर्निधिः।
जयसेनगुरुः पातु बुधवृन्दाग्रणीः स नः।। (59)
स पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः।
वागर्थसंग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः समग्रहीत्।। (60)

वे जयसेन गुरु हमारी रक्षा करें जो कि तपोलक्ष्मी के जन्मदाता थे, शास्त्र और शान्ति के भण्डार थे, विद्वानों के समूह के अग्रणी-प्रधान थे, वे कवि परमेश्वर लोक में कवियों द्वारा पूज्य थे जिन्होंने शब्द और अर्थ के संग्रहरूप समस्त पुराण का संग्रह किया था।

इन ऊपर कहे हुए कवियों के सिवाय और भी अनेक कवि हैं उनका गुणगान तो दूर रहा नाम मात्र भी कहने में कौन समर्थ हो सकता है? अर्थात् कोई नहीं। मङ्गल प्राप्ति की अभिलाषा मैं उन जगत्पूज्य सभी कवियों का सत्कार करता हूँ। संसार में वे ही पुरुष कवि हैं और वे ही चतुर हैं जिनकी कि वाणी धर्मकथा के अंगपने को प्राप्त होती है अर्थात् जो अपनी वाणी-द्वारा धर्मकथा की रचना करते हैं। कविता भी वही प्रशंसनीय समझी जाती है जो धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखती है। धर्मशास्त्र के सम्बन्ध से रहित कविता मनोहर होनेपर भी मात्र पापास्रव के लिए होती है। कितने ही मिथ्यादृष्टि कानों को प्रिय लगनेवाले-मनोहर काव्यग्रन्थों की रचना करते हैं परन्तु उनके वे काव्य अधर्मानुबन्धी होने-से धर्म शास्त्र के निरूपक न होने से सज्जनों को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। लोक में कितने ही कवि ऐसे भी हैं जो काव्यनिर्माण के लिए उद्यम करते हैं परन्तु वे बोलने की इच्छा रखनेवाले गूँगे पुरुष

की तरह केवल हँसी को ही प्राप्त होते हैं। योग्यता न होने पर भी अपने को कवि माननेवाले कितने ही लोग दूसरे कवियों के कुछ वचनों को लेकर उसकी छाया मात्र कर देते हैं अर्थात् अन्य कवियों की रचना में थोड़ा-सा परिवर्तन कर उसे अपनी मान लेते हैं जैसे कि नकली व्यापारी दूसरों के थोड़े-से कपड़े लेकर उसमें कुछ परिवर्तन कर व्यापारी बन जाते हैं।

श्रृंगारादि रसों से भरी हुई-रसीली कवितारूपी कामिनी के भोगने में-उसकी रचना करने में असमर्थ हुए कितने ही कवि उस प्रकार सहायकों की वांछा करते हैं जिस प्रकार कि स्त्री संभोग में असमर्थ कामीजन ओषधादि सहायकों की वांछा करते हैं। कितने ही कवि अन्य कवियों द्वारा रचे गये शब्द तथा अर्थ में कुछ परिवर्तन कर उनसे अपने काव्यग्रन्थों का प्रसार करते हैं जैसे कि व्यापारी अन्य पुरुषों द्वारा बनाये हुए माल में कुछ परिवर्तन कर अपनी छाप लगा कर उसे बेचा करते हैं। कितने ही कवि ऐसी कविता करते हैं जो शब्दों से तो सुन्दर होती है परन्तु अर्थ से शून्य होती है। उनकी यह कविता लाख की बनी हुई कंठी के समान उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त नहीं होती। कितने ही कवि सुन्दर अर्थ को पाकर भी उसके योग्य सुन्दर पदयोजना के बिना सज्जन पुरुषों को आनन्दित करने के लिए समर्थ नहीं हो पाते जैसे कि भाग्य से प्राप्त हुई कृपण मनुष्य की लक्ष्मी योग्य पद-स्थान योजना के बिना सत्पुरुषों को आनन्दित नहीं कर पाती। कितने ही कवि अपने इच्छानुसार काव्य बनाने का प्रारम्भ तो कर देते हैं परन्तु शक्ति न होने से उसकी पूर्ति नहीं कर सकते अतः वे टैक्स के भार से दबे हुए बहुकुटुम्बी व्यक्ति के समान दुःखी होते हैं। कितने ही कवि अपनी कविता द्वारा कपिल आदि आप्ताभासों के उपदिष्ट मत का पोषण करते हैं-मिथ्यामार्ग का प्रचार करते हैं। ऐसे कवियों का कविता करना व्यर्थ है क्योंकि कुकवि कहलाने की अपेक्षा अकवि कहलाना ही अच्छा है। कितने ही कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने न्याय, व्याकरण आदि महाविद्याओं का अभ्यास नहीं किया है तथा जो संगीत आदि कलाशास्त्रों से ज्ञान से दूर है फिर भी वे काव्य करने की चेष्टा करते हैं, अहो! इनके साहस को देखो। इसलिए बुद्धिमानों को शास्त्र और अर्थ की अच्छी तरह अभ्यास कर तथा महाकवियों की उपासना करके ऐसे काव्य की रचनी करनी चाहिए जो धर्मोपदेश से सहित हो, प्रशंसनीय हो और यश को बढ़ाने वाला हो। उत्तम कवि दूसरों के द्वारा

निकाले हुए दोषों से कभी नहीं डरना। क्या अन्धकार को नष्ट करनेवाला सूर्य उलूक के भय से उदित नहीं होता? अन्यजन सन्तुष्ट हों अथवा नहीं कवि को अपना प्रयोजन पूर्ण करने से प्रति ही उद्यम करना चाहिए। क्योंकि कल्याण की प्राप्ति अन्य पुरुषों की आराधना से नहीं होती किन्तु श्रेष्ठ मार्ग में उपदेश से होती है। कितने ही कवि प्राचीन हैं और किनते ही नवीन हैं तथा उन सबके मत जुदे-जुदे हैं अतः उन सबको प्रसन्न करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है? क्योंकि कोई शब्दों की सुन्दरता को पसंद करते हैं, कोई मनोहर अर्थसम्पत्ति को चाहते हैं, कोई समास की अधिकता को अच्छा मानते हैं और कोई पृथक्-पृथक् रहनेवाली अलमस्त पदावली को ही चाहते हैं। कोई मृदुल-सरल रचना को चाहते हैं, कोई कठिन रचना को चाहते हैं, कोई मध्मय श्रेणी की रचना पसन्द करते हैं और कोई ऐसे भी हैं जिनकी रुचि सब से विलक्षण-अनोखी है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचार होने के कारण बुद्धिमान् पुरुषों को प्रसन्न करना कठिन कार्य है। तथा सुभाषितों से सर्वथा अपरिचित रहनेवाले मूर्ख मनुष्य को वश में करना उनकी अपेक्षा कठिन कार्य है। दुष्ट पुरुष निर्दोष और मनोहर कथा को भी दूषित कर देते हैं, जैसे चन्दनवृक्ष की मनोहर कान्ति से युक्त नयी कोपलों को सर्प दूषित कर देते हैं।

सदोषामपि निर्दोषां करोति सुजनः कृतिम्।
धनात्यय इवापङ्कां सरसीं पङ्कदूषिताम्।। (82)

परन्तु सज्जन पुरुष सदोष रचना को भी निर्दोष बना देते हैं जैसे कि शरद् ऋतु पंकसहित सरोवरों का पंकरहित-निर्मल बना देती है।

दुर्जना दोषमिच्छन्ति गुणमिच्छन्ति सज्जनाः।
से तेषां क्षेत्रजो भावो दुश्चिकित्स्यश्चिरादपि।। (83)

दुर्जन पुरुष दोषों को चाहते हैं और सज्जन पुरुष गुणों को। उनका यह सहज स्वभाव है जिसकी चिकित्सा बहुत समय में भी नहीं हो सकती अर्थात् उनका यह स्वभाव किसी प्रकार भी नहीं छूट सकता।

यतो गुणधनाः सन्तो दुर्जना दोषवित्तकाः।
स्वधनं गृह्णतां तेषां कः प्रत्यर्थी बुधो जनः।। (84)

जब कि सज्जनों का धन गुण है और दुर्जनों का धन दोष, तब उन्हें अपना-अपना धन ग्रहण कर लेने में भला कौन बुद्धिमान पुरुष बाधक होगा?

दोषान् गृह्णन्तु वा कामं गुणास्तिष्ठन्तु नः स्फुटम्।
गृहीतदोषं यत्काव्यं जायते तद्धि पुष्कलम्।। (85)

अथवा दुर्जन पुरुष हमारे काव्य से दोषों को ग्रहण कर लेवें जिससे गुण-ही गुण रह जायें यह बात हम को अत्यन्त इष्ट है क्योंकि जिस काव्य से समस्त दोष निकाल किये गये हों वह काव्य निर्दोष होकर उत्तम हो जायेगा।

असतां दूयते चित्तं श्रुत्वा धर्मकथां सतीम्।
मन्त्रविद्यामिवाकर्ण्य महाग्रहविकारिणाम्।। (86)

जिस प्रकार मन्त्रविद्या को सुनकर भूत, पिशाचादि महाग्रहों से पीड़ित मनुष्यों का मन दुःखी होता है उसी प्रकार निर्दोष धर्मकथा को सुनकर दुर्जनों का मन दुःखी होता है।

मिथ्यात्वदूषितधियामरुच्यं धर्मभेषजम्।
सदप्यसदिवाभाति तेषां पित्तजुषामिव।। (87)

जिन पुरुषों की बुद्धि मिथ्यात्व से दूषित होती है उन्हें धर्मरूपी औषधि तो अरुचिकर मालूम होती ही है साथ में उत्तमोत्तम अन्य पदार्थ भी बुरे मालूम होते हैं जैसे कि पित्तज्वरवाले को औषधि या अन्य दुग्ध आदि उत्तम पदार्थ भी बुरे-कडुवे मालूम होते हैं।

सुभाषितमहामन्त्रान् प्रयुक्तान् कविमन्त्रिभिः।
श्रुत्वा प्रकोपमायान्ति दुर्ग्रहा इव दुर्जनाः।। (88)

कविरूप मन्त्रवादियों के द्वारा प्रयोग में लाये हुए सुभाषित रूप मन्त्रों को सुनकर दुर्जन पुरुष भूतादि ग्रहों के समान प्रकोप को प्राप्त होते हैं।

चिरप्ररूढदुर्ग्रन्थिवेणुमूलसमोऽनृजुः।
नर्जूकर्त्तुं खलः शक्यः श्वपुच्छसदृशोऽथवा।। (89)

जिस प्रकार बहुत दिन से जमे हुए बाँस की गाँठदार जड़ स्वभाव से टेढ़ी होती है उसे कोई सीधा नहीं कर सकता उसी प्रकार चिरसंचित मायाचार से पूर्ण

दुर्जन मनुष्य भी स्वभाव से टेढ़ा होता है उसे कोई सीधा-सरल परिणामी नहीं कर सकता अथवा जिस तरह कोई कुत्ते की पूँछ को सीधा नहीं कर सकता उसी तरह दुर्जन को भी सीधा नहीं कर सकता।

सुजनः सुजनीकर्तुमशक्तो यच्चिरादपि।
खलः खलीकरोत्येव जगदाशु तदद्भुतम्।। (90)

यह एक आश्चर्य की बात है कि सज्जन पुरुष चिरकाल के सतत प्रयत्न से भी जगत् को अपने समान सज्जन बनाने के लिए समर्थ नहीं हो पाते परन्तु दुर्जन पुरुष उसे शीघ्र ही दुष्ट बना लेते हैं।

सौजन्यस्य परा कोटिरनसूया दयालुता।
गुणपक्षानुरागश्च दौर्जन्यस्य विपर्ययः।। (91)
स्वभावमिति निश्चित्य सुजनस्येतरस्य च।
सुजनेष्वनुरागो नो दुर्जनष्वधीरणाः।। (92)

ईर्ष्या नहीं करना, दया करना तथा गुणी जीवों से प्रेम करना यह सज्जनता की अन्तिम अवधि है और इसके विपरीत अर्थात् ईर्ष्या करना, निर्दयी होना तथा गुणी जीवों से प्रेम नहीं करना दुर्जनता की अन्तिम अवधि है। यह सज्जन और दुर्जनों का स्वभाव ही है ऐसा निश्चय कर सज्जनों में तो विशेष राग ही करना चाहिए और न दुर्जनों का अनादर ही करना चाहिए।

कवीनां कृतिनिर्वाहे सतो मत्वावलम्बनम्।
कविताम्भोधिमुद्वेलं लिलङ्घयिषुरम्यहम्।। (93)

कवियों के अपने कर्त्तव्य की पूर्ति में सज्जन पुरुष की अवलम्बन होते हैं ऐसा मानकर मैं अलंकार, गुण, रीति आदि लहरों से भरे हुए कवितारूपी समुद्र को लाँघना चाहता हूँ अर्थात् सत्पुरुषों के आश्रय से ही मैं इस महान् काव्य ग्रन्थ को पूर्ण करना चाहता हूँ।

कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तज्ज्ञैर्निरुच्यते।
तत्प्रतीतार्थमग्राम्यं सालंकारमनाकुलम्।। (94)

काव्यस्वरूप के जाननेवाले विद्वान्, कवि के भाव अथवा कार्य को काव्य

कहते हैं। कवि का वह काव्य सर्वसंमत अर्थ से सहित, ग्राम्यदोष से रहित, अलंकार से युक्त और प्रसाद आदि गुणों से शोभित होना चाहिए।

केचिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम्।
वाचामलं क्रियां प्राहुस्तद्द्वयं नो मतं मतम्।। (95)

कितने ही विद्वान् अर्थ को सुन्दरता को वाणी का अलंकार कहते हैं और कितने ही पदों की सुन्दरता को, किन्तु हमारा मत है कि अर्थ और पद दोनों की सुन्दरता ही वाणी का अलंकार है।

सालंकारमुपारूढसमुद्भूतसौष्ठवम्।
अनुच्छिष्टं सतां काव्यं सरस्वत्या मुखायते।। (96)

सज्जन पुरुषों का बनाया हुआ जो काव्य अलंकारसहित, शृंगारादि रसों से युक्त, सौन्दर्य से ओतप्रोत और उच्छिष्टतारहित अर्थात् मौलिक होता है वह काव्य सरस्वती देवी के मुख के समान शोभायमान होता है अर्थात् जिस प्रकार शरीर में मुख सब से प्रधान अंग है उसके बिना शरीर की शोभा और स्थिरता नहीं होती उसी प्रकार सर्वलक्षणपूर्ण काव्य ही सब शास्त्रों में प्रधान है तथा उसके बिना अन्य शास्त्रों की शोभा और स्थिरता नहीं हो पाती।

अस्पृष्टबन्धलालित्यमपेतं रसवत्तया।
न तत्काव्यमिति ग्राम्यं केवलं कटु कर्णयोः।। (97)

जिस काव्य में न तो रीति की रमणीयता है, न पदों का लालित्य है और न रस का ही प्रवाह है उसे काव्य नहीं कहना चाहिए वह तो केवल कानों को दुःख देनेवाली ग्रामीण भाषा ही है।

सुश्लिष्टपदविन्यासं प्रबन्धं रचयन्ति ये।
श्राव्यबन्धं प्रसन्नार्थं ते महाकवयो मताः।। (98)

जो अनेक अर्थों को सूचित करनेवाले पदविन्यास से सहित, मनोहर रीतियों से युक्त एवं स्पष्ट अर्थ से उद्भासित प्रबन्धों-काव्यों की रचना करते हैं वे महाकवि कहलाते हैं।

महापुराणसंबन्धि महानायकगोचरम्।
त्रिवर्गफलमसंदर्भं महाकाव्यं तदिष्यते।। (99)

जो प्राचीनकाल के इतिहास के सम्बन्ध रखनेवाला हो, जिसमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र का चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ और काम के फल को दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं।

निस्तनन् कतिचिच्छ्लोकान् सर्वोऽपि कुरुते कविः।
पूर्वापरार्थघटनैः प्रबन्धो दुष्करो मतः।। (100)

किसी एक प्रकीर्णक विषय को लेकर कुछ श्लोकों की रचना तो सभी कवि कर सकते हैं परन्तु पूर्वापर का सम्बन्ध मिलाते हुए किसी प्रबन्ध की रचना करना कठिन कार्य है।

शब्दराशिपर्यन्तः स्वाधीनोऽर्थः स्फुटा रसाः।
सुलभाश्च प्रतिच्छन्दाः कवित्वे का दरिद्रता।। (101)

जब कि इस संसार में शब्दों का समूह अनन्त है, वर्णनीय विषय अपनी इच्छा के आधीन है, रस स्पष्ट हैं और उत्तमोत्तम छन्द सुलभ हैं तब कविता करने में दरिद्रता क्या है? अर्थात् इच्छानुसार सामग्री के मिलने पर उत्तम कविता ही करना चाहिए।

प्रयान्महति वाङ्मार्गे खिन्नोऽर्थगहनाटनैः।
महाकवितारुच्छायां विश्रमायाश्रयेत् कविः।। (102)

विशाल शब्दमार्ग में भ्रमण करता हुआ जो कवि अर्थरूपी सघन वनों में घूमने से खेद-खिन्नता को प्राप्त हुआ है उसे विश्राम के लिए महाकविरूप वृक्षों की छाया का आश्रय लेना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार महावृक्षों की छाया से मार्ग की थकावट दूर हो जाती है और चित्त हलका हो जाता है उसी प्रकार महाकवियों के काव्यग्रन्थों के परिशीलन से अर्थाभाव से होनेवाली सब खिन्नता दूर हो जाती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है।

प्रज्ञामूलो गुणोदग्रस्कन्धो वाक्पल्लवोज्ज्वलः।
महाकवितरुर्धत्ते यशः कुसुमभव्यरीम्।। (103) मञ्ज

प्रतिभा जिसकी जड़ है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएँ हैं, और उत्तम शब्द ही जिसके उज्ज्वल पत्ते हैं ऐसा वह महाकविरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमञ्जरी को धारण करता है।

प्रज्ञावेलः प्रसादोर्मिर्गुणरत्नपरिग्रहः।

महाध्वानः पृथुस्त्रोताः कविरम्भोनिधीयते।। (104)

अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे हैं, प्रसाद आदि गुण ही जिसमें लहरें हैं, जो गुणरूपी रत्नों से भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शब्दों से युक्त है, तथा जिसमें गुरुशिष्य परम्परा रूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकवि समुद्र के समान आचरण करता है।

हे विद्वान् पुरुषो! तुम लोग ऊपर कहे हुए काव्यरूपी रसायन का भरपूर उपयोग करो जिससे कि तुम्हारा यशरूपी शरीर कल्पान्त काल तक स्थिर रह सके। **भावार्थ**-जिस प्रकार रसायन सेवन करने से शरीर पुष्ट हो जाता है उसी प्रकार ऊपर कहे हुए काव्य, महाकवि आदि के स्वरूप को समझकर कविता करनेवाले का यश चिरस्थायी हो जाता है। जो पुरुष यशरूपी धन का संचय और पुण्यरूपी पण्य का व्यवहार-लेनदेन करना चाहते हैं उनके लिए धर्मकथा को निरूपण करनेवाला यह काव्य मूलधन (पूँजी) के समान माना गया है।

यह निश्चय कर मैं ऐसी कथा का आरम्भ करता हूँ जो कि धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली है, जिसका प्रारम्भ अनेक सज्जन पुरुषों के द्वारा किया गया है तथा जिसमें ऋषभनाथ आदि महापुरुषों के जीवनचरित्र का वर्णन किया गया है। जो धर्मकथा कल्पता के समान, फैली हुई अनेक शाखाओं (डालियों, कथा-उपकथाओं) से सहित है, छाया (अनातप, कान्ति नामक गुण) से युक्त है, फलों (मधुर फल, स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति) से शोभायमान है, आर्यो (भोगभूमिज मनुष्य, श्रेष्ठ पुरुषों)-द्वारा सेवित है, मनोहर है, और उत्तम है। अथवा जो धर्मकथा बड़े सरोवर के समान प्रसन्न (स्वच्छ, प्रसादगुण से सहित) है, अत्यन्त गम्भीर (अगाध, गूढ़ अर्थ से युक्त) है, निर्मल (कीचड़ आदि से रहित, दुःश्रवत्व आदि रोगों से रहित) है, सुखकारी है, शीतल है, और जगत्त्रय के सन्ताप को दूर करनेवाली है। अथवा जो धर्मकथा आकाशगंगा के समान गुरुप्रवाह (बड़े भारी प्रवाह, गुरुपरम्परा) से युक्त है, पंक (कीचड़, दोष) से रहित है, ताप (गरमी, संसारभ्रमणजन्य खेद) को नष्ट करनेवाली है, कुशल पुरुषों (देवों, गणधरादि चतुर पुरुषों)-द्वारा किये गये अवतार (प्रवेश, अवगाहन) से सहित है और पुण्य (पवित्र, पुण्यवर्धक) रूप है। अथवा जो

धर्मकथा चित्त को प्रसन्न करने, सब प्रकार के मंगलों का संग्रह करने तथा अपने-आप में जगत्त्रय के प्रतिबिम्बित करने के कारण दर्पण की शोभा को हँसती-हुई सी जान पड़ती है। अथवा जो धर्मकथा अत्यन्त उन्नत और अभीष्ट फल को देनेवाले श्रुतस्कन्धरूपी कल्पवृक्ष से प्राप्त हुई श्रेष्ठ बड़ी शाखा के समान शोभायमान हो रही है। अथवा जो धर्मकथा, प्रथमानुयोग गहरे समुद्र की वेला (किनारे) के समान महागम्भीर शब्दों से सहित है और फैले हुए महान् अर्थ रूप जल से युक्त है। जो धर्मकथा स्वर्ग मोक्षादि के साथ साधक समस्त तन्त्रों का निरूपण करनेवाली है, मिथ्यामत को नष्टकरनेवाली है, सज्जनों के संवेग को पैदा करनेवाली और वैराग्य रस को बढ़ानेवाली है। जो धर्मकथा आश्चर्यकारी अर्थों से भरी हुई है, अत्यन्त मनोहर है, सत्य अथवा परम प्रयोजन को सिद्ध करनेवाली है, अनेक बड़ी-बड़ी कथाओं से युक्त है, गुणवान् पूर्वोचार्यों द्वारा जिसकी रचना की गयी है। जो यश तथा कल्याण को करनेवाली है, पुण्यरूप है और स्वर्ग-मोक्षादि फलों को देनेवाली है ऐसी उस धर्मकथा को मैं पूर्व आचार्यों की आम्नाय के अनुसार कहूँगा। हे सज्जन पुरुषों, उसे तुम सब ध्यान से सुनो।

कथाकथकयोरत्र श्रोतणामपि लक्षणम्।
यावर्णनीयं प्रागेव कथारम्भे मनीषिभिः।। (117)

बुद्धिमानों को इस कथारम्भ के पहले से ही कथा, वक्ता और श्रोताओं के लक्षण अवश्य ही कहना चाहिए।

पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा।
सत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिणः।। (118)

तत्रापि मोक्ष पुरुषार्थ के उपयोगी होने से धर्म, अर्थ तथा काम का कथन करना कथा कहलाती है। जिसमें धर्म का विशेष निरूपण होता है उसे बुद्धिमान पुरुष सत्कथा कहते हैं।

तत्फलाभ्युदयाङ्गत्वादर्थकामकथा कथा।
अन्यथा विकथैवासावपुण्यास्रवकारणम्।। (119)

धर्म के फल स्वरूप जिन अभ्युदयों की प्राप्ति होती है उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं अतः धर्म का फल दिखाने के लिए अर्थ और काम का वर्णन करना भी

कथा कहलाती है। यदि यह अर्थ और काम की कथा धर्मकथा से रहित हो तो विकथा ही कहलायेगी और मात्र पापास्रव का ही कारण होगी।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरञ्जसा।
सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता।। (120)

जिससे जीवों का स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है वास्तव में वही धर्म कहलाता है उससे सम्बन्ध रखनेवाली जो कथा है उसे सद्धर्मकथा कहते हैं।

प्राहुर्धर्मकथाङ्गानि सप्त सप्तर्धिभूषणाः।
यैर्भूषिता कथाऽऽहार्ये र्नटीव भवेत्।। (121)

सप्त ऋद्धियों से शोभायमान गणधरादि देवों ने इस सद्धर्मकथा के सात अंग कहे हैं। इन सात अङ्गों से भूषित कथा अलङ्कारों से सजी हुई नटी के समान अत्यन्त सरस हो जाती है।

द्रव्यं क्षेत्रं तथा तीर्थं कालो भावः फलं महत्।
प्रकृतं चेत्यमून्याहुः सप्ताङ्गानि कथामुखे।। (122)

द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत ये सात अंग कहलाते हैं। ग्रंथ के आदि में इनका निरूपण अवश्य होना चाहिए।

द्रव्यं जीवादि षोढा स्यात्क्षेत्रं त्रिभुवनस्थितिः।
जिनेन्द्रचरितं तीर्थं कालस्त्रेधा प्रकीर्तितः।। (123)
प्रकृतं स्यात् कथावस्तु फलं तत्त्वावबोधनम्।
भावः क्षयोपशमजस्तस्य स्यात्क्षायिकोऽथवा।। (124)

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छह द्रव्य हैं, उर्ध्व, मध्य और पाताल ये तीन लोक क्षेत्र हैं, जिनेन्द्रदेव का चरित्र ही तीर्थ है, भूत, भविष्यत् और वर्तमान यह तीन प्रकार का काल है, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक ये दो भाव हैं, तत्त्वज्ञान का होना फल कहलाता है, और वर्णनीय कथावस्तु को प्रकृत कहते हैं।

इत्यमूनि कथाङ्गानि यत्र सा सत्कथा मता।
यथावसरमेवैषां प्रपञ्चो दर्शयिष्यते।। (125)

इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात अंग जिस कथा में पाये जायें उसे सत्कथा

कहते हैं। इस ग्रन्थ में भी अवसर के अनुसार इन अंगों का विस्तार दिखाया जायेगा।

वक्ता का लक्षण

तस्यास्तु कथकः सूरिः सद्वृत्तः स्थिरधीर्वशी।
कल्येन्द्रियः प्रशस्ताङ्गः स्पष्टमृष्टेष्टगीर्गुणः।। (126)
यः सर्वज्ञमताम्भोवाधौंतविमलाशयः।
अशेषवाङ्मलापायादुज्जवला यस्य भारती।। (127)
श्रीमाञ्जितसभो वाग्मो प्रगल्मः प्रतिमानवान्।
यः सतां संमतव्याख्यो वाग्विमर्दभरक्षमः।। (128)
दयालुर्वत्सलो धीमान् परेङ्गितविशारदः।
योऽधीती विश्वविद्यासु स धीरः कथयेत् कथाम्।। (129)

ऊपर कही हुई कथा का कहनेवाला आचार्य वही पुरुष हो सकता है जो सदाचारी हो, स्थिरबुद्धि हो, इन्द्रियों को वश में करनेवाला हो, जिसकी सब इन्द्रियाँ समर्थ हों, जिसके अंगोपांग सुन्दर हों, जिसके वचन स्पष्ट परिमार्जित और सबको प्रिय लगनेवालें हों, जिसका आशय जिनेन्द्रमत रूपी समुद्र के जल से धुला हुआ और निर्मल हो, जिसकी वाणी समस्त दोषों के अभाव से अत्यन्त उज्ज्वल हो, श्रीमान् हो, सभाओं को वश में करनेवाला हो, प्रशस्त वचन बोलने वाला हो, गम्भीर हो, प्रतिभा से युक्त हो, जिसके व्याख्यान को सत्पुरुष पसंद करते हों, अनेक प्रश्न तथा कुतर्कों को सहनेवाला हो, दयालु हो, प्रेमी हो, दूसरे के अभिप्राय को समझने में निपुण हो, जिसने समस्त विद्याओं का अध्ययन किया हो और धीर, वीर हो ऐसे पुरुष को ही कथा कहनी चाहिए।

नानोपाख्यानकुशलो नानाभाषाविशारदः।
नानाशास्त्रकलाभिज्ञः स भवेत् कथकाग्रणीः।। (130)

जो अनेक उदाहरणों के द्वारा वस्तुस्वरूप कहने में कुशल है, संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओं में निपुण है, अनेक शास्त्र और कलाओं का जानकार है वही उत्तम वक्ता कहा जाता है।

नाङ्गुलीभञ्जनं कुर्यान्न भ्रुवौ नर्तयद् ब्रुवन्।
नाधिक्षिपेन्न च हसेन्नात्युच्चैर्न शनैर्वदेत्।। (131)

वक्ता को चाहिए कि वह कथा कहते समय अंगुलियाँ नहीं चटकावे न भौंह ही चलावे, न किसी पर आक्षेप करे, न हँसे, न जोर से बोले और न धीरे ही बोले।

उच्चैः प्रभाषितव्यं स्यात् सभामध्ये कदाचन।
तत्राप्यनुद्धतं ब्रूयाद् वचः सभ्यमनाकुलम्।। (132)

यदि कदाचित् सभा के बीच में जोर से बोलना पड़े तो उद्धतपना छोड़कर सत्य प्रमाणित वचन इस प्रकार बोले जिससे किसी को क्षोभ न हो।

हितं ब्रूयान्मितं ब्रूयाद् ब्रूयाद् धर्म्यं यशस्करम्।
प्रसङ्गादपि न ब्रूयादधर्म्यमयशस्करम्।। (133)

वक्ता को हमेशा वही वचन बोलना चाहिए जो हितकारी हो, परिमित हो, धर्मोपदेश से सहित हो और यश को करनेवाला हो। अवसर आने पर भी अधर्मयुक्त तथा अकीर्ति को फैलानेवाले वचन नहीं कहना चाहिए।

इत्यालोच्य कथायुक्तिमयुक्तिपरिहारिणीम्।
प्रस्तूयाद यः कथावस्तु स शस्तो वदतां वरः।। (134)

इस प्रकार अयुक्तियों का परिहार करनेवाली कथा का युक्तियों का सम्यक् प्रकार से विचार करे जो वर्णनीय कथावस्तु का प्रारम्भ करता है वह प्रशंसनीय श्रेष्ठ वक्ता समझा जाता है।

आक्षेपिणी कथां कुर्यात् प्राज्ञः स्वमतसंग्रहे।
विक्षेपिणीं कथां तज्ज्ञः कुर्याद् दुर्भतनिग्रहे।। (135)
संवेदिनीं कथां पुण्यफलसंपत्प्रपञ्चने।
निर्वेदिनीं कथां कुर्याद् वैराग्यजननं प्रति।। (136)

बुद्धिमान् वक्ता को चाहिए कि वह अपने मत की स्थापना करते समय आक्षेपिणी कथा कहे, मिथ्या मत का खण्डन करते समय विक्षेपिणी कथा कहे, पुण्य के फलस्वरूप विभूति आदि का वर्णन करते समय संवेदिनी कथा कहे तथा वैराग्य उत्पादन के समय निर्वेदिनी कथा कहे।

इत धर्मकथाङ्गत्वादर्थाक्षिप्तां चतुष्टयीम्।
कथां यथार्हं श्रोतृम्यः कथकः प्रतिपादयेत्।। (137)

इस प्रकार धर्मकथा के अंगभूत आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी रूप चारों कथाओं का विचार कर श्रोताओं की योग्यतानुसार वक्ता को कथन करना चाहिए। अब आचार्य श्रोताओं के लक्षण कहते हैं-

श्रोता का लक्षण

धर्मश्रुतौ नियुक्ता ये श्रोतारस्ते मता बुधैः।
तेषां च सदसद्भावव्यक्तौ दृष्टान्तकल्पना।। (138)

जो हमेशा धर्मश्रवण करने में लगे रहते हैं विद्वानों ने उन्हें श्रोता माना है। अच्छे और बुरे के भेद से श्रोता अनेक प्रकार के हैं, उसके अच्छे और बुरे भावों के जानने के लिए नीचे लिखे अनुसार दृष्टान्तों की कल्पना की जाती है।

मृच्चालिन्यजमार्जारशुककङ्कशिलाहिभिः।
गोहंसमहिषच्छिद्रघटदंशजलौककैः।। (139)
श्रोतारः समभावाः स्युरुत्तमाधममध्यमाः।
अन्यादृशोऽपि सन्त्येव तत्किं तेषाभियत्तया।। (140)

मिट्टी, चलनी, बकरा, बिलाव, तोता, बगुला, पाषाण, सर्प, गाय, हंस, भैंसा, फूटा घडा, डाँस और जोंक इस प्रकार चौदह प्रकार के श्रोताओं के दृष्टान्त समझना चाहिए। **भावार्थ**-(1) जैसे मिट्टी पानी का संसर्ग रहते हुए कोमल रहती है, बाद में कठोर हो जाती है। इसी प्रकार जो श्रोता शास्त्र सुनते समय कोमल परिणामी हों परन्तु बाद में कठोर परिणामी हो जायें वे मिट्टी के समान श्रोता हैं। (2) जिस प्रकार चलनी सारभूत आटे को नीचे गिरा देती है और छोक को बचा रखती है उसी प्रकार जो श्रोता वक्ता के उपदेश में सारभूत तत्त्व को छोड़कर निःसार तत्त्व को ग्रहण करते हैं वे चलनी-के समान श्रोता हैं। (3) जो अत्यन्त कामी हैं अर्थात् शास्त्रोपदेश के समय शृंगार का वर्णन सुनकर जिनके परिणाम शृंगार रूप हो जावें ये अज के समान श्रोता हैं। (4) जैसे अनेक उपदेश मिलने पर भी बिलाव अपनी हिंसक प्रवृत्ति नहीं छोड़ता, सामने आते ही चूहे पर आक्रमण कर देता है उसी प्रकार जो

श्रोता बहुत प्रकार से समझाने पर भी क्रूरता को नहीं छोड़े, अवसर आने पर क्रूर प्रवृत्ति करने लगें वे मार्जार के समान श्रोता हैं। (5) जैसे तोता स्वयं अज्ञानी है दूसरों के द्वारा कहलाने पर ही कुछ सीख पाता है वैसे ही जो श्रोता स्वयं ज्ञान से रहित हैं दूसरों के बतलाने पर ही कुछ शब्द मात्र ग्रहण कर पाते हैं वे शुक के समान श्रोता हैं। (6) जो बगुले के समान बाहर से भद्रपरिणामी मालूम होते हों परन्तु जिनका अन्तरङ्ग अत्यन्त दुष्ट हो वे बगुला के समान श्रोता हैं। (7) जिनके परिणाम हमेशा कठोर रहते हैं तथा जिनके हृदय में समझाये जाने पर जिनवाणी रूप जल का प्रवेश नहीं हो पाता वे पाषाण के समान श्रोता हैं। (8) जैसे साँप को पिलाया हुआ दूध भी विषरूप हो जाता है वैसे ही जिनके समाने उत्तम-से उत्तम उपदेश भी खराब असर करता है वे सर्प के समान होता हैं। (9) जैसे गाय तृण खाकर दूध देती है वैसे ही जो थोड़ा-सा उपदेश सुनकर बहुत लाभ किया करते हैं वे गाय के समान श्रोता हैं। (10) जो केवल सार वस्तु को ग्रहण करते हैं वे हंस के समान श्रोता हैं। (11) जैसे भैंसा पानी तो थोड़ा पीता है और समस्त पानी को गँदना कर देता है।

इसी प्रकार जो श्रोता उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं परन्तु अपने कुतर्कों से समस्त सभा में क्षोभ पैदा कर देते हैं वे भैंसा के समान श्रोता हैं। (12) जिनके हृदय में कुछ भी उपदेश नहीं ठहरे वे छिद्र घट के समान श्रोता हैं। (13) जो उपदेश तो बिलकुल ही ग्रहण न करें परन्तु सारी सभा में व्याकुल कर दें वे डाँस के समान श्रोता हैं। (14) जो गुण छोड़क सिर्फ अवगुणों को ही ग्रहण करें वे जोंक के समान श्रोता है। इन ऊपर कहे हुए श्रोताओं के उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन-तीन भेद होते हैं। इनसे सिवाय और भी अन्य प्रकार के श्रोता हैं परन्तु उन सब की गणना से क्या लाभ है?

गोहंससदृशान् प्राहुरुत्तमान् मृच्छुकोपमान्।
मध्यमान् विदुरन्यैश्च समकक्ष्योऽधमो मतः।। (141)

इन श्रोताओं में जो श्रोता गाय और हंस के समान हैं वे उत्तम कहलाते हैं, जो मिट्टी और तोता के समान हैं उन्हें मध्यम जानना चाहिए और बाकी के समान अन्य सब श्रोता अधम माने गये हैं।

शेमुष्यब्दतुलादण्डनिकषोपलसन्निभाः।

श्रोतारः सत्कथारत्नपरीक्षाध्यक्षका मताः।। (142)

जो श्रोता नेत्र, दर्पण, तराजू और कसौटी के समान गुण-दोषों के बतलानेवाले हैं वे सत्कथारूप रत्न के परीक्षक माने गये हैं।

श्रोता न चैहिकं किंचित्फलं वाञ्छेत्कथाश्रुतौ।

नेच्छेद् वक्ता च सत्कारधनभेषजसत्क्रियाः।। (143)

श्रोताओं को शास्त्र सुनने के बदले किसी सांसारिक फल की चाह नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार वक्ता को भी श्रोताओं से सत्कार, धन, औषधि और आश्रय-घर आदि की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

श्रेयोऽर्थं केवलं ब्रूयात् सन्मार्ग शृणुयाच वै।

श्रेयोऽर्था हि सतां चेष्टा न लोकपरिपक्तये।। (144)

स्वर्ग, मोक्ष आदि कल्याणों की अपेक्षा रखकर ही वक्ता को सन्मार्ग का उपदेश देना चाहिए तथा श्रोता को सुनना चाहिए क्योंकि सत्पुरुषों की चेष्टाएँ वास्तविक कल्याण की प्राप्ति के लिए ही होती हैं अन्य लौकिक कार्यों के लिए नहीं।

श्रोता शुश्रुषताद्यैः स्वैगुणैर्युक्तः प्रशस्यते।

वक्ता च वत्सलत्वादियथोक्तगुणभूषणः।। (145)

जो श्रोता शुश्रूषा आदि गुणों से युक्त होता है वही प्रशंसनीय माना जाता है। इसी प्रकार को वक्ता वात्सल्य आदि गुणों से भूषित होता है और वही प्रशंसनीय माना जाता है।

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।

स्मृत्यूहापोहनिर्णीतीः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः।। (146)

शश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीति ये श्रोताओं के आठ गुण जानना चाहिए। **भावार्थ**-सत्कथा को सुनने की इच्छा होना शुश्रूषा गुण है, सुनना श्रवण है, समझकर ग्रहण करना ग्रहण है, बहुत समय तक उसकी धारणा रखना धारण है, पिछले समय ग्रहण किये हुए उपदेश आदि का स्मरण करना स्मरण है, तर्क-द्वारा पदार्थ के स्वरूप के विचार करने की शक्ति होना ऊह है, हेय वस्तुओं

को छोड़ना अपोह है और युक्ति द्वारा पदार्थ का निर्णय करना निर्णीति गुण है। श्रोताओं में इनका होना अत्यन्त आवश्यक है।

सत्कथाश्रवणात् पुण्यं श्रोतुर्यदुपचीयते।
तेनाभ्युदयसंसिद्धिः क्रमान्नैः श्रेयसी स्थितिः।। (147)

सत्कथा के सुनने श्रोताओं को जो पुण्य का संचय होता है उससे उन्हें पहले तो स्वर्ग आदि अभ्युदयों की प्राप्ति होती है और फिर क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इत्याप्तोक्त्यनुसारेण कथितं वः कथामुखम्।
कथावतारसंबन्धं वक्ष्यामः शृणुताधुनाः।। (148)

इस प्रकार मैंने शास्त्रों के अनुसार आप लोगों को कथामुख (कथा के प्रारम्भ) का वर्णन किया है अब इस कथा के अवतार का सम्बन्ध कहता हूँ सो सुनो।

कवि की नम्रता

क्वदं चरित्रं क्व मम प्रबोधः श्रीगौतमाद्यैः कथितं विशालम्।
आच्छादनैश्छादितसर्वभागो ज्ञानस्य सोऽहं प्रयते तथापि।। (155)
(पण्डवपु.)

श्रीगौतमादि ऋषियों का कहा हुआ यह विशाल पाण्डव-चरित्र कहाँ और मेरा ज्ञान कहाँ। मेरे ज्ञान के अंश में ज्ञानावरण से आच्छादित हुए हैं तथापि मैंने इसकी रचना में प्रयत्न किया है।

बालोऽन्तरीक्षगणनं न करोति किं वा,
भेकोऽपि सिन्धुपयसां गणनां न वा किम्।
रङ्कः स्ववीर्यनिचयं विवृणोति किं न,
सोऽहं तथा वरकथां कथयामि कांचित्।। (156)

अथवा क्या बालक आकाश की गणना नहीं करता है? क्या मेंढक भी समुद्र के पानी की गणना नहीं करता है? क्या दुर्बल मनुष्य भी अपने सामर्थ्य प्रगट नहीं करता है? वैसे मैंने भी यह सुंदर कथा संक्षेप से कही है।

संप्रार्थयामि नितरां वरसाधुसिंहान्,
सच्छास्त्रदूषणहरान्तपरतोषदातृन।

किं प्रार्थयामि नितरामसतः

प्रयत्नाच्छास्त्रस्य दूषणकरान्परदोषदातृन।। (157)

जो उत्तमशास्त्रों में से दोषों को हटाते हैं। जो अन्यजनों को आनंदप्रदान करते हैं ऐसे उत्तम साधुसिहों की मैं अतिशय प्रार्थना करता हूँ। परंतु जो प्रयत्न से शास्त्र को दूषित करते हैं तथा लोगों को दोष देते हैं उन दुष्टों की क्यों प्रार्थना करूँ? प्रार्थना करने से भी वे प्रसन्न नहीं होते हैं।

ये साधवः क्षितितले परकार्यरक्ता,

दोषालयऽपि विकृतिं न भजन्ति सर्गात्।

नक्षत्रवंशविभवेऽपि किरन्ति तोषं,

शुभ्रांशवो निजकरैः परितर्पयन्ति।। (158)

जो साधुगण इस भूतलपर हमेशा परकार्य करने में अनुरक्त होते हैं। वे दोषों के घर ऐसे मनुष्य पर भी स्वभाव से विकार युक्त नहीं होते हैं। योग्य ही है, कि चंद्र नक्षत्रसमूह का वैभव होने पर भी उनके ऊपर संतोष शांति की वर्षा करते हैं और अपनी किरणों से उनको सुखी करते हैं।

ये दुष्टतामससमूहगता विमार्गे,

शुभ्रांशुमार्गगहने कृतनित्यचित्ताः।

पङ्कावलिप्तनिजदेहभरा भृशं वै,

तेऽसाधवोऽन्धतमसं प्रकिरन्ति लोके।। (159)

जो असत्पुरुष हैं वे दुष्ट तामससमूह में-दुष्ट दुर्जनसमूह में रहना पसंद करते हैं, खोटे मार्ग में उनका मन हमेशा तत्पर होता है और शुभ्रांशुमार्ग में-निर्मल मार्ग के संकट में वे मन से प्रवृत्त होते हैं। उनके देह पाप से अत्यंत लिप्त होते हैं, ऐसे दुष्ट पुरुष जगत् में घन अज्ञान को फैलाते हैं।

सन्तोऽसन्तो ये भुवि जाताः स्थाने स्थाने तत्खलु कृत्यम्।

नो चेत्तेषां कः परिवेत्ता काचाभावे रत्नमिवात्र।। (160)

इस भूतल में जो सज्जन और दुर्जन उत्पन्न हुए हैं उनके कृत्य स्थान में ही दिखते हैं। यदि उनके कार्य नहीं दिखते तो उनको कौन जानता? जैसे काच के अभाव में यहाँ रत्न नहीं जाना जाता।

किं प्रार्थयामि भुवि तान्वरसाधुवर्गाञ्जल्पन्ति
ये परगुणानगुणान्न देवात्।
दोषेऽपि ये न ददते हितकारिदण्डं,
ते तुष्टभावनिवहा भुवने विभान्ति।। (161)

मैं उन उत्तम साधुसमूहों को क्या प्रार्थना करूँ जो दूसरों के गुणों की ही प्रशंसा करते हैं। दैवयोग से दोष दिखने पर भी हितकारक दण्ड भी शासन नहीं करते हैं ऐसे वे सज्जन इस भूतल में शोभते हैं।

निष्कास्य दोषकणिकां भुवि दर्शयन्ति,
प्रादाय दोषमखिलं परिजल्पयन्ति।
अन्यस्स दोषकथने स सदा विनिद्रा,
ये प्रार्थयामि खलु तानसतः प्रबुद्धान्।। (162)

जो अन्य जनों की दोष कणिका को देखते हैं। सब दोष ग्रहण करके जगत् में कहते फिरते हैं। दूसरों के दोष कथन में जो हमेशा निद्रारहित होते हैं उन दुष्ट विद्वानों को मैं निश्चय से प्रार्थना करूँगा।

कृत्वां पवित्रं परमं पुराणं तेषां च नो राज्यसुखं लिलिप्सुः।
अहं परं मुक्तिपदं प्रयाचे त्वद्भक्तितः सर्वमिदं फलि स्यात्।। (163)

उन पाण्डवों का पवित्र पुराण रचकर मैं राज्यसुख को नहीं चाहता हूँ। परंतु मैं केवल मुक्तिपद की याचना करता हूँ। क्यों कि भक्ति से सब सफल होता है अर्थात् भक्ति से चाहा हुआ पदार्थ मिलता है।

यदत्र सल्लक्षणयुक्तिहीनं छन्द स्वलंकारविरुद्धमेव।
शोध्यं बुधैस्तत्खलु शुद्धभावाः परोपकाराय बुधा यतन्ते।। (164)
छन्दास्यलङ्कारगणान्न वेद्मि काव्यानि शास्त्राणि पराण्यहं च।
जैनेन्द्रकालापकदेवनाथसच्छाकटादीनि च लक्षणानि।। (165)

मैंने रचे हुए इस पाण्डवपुराण में जो उत्तम लक्षणरहित और रचनाहीन छन्द रचा गया होगा। जिसमें व्याकरण और छन्दःशास्त्र की अपेक्षा दोष रहे होंगे। उपमादिक अलंकार के विरुद्ध भी रचना की गयी होगी। उसका संशोधन निर्मलबुद्धिवाले विद्वान्

करें क्योंकि सुज्ञलोक परोपकार के लिये प्रयत्न करते हैं। काव्य और अन्यशास्त्रों का भी मुझे बोध नहीं है। जैनेन्द्रव्याकरण, कालापव्याकरण (कांतत्र व्याकरण), देवनाथव्याकरण-इन्द्रव्याकरण और शाकटायन-व्याकरण आदि व्याकरणों को मैं नहीं जानता हूँ।

त्रैलोक्यसारदिसुलोकग्रन्थान्सद्गोमटादीन्वरजीवहेतून्।
सत्तर्कशास्त्राष्टसहस्त्रवीशान् नो वेदभ्यहं मोहवशीकृतान्तः।। (166)

त्रैलोक्यसारादिक लोक वर्णन वाले ग्रंथ, गोम्मटसारादिक जीव के हेतुभूत ग्रंथ-जीव का स्वरूप बतानेवाले ग्रंथ, मैं नहीं जानता हूँ तथा उत्तम तर्कशास्त्र ऐसे अष्टसहस्त्री आदि के ग्रंथों को मैं नहीं जानता हूँ, क्योंकि मेरा मन मोह के वश हुआ है अज्ञ है।

तादृग्विधोऽहं प्रगुणैर्जिनेशं स्तुवंश्च सद्भिः सकलैः परैश्च।
क्षाम्यः सदा कोपगणं विहाय बाल्ये जने को हि हितं न कुर्यात्।। (167)

इस तरह से संपूर्ण, उत्तम, प्रशस्त और प्रकर्षयुक्त ऐसे गुणों से जिनेश्वर-नेमिप्रभु की स्तुति करनेवाला अज्ञानी मैं कोप को छोड़कर आप से क्षमा करने योग्य हूँ। योग्य ही है, कि अज्ञ जन में कौन हित नहीं करेगा।

कविप्रशस्ति

श्रीमूलसङ्घेऽजनि पद्मनन्दी तत्पट्टधारी सकलादिकीर्तिः।
कीर्तिः कृता येन च मर्त्यलोके शास्त्रार्थकर्त्री सकलापि चित्रा।। (168)

श्रीमूलसंघ में पद्मनदि नामक आचार्य हुए। उनके पट्ट पर सकलकीर्ति भट्टारक आरूढ हुए। उन्होंने इस मनुष्यलोक में शास्त्रार्थ करने वाली नानाविध और पूर्ण ऐसी कीर्ति की है। अर्थात् प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के अनेक ग्रंथ रचकर अपनी कीर्ति शास्त्रार्थकर्त्री की है।

भुवनकीर्तिरभूद्भुवनाद्भुतैर्भुवनभासनचारुमतिः स्तुतः।
वरतपश्चरणोद्यतमानसो भवभयाहिखगेट् क्षितिवत्क्षमी।। (169)

भुवन में आश्चर्ययुक्त भुवनकीर्ति नामक आचार्य जो कि जगत् को प्रकाशित करनेवाली सुंदर बुद्धि के धारक थे, विद्वानों से प्रशंसे गये हैं। ये भुवनकीर्ति उत्तम

तपश्चरण में हमेशा उद्यतचित्त थे, संसारभयरूपी सर्प को गरुड थे और पृथ्वी के समान क्षमावान् थे।

चिद्रूपवेत्ता चतुरश्चिरन्तनश्चिद्भूषणश्चर्चितपादपङ्कजः।
सूरिश्च चन्द्रादिचयैश्चिनोतु वै चारित्रशुद्धिं खलु नः प्रसिद्धाम्।। (170)

इसके अनंतर चैतन्य के स्वरूप को जाननेवाले, चतुर, कर्पूर, चंदन आदि द्रव्यों के-समूह से जिन से जिनके चरणकमल पूजे गये हैं ऐसे चिरन्तन-वृद्ध, अनुभवी चिद्भूषणसूरि-ज्ञानभूषणसूरि हमारी प्रसिद्ध चारित्र-शुद्धि की वृद्धि करे।

विजयकीर्तियातिर्मुदितात्मको जिततताऽन्यमतः सुगतैः स्तुतः।
अवतु जैनमतं सुमतो मतो नृपतिभिर्भवतो भवतो विभुः।। (171)

जिनका आत्मा हमेशा आनंदित है, जिन्होंने विस्तीर्ण अन्यमतों को जीता है, विद्वानों ने जिनकी स्तुति की है, जो नृपतियों को मान्य हैं, जो उत्तम मत के धारक हैं अर्थात् स्याद्वादी हैं वे विजयकीर्ति प्रभु (भट्टारक) जैनमत की तथा आप की भव से-संसार की रक्षा करें।

पट्टे तस्य गुणाम्बुधिर्व्रतधरो धीमान्गरीयान्वरः
श्रीमच्छ्रीशुभचन्द्र एव विदितो वादीभसिंहो महान्
तेनेदं चरितं विचारसुकरं चाकारि चञ्चद्रुचा
पाण्डोः श्रीशुभसिद्धिसातजनकं सिद्धयै सुतानां मुदा।। (172)

उन विजयकीर्ति के पट्टपर गुणसमुद्र, व्रतधारक, ज्ञानवान्, महान्, श्रेष्ठ, श्रीमान्, महावादिरूपी हाथियों को सिंह ऐसा यह प्रसिद्ध शुभचन्द्र भट्टारक हुआ है। चमकने वाली कांति जिसकी है ऐसे इस शुभचन्द्रन ने विचारसुलभ, शुभ, सिद्धि और सुख देनेवाला पाण्डुराजा के पुत्रों का चरित आनंद से रचा है।

कविविरचित ग्रंथों की नामवली

चन्द्रनाथचरितं चरितार्थं पद्मनाभचरितं शुभचन्द्रम्।
मन्मथस्य महिमानमतन्द्रो जीवकस्य चरितं च चकार।। (173)

उत्तम अर्थ से भरा हुआ चन्द्रनाथचरित्र, शुभ और आनंददायक पद्मनाभचरित्र, 'प्रद्युम्न की महिमा' अर्थात् प्रद्युम्नचरित्र और जीव का चरित्र अर्थात् जीवंधरचरित्र ऐसे ग्रंथ आलस्यरहित होकर श्रीशुभचन्द्राचार्य ने बनाये हैं।

चन्दनायाः कथा येन दृब्धा नान्दीश्वरी तथा।
आशाधरकृताचार्या वृत्तिः सद्वृत्तिशालिनी।। (174)

इस शुभचन्द्रभट्टारक ने 'चन्दनों की कथा रची है तथा नांदीश्वरी कथा-नन्दीश्वरव्रत की कथा रची है। उत्तम रचना से शोभनेवाली आशाधरकृत आचारशास्त्र के ऊपर वृत्ति लिखी है अर्थात् आशाधरकृत अनगारधर्मामृत के ऊपर लिखी है।'

त्रिंशचतुर्विंशतिपूजनं च सद्वृध्दसिद्धार्चनमाव्यधत्त।
सारस्वतीयार्चनमत्र शुद्धं चिन्तामणीयार्चनमुचरिष्णुः।। (175)
श्रीकर्मदाहविधिबन्धुरसिद्धसेवां नाना
गुणौघगणनाथसमर्चनं च।
श्रीपार्श्वनाथवरकाव्यसुपञ्जिकां च,
यः संचकार शुभचन्द्रयतीन्द्रचन्द्रः।। (176)

'त्रिंशचतुर्विंशति पूजन' तीस चौबीस तीर्थंकरों का पूजन अर्थात् पांच भरतेक्षत्र और पांच ऐरावत के त्रिकालवर्ती सातसौ बीस तीर्थंकरों का पूजन, उत्तरोत्तर बढ़नेवाला सिद्धों के गुणों का पूजन, जिसको सदृद्धसिद्धार्चन कहते हैं, रचा है। शुद्ध सरस्वतीयार्चन (सरस्वतीविलय का पूजन) चिन्तामणीयार्चन, इन ग्रंथों की रचना की है। श्रीकर्मदाहविधि जिसमें सिद्धों का सुंदर पूजन है ऐसा ग्रंथ अर्थात् कर्मदहनव्रत का उद्यापन रचा है। नाना गुणसमूहों से युक्त गणनाथसमर्चन अर्थात् चौदहसौ बावन गणधरों की पूजा रची है। यतीन्द्रों में चंद्र के समान शुभचंद्रसूरी ने वादिराज कवी के 'पार्श्वनाथ-चरित्र' काव्य के ऊपर उत्तम पञ्जिका लिखी है। जिसने पल्योपमिविधि का उद्यापन प्रकाशयुक्त किया है। जिसके बारासौ चौतीस भेद हैं ऐसे चारित्रशुद्धि तप नामक व्रत का उद्यापन भी प्रकाशयुक्त किया है।

उद्यापनमदीपिष्ट पल्योपमविधेश्च यः।
चारित्रशुद्धितपसश्चतुस्त्रिद्वादशात्मनः।। (177)
संशयवदनविदारणमपशब्दसुखण्डनं परं तर्कम्।
सत्तत्त्वनिर्णयं वरस्वरूपसम्बोधिनी वृत्तिम्।। (178)
अध्यात्मपद्यवृत्तिं सर्वार्थापूर्वसर्वतोभद्रम्।

योऽकृत सद्व्याकरणं चिन्तामणिनामधेयं च।। (179)
कृता येनाङ्गप्रज्ञप्तिः सर्वाङ्गार्थप्ररूपिका।
स्तोत्राणि च पवित्राणि षड्वदाः श्रीजिनेशिनाम्।। (180)

'संशयवदनविदारण अपशब्दसुखण्डन' नामक तर्कग्रंथ, 'सत्तत्व निर्णय' स्वरूपसंबोधिनी टीका अध्यात्मपद्यों के ऊपर टीका अर्थात् नाटक समयसार के कलशों पर टीका, सर्वाथापूर्व, सर्वतोभद्र, चिन्तामणिनामक व्याकरण, ऐसे ग्रंथ रचे है। सर्व अङ्गों के अर्थ का प्ररूपण करनेवाली 'अङ्गप्रज्ञप्ति' रची है। 'पवित्र-स्तोत्र' और जिनेश्वरों के षड्वाद (षड्दर्शन) ऐसे ग्रंथ रचे हैं।

पाण्ड व पुराण का कर्त्तव्य

तेन श्रीशुभचन्द्रदेवविदुषा सत्पाण्डवानां परम्
दीप्यद्वंशविभूषणं शुभभरभ्राजिष्णुशोभाकरम्।
शुम्भद्भारतनाम निर्मलगुणं सच्छब्दचिन्तामणिम्।
पुष्यत्पुण्यपुराणमत्र सुकरं चाकारि प्रीत्या महत्।। (181)

उज्जवल वंश का भूषण, पुण्यसमूह से प्रकाशमान, शोभा का स्थान, सुंदर ऐसे भारत नाम से युक्त, निर्मलगुणों से पूर्ण, सज्जन पाण्डवों के उत्तम पुण्य की वृद्धि करने वाला, उत्तम शब्दों का मानो चिन्तामणि ऐसा सुलभ पाण्डवपुराण अथवा भारत नामक पुराण-ग्रंथ इस शुभचंद्रदेव विद्वान ने रचा है।

स्वशिष्य-प्रशंसा

शिष्यस्तस्य समृद्धिबुद्धिविशदो यस्तर्कवेदी वरो।
वैराग्यादिविशुद्धिवृन्दजनकः श्रीपालवर्णी महान्।
संशोध्याखिलपुस्तकं वरगुणं सत्पाण्डवानामिदम्
तेनालेखि पुराणमर्थनिकरं पूर्वे वरे पुस्तके।। (182)
श्रीपालवर्णिना येनाकारि शास्त्रार्थसंग्रहे।
साहाय्यं स चिरं जीयाद्वरविद्याविभूषणः।। (183)

उस शुभचंद्र भट्टारक का समृद्धिशाली, बुद्धि से निर्मल, न्यायशास्त्र का ज्ञाता,

वैराग्यादिगुणों में विशुद्धियों को उत्पन्न करनेवाला, श्रेष्ठ, आदरणीय, श्रीपालवर्णी नामक शिष्य था। उसने यह पाण्डव-पुराण, जो कि गुणों से श्रेष्ठ और अर्थ से भरा हुआ है, प्रथमतः पूर्ण संशोधा है, अनंत उत्तम पुस्तक में लिखा है। शास्त्र के अर्थसंग्रह में जिसने साहाय्य किया है वह उत्कृष्ट विद्या का अलंकार धारण करनेवाला श्रीपालवर्णी चिरंजीव रहें।

ये शृण्वन्ति पठन्ति पाण्डवगुणं संलेखयन्त्यादरात्।
लक्ष्मीराज्यनराधिपत्यसुरतां चक्रित्वशक्रश्रिताम्।
भुक्त्वा भोगमिदं पुराणमखिलं संबोभुवत्युन्नताः।।
मुक्तौ ते भवभीमनिम्नजलधिं सन्तीर्य सातं गताः।। (184)

पाण्डवगुणों का वर्णन जिसमें हैं ऐसा यह पाण्डवपुराण जो भव्य सुनते हैं; पढ़ते हैं तथा आदर से लिखते हैं, वे लक्ष्मी, राज्य, मनुष्यों का प्रभुत्व, देवत्व, चक्रिपना, इंद्रत्व और भोग को भोगकर बार बार उन्नत होते हैं। और संसाररूपी भयंकरसमुद्र को तीरकर मुक्ति में सुख को भोगते हैं।

अर्हन्तो ये जिनेन्द्रा वरवचनचयैः प्रीणयन्तः सुभव्यान्
सिद्धाः सिद्धिं समृद्धिं ददत इह शिवं साधवः सिद्धिशुद्धाः।
दृक्सद्बोधं सुवृत्तं जिनवरवचनं तीर्थराट्प्रोक्तधर्म-
स्तस्सचैत्यानि रम्या जिनवरनिलयाः सन्तु नस्ते सुसिद्धयै।। (185)

जो अपने उत्तम वचनसमूह से भव्यों को आनंदित करते हैं ऐसे अर्हत् जिनेन्द्र, सिद्धि और समृद्धि को देनेवाले सिद्धपरमेष्ठी, सिद्धि के लिये शुद्ध हुए साधु (आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठी) जो कि सुख देते हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, जिनेश्वर की वाणी, तीर्थंकरों का कहा हुआ धर्म, तीर्थंकरों की प्रतिमायें, सुंदर जिनमंदिर ये सब हमारे सिद्धि के लिये होंवे।

यावत्चन्द्रार्कताराः सुरपतिसदनं तोयधिः शुद्धधर्मो
यावद्भूगर्भदेवाः सुरनिलयगिरिर्देवगङ्गादिनद्यः।
यात्वत्सत्कल्पवृक्षास्त्रिभुवनमहिमा भारते वै जगत्याम्।
तावत्स्थेयात्पुराणं शुभशतजनकं भारतं पाण्डवानाम्।। (186)

जबतक चन्द्र, सूर्य, तारा, इंद्र का वैजयन्त प्रासाद, समुद्र, तथा निर्मल जैनधर्म

रहेंगे, जब तक पृथ्वी में गर्भ में भवनवासी धरणेन्द्रादिक, देवों के प्रसाद से रमणीय मेरुपर्वत, देवगंगादि नदियां रहेंगी, जबतक त्रिलोक में मान्य कल्पवृक्ष रहेंगे तब तक इस भारत भूमि पर सैंकड़ों शुभों को जन्म देनेवाला पाण्डवों का यह भारत-पुराण रहे।

पाण्डव-पुराण-रचनाकाल

श्रीमद्विक्रमभूपतेर्द्विकहतस्पष्टाष्टसंख्ये शते।
रभ्येष्टाधिकवत्सरे सुखकरे भाद्रे द्वितीयातिथौ।।
श्रीमद्वाग्वरनीवृतीदमतुलं श्रीशाकवाटे पुरे।
श्रीमच्छ्रीपुरुधाम्नि वै विरचितं स्थेयात्मपुराणं चिरम्।। (187)

श्रीमान् विक्रमराजा के 1608 सोलह सौ आठ के रमणीय वत्सर में सुखदायक भाद्रपद द्वितीया तिथि के दिन लक्ष्मीसंपन्न वाग्वर या बागड प्रान्त में शाकवाट या सागवाडा नामक नगर में श्रीसंपन्न आदिनाथ जिनमंदिर में यह भारत अर्थात् पाण्डव-पुराण श्रीशुभचंद्र भट्टारकजी ने रचा है वह चिरंजीव रहें।

तदहं शास्त्रं प्रवक्ष्यामि पुराणं पाण्डवोद्भवम्।
सहस्त्रषट्भवेन्नूनं शुभचन्द्राय कथ्यते।।

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भ. श्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्मश्रीपाल साहाय्यसापेक्षे पाण्डवोपसर्गसहनकेवलोत्पत्तिमुक्तिसर्वार्थसिद्धि-गमनवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमं पर्व।। (25)

मैं पाण्डवों का पुराण-शास्त्र कहता हूँ। श्रोताओं को शुभ और आल्हाद के लिये मैं उसकी छह हजार श्लोकसंख्या कहता हूँ। ब्रह्म श्रीपाल की सहायता से भी भट्टारक शुभचंद्र जी ने रचे हुए महाभारत नामक पाण्डवपुराण में पाण्डवों का वर्णन करनेवाला पच्चीसवां पर्व समाप्त हुआ है।

त्रयः क्रमात्केवलिनो जिनात्परे द्विषष्टिवर्षान्तरभाविनोऽभवन्।
ततः परे पञ्च समस्तपूर्विणस्तपोधना वर्षशतान्तरे गताः।। (22)
(हरिवंश पु.)

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद बासठ वर्ष में क्रम से गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। उनके बाद सौ वर्ष में समस्त पूर्वों को जाननेवाले पाँच श्रुतकेवली हुए।

त्र्यशीतिके वर्षशते तु रूपयुक् दशैव गीता दशपूर्विणः शते।
द्वये चः विंशेऽङ्गभृतोऽपि पञ्च ते शते स साष्टादश के चतुर्मुनिः।। (23)
गुरुः सुभद्रो जयभद्रनामकः परो यशोबाहुरनन्तरस्ततः।
महार्हलोहार्यगुरुश्च ये दधुः प्रसिद्धमाचारमहाङ्गमत्र ते।। (24)

तदनन्तर एक सौ तेरासी वर्ष में ग्याहर मुनि दश पूर्वक के धारक हुए। उनके बाद दो सौ बीस वर्ष में पाँच मुनि ग्याहर अंग के धारी हुए। तदनन्तर एक सौ अठारह वर्ष में सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोबाहु और महापूज्य लोहाचार्यगुरु ये चार मुनि प्रसिद्ध आचारांग के धारी हुए।

महातपोभृद्विनयंधरः श्रुतामृषिश्रुतिं गुप्तपदादिकां दधत्।
मुनीश्वरोऽन्यः शिवगुप्तसंज्ञको गुणैः स्वमर्हद्बलिरप्यधात्पदम्।। (25)
स मन्दरार्योऽपि च मित्रवीरविर्गुरू तथान्यौ बलदेवमित्रकौ।
विवर्धमानाय त्रिरत्नसंयुतः श्रियान्वितः सिंहबलश्च वीरवित्।। (26)
स पद्मसेनो गुणपद्मखण्डभृद् गुणग्रणीर्व्याघ्रपदाहस्तकः।
स नागहस्ती जितदण्डनाभृत्सनन्दिषेणः प्रभुदीपसेनकः।। (27)
तपोधनः श्रीधरसेननामकः सुधर्मसेनोऽपि च सिंहसेनकः।
सुनन्दिषेणेश्वरसेनकौ प्रभू सुनन्दिषेणाभयसेननामकौ।। (28)
स सिद्धसेनोऽभयभीमसेनकौ गुरु परौ तौ जिनशान्तिषेणकौ।
अखण्डषट्खण्डमखण्डितस्थितिः समस्तसिद्धान्तमधत्त योऽर्थतः।। (29)
दधार कर्मप्रकृतिं श्रुतिं च यो जिताक्षवृत्तिर्जयसेनसद्गुरुः।
प्रसिद्धवैय्याकरणप्रभाववानशेषराद्धान्तसमुद्रपारगः।। (30)
तदीयशिष्योऽमितसेनसद्गुरुः पवित्रपुन्नाटगणाग्रणीगणी।
जिनेन्द्रसच्छासनवत्सलात्मना तपोभृता वर्षशताधिजीविना।। (31)
सुशास्त्रदानेन वदान्यतामुना वदान्यमुख्येन भुवि प्रकाशिता।
यदग्रजो धर्मसहोदरः शमी समग्रधीर्धर्म इवात्तविग्रहः।। (32)

उनके बाद महातपस्वी विनंयधर, गुप्तश्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर शिवगुप्त, अर्हद्बलि, मन्दरार्य, मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक, बढ़ते हुए पुण्य से सहित रत्नत्रय

के धारक एवं ज्ञानलक्ष्मी से युक्त सिंहबल, वीरवित्, गुणरूपी कमलों के समूह को धारण करनेवाले पद्मसेन, गुणों से श्रेष्ठ व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, स्वामी दीपसेन, तपोधन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन और शान्तिसेन आचार्य हुए। तदनन्तर जो अखण्ड मर्यादा के धारक होकर परिपूर्ण षट्खण्डों (1 जीवस्थान, 2 क्षुद्रबन्ध, 3 बन्धस्वामी, 4 वेदनाखण्ड, 5 वर्गणाखण्ड और 6 महाबन्ध) से युक्त समस्त सिद्धान्त को अर्थरूप से धारण करते थे अर्थात् षट्खण्डागम के ज्ञाता थे, कर्मप्रकृतिरूप श्रुति के धारक थे और इन्द्रियों की वृत्ति को जीतनेवाले थे ऐसे जयसेन नामक गुरु हुए। उनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए जो प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और समस्त सिद्धान्तरूपी सागर के पारगामी थे। ये पवित्र पुन्नाट गण के अग्रणी-अग्रसेन आचार्य थे। जिनेन्द्र शासन के स्नेही, परम तपस्वी, सौ वर्ष की आयु के धारक एवं दाताओं में मुख्य इन अमितसेन आचार्य ने शास्त्रदान के द्वारा पृथिवी में अपनी वदान्यता-दानशीलता प्रकट की थी। इन्हीं अमितसेन के अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण नामक मुनि थे जो बहुत ही शान्त थे, पूर्ण बुद्धिमान् थे, शरीरधारी धर्म के समान जान पड़ते थे, और जो अपनी तपोमयी कीर्ति को समस्त दिशाओं में प्रसरित कर रहे थे। उनका प्रथम शिष्य मैं जिनसेन हुआ। मोक्ष के उत्कृष्ट सुख का उपभोग करनेवाले अरिष्टनेमि जिनेन्द्र की भक्ति से युक्त मुझ जिनसेन सूरि ने अपने सामर्थ्य के अनुसार अल्पबुद्धि से इस हरिवंशपुराण की रचना की है। इस ग्रन्थ में मेरे द्वारा यदि कहीं प्रमादवश पूर्वापर विरोध से युक्त रचना की गयी हो तो जीवों की स्थिति और सामर्थ्य के जाननेवाले पुराणों के ज्ञाता विद्वान् प्रमादरहित हो उसे ठीक कर लें। कहाँ तो यह उत्तम वंशों-कुलों (पक्ष में बाँसों) से युक्त यह हरिवंशरूपी पर्वत और कहाँ मेरी अत्यन्त अल्पशक्ति की धाकर क्षुद्रबुद्धि? मैंने तो सिर्फ जिनेन्द्र भगवान् के वंश की इस स्तुति से पुण्योत्पत्ति की इच्छा की है। मैंने इस ग्रन्थ की रचना न व्यसनजन्य संस्कार से की है, न कीर्ति समूह की बलवती इच्छा से की है न काव्य के अभिमान से ही की है, और न दूसरे की देखा-देखी से की है। किन्तु यह रचना मैंने मात्र जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति से की है। इस ग्रन्थ में चौबीस तीर्थंकर, उत्तम कीर्ति के धारक बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण इन पुराणगामी

त्रेशठ शलाका पुरुषों का वर्णन किया गया है। इनके सिवाय इस श्रेष्ठ पुराण में बीच-बीच में पृथिवी पर चतुर्वर्ग के फल को भोगनेवाले सैकड़ों भूमिगोचरों और अनेकों यशस्वी विद्याधरराजाओं का वर्णन किया गया है।

अगण्यपुण्यं हरिवंशकीर्तनाद्यदत्र गण्यं गुणसञ्जितं मया।
फलादमुष्मान्नु मनुष्यलोकज्जा भवन्तु भव्या जिनशासनस्थिताः।। (39)

हरिवंश का कथन करने से जो असंख्य पुण्य का संचय हुआ है उसके फलस्वरूप मैं यही चाहता हूँ कि मनुष्यलोक में उत्पन्न हुए भव्यजीव जिनशासन में स्थित हों।

जिनस्य नेमेश्चरितं चराचरप्रसिद्धजीवादिपदार्थभासनम्।
प्रवाच्यतां वाचकमुख्यसज्जनैः सभागतैः श्रोत्रपुटैः प्रपीयताम्।। (40)

तथा त्रसस्थावर के भेद से प्रसिद्ध जीव आदि पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले नेमिजिनेन्द्र के इस चरित को बाँचनेवाले मुख्य सज्जन बाँचे और सभी में आये हुए श्रोताजन अपने कर्णरूप पात्रों से इसका पान करें।

जिनेन्द्रनामग्रहणं भवत्यलं ग्रहादिपीडागमस्य कारणम्।
प्रवाच्यमानं दुरितस्य दारणं सतां समस्तं चरितं किमुच्यते।। (41)

क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का मात्र नाम ग्रहण ही ग्रह-पिशाच आदि की पीड़ा को दूर करने का कारण है फिर सत्पुरुषों के पाप को दूर करनेवाला पूरा चरित यदि बाँचा जायेगा तो उसके फल का तो कहना की क्या है? विद्वज्जन एकाग्रचित्त होकर दूसरों के उपकार के लिए अपने-आप को मुक्ति के लिए इस ग्रन्थ का व्याख्यान करें। यह ग्रथ मंगल करनेवालों के लिए उत्तम मंगलरूपी है तथा मंगल की इच्छा रखनेवाले सत्पुरुषों के लिए मंगल का उत्तम निमित्त भी है। जिनेन्द्र भगवान् का वर्णन करनेवाला यह शास्त्र महान् उपसर्ग के आने पर रक्षा करनेवाला है, उत्तम शान्ति का दाता है और उत्तम शकुन रूप है, अप्रतिचक्रदेवता से सहित, सज्जनों के हितैषी जो शासनदेव और शासनदेवियाँ सदा चौबीस तीर्थंकरों की सेवा करती हैं, उनसे भी मैं याचना करता हूँ कि वे सदा जिनशासन के निकट रहें। चक्ररत्न को धारण करनेवाली अप्रतिचक्रदेवता तथा गिरिनार पर्वत पर निवास करनेवाली सिंहवाहिन अम्बिकादेवी, जिस जिनशासन में सदा कल्याण के लिए सन्निहित-निकट रहती हैं

उस जिनशासन पर विघ्न अपना प्रभाव कहाँ जमा सकते हैं? हित के कार्य में मनुष्यों को विघ्न उत्पन्न करनेवाले जो ग्रह, नाग, भूत, पिशाच और राक्षस आदि हैं वे जिनशासन के भक्त देवों की प्रभाव शक्ति से शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं। **भावार्थ**-जिनशासन के भक्त देव स्वयं कल्याण करते हैं तथा अन्य उपद्रवी देवों को भी शान्त बना देते हैं। जो भव्य जीव यहाँ भक्तिपूर्वक हरिवशंपुराण को पढ़ते हैं उन्हें थोड़े ही प्रयत्न से मनोवांछित सिद्धियाँ तथा प्रसिद्ध धर्म, अर्थ और मोक्ष की लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जिन से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ आर्य नहीं तथा जो मान प्रतिष्ठा से रहित हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान् के भक्त आर्यपुरुष, मात्सर्य को दूर कर अवार्य वीर्य से युक्त एवं उत्तम धैर्य से बलिष्ठ बुद्धि के द्वारा इस पुराण को संसार में प्रसिद्ध करें-इसके अर्थ को विस्तार करें।

अथवा मुझे प्रार्थना करने से क्या प्रयोजन है? क्योंकि संसार का भार धारण करने में समर्थ पर्वत, जिस प्रकार स्वभाव ही मेघों के द्वारा छोड़ हुए जल को अपने मस्तक पर धारण पर पृथिवी पर फैला देते हैं उसी प्रकार संसार का भार धारण करने में समर्थ विज्ञपुरुष स्वभाव से ही पुराण को पृथिवीतल पर फैला देंगे। जो उत्तम शब्दों से युक्त (पक्ष में उत्तम गर्जना करनेवाले) महाविद्वान्रूपी मेघों से रचित हैं, जिसके विषय में खूब प्रश्नोत्तर हुए हैं तथा जो नूतन होकर भी पुराणरूप है ऐसा यह पुराणरूपी जल जनसमूहरूपी नदियों के समूह से चारों समुद्रों में पर्यन्त विस्तृत किया जाता है।

भावार्थ-जिस प्रकार मेघों से बरसाये हुए पानी को नदियाँ समुद्र तक फैला देती हैं उसी प्रकार विद्वानों द्वारा रचित पुराण को जनता परस्पर की चर्चा-वार्ता से दूर-दूर तक फैला देती है।

जयन्ति देवाः सुरसंघसेविताः प्रजातिशान्तिप्रदशान्तशासनाः।
विशुद्धकैवल्यविनिद्रदृष्टयो सुदुष्टतत्त्वा भुवने जिनेश्वराः।। (50)

जो देवों के समूह से सेवित है, जिनका शान्त शासन प्रजा के लिए अत्यन्त शान्ति प्रदान करनेवाला है, जिनकी केवलज्ञानरूपी दृष्टि सदा विकसित रहती है और जिन्होंने समस्त तत्त्वों को अच्छी तरह देख लिया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान् सदा जयवन्त रहें।

जयत्वजय्या जिनधर्मसंततिः प्रजास्विह क्षेमसुभिक्षमस्त्विह।
सुखाय भूयात्प्रतिवर्षवर्षणैः सुजातसस्या वसुधासुधारिणाम्।। (51)

वादियों से सर्वथा अजेय जिनधर्म की परम्परा सदा जयवन्त रहे, प्रजाओं में क्षेम और सुभिक्ष की वृद्धि हो तथा प्रतिवर्ष अनुकूल वर्षा के कारण उत्तम धान्य से सुशोभित यह पृथिवी प्राणियों के सुख के लिए हो।

शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूतरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णपजे श्रीवल्लभे दिक्षणाम्।।
पूर्वा श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां
सूर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति।। (52)
कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिकाप्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्चने
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम्।। (53)

सात-सौ पाँच शक संवत् में, जब कि उत्तर दिशा का इन्द्रायुध, दक्षिण का कृष राज का पुत्र श्री वल्लभ, पूर्व दिशा का श्रीमान् अवन्तिराज और पश्चिम का सौर्यो के अधिमण्डल-सौराष्ट्रका वीर जयवराह पालन करता था तब कल्याणों से निरन्तर बढ़नेवाली लक्ष्मी से युक्त श्री 'वर्धमानपुर' में नन्नराजा द्वारा निर्मापित श्रीपार्श्वनाथ के मन्दिर में पहले इस हरिवंशपुराण की रचना प्रारम्भ की गयी थी परन्तु वहाँ इसकी रचना पूर्ण नहीं हो सकी। पर्याप्त भाग शेष बच रहा तब पीछे 'दोस्तटिका' नगरी के प्रजा के द्वारा रचित उत्कृष्ट अर्चना और पूजा-स्तुति से युक्त वहाँ के शान्तिनाथ भगवान् के शान्तिपूर्ण मन्दिर में इसकी रचना पूर्ण हुई।

युत्सृष्टापरसंघसंततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये
याप्तः श्रीजिनसेनसूरिकविना लाभाय बोधेः पुनः।
दृष्टोऽयं हरिवशंपुण्यचरितश्रीपर्वतः सर्वतो
याप्ताशामुखमण्डलः स्थिरतरः स्थेयात् पृथिव्यां चिरम्।। (53)

अन्य संघों की सन्तति को पीछे छोड़ देनेवाले अत्यन्त विशाल पुन्नाट संघ के वंश में उत्पन्न हुए श्रीजिनसेन कवि ने रत्नत्रय के लोभ के लिए जिस हरिवंशपुराणरूपी श्रीपर्वत को प्राप्त कर उसकी अच्छी तरह अवलोकन किया था, सब ओर से दिशाओं

के मुखमण्डल को व्याप्त करनेवाला वह सुदृढ़ श्रीपर्वत पृथिवी में चिरकाल तक स्थिर रहे।

कुलाचार धर्म V/S यथार्थ धर्म

(चालः 1.आत्मशक्ति... 2.छोटी-छोटी गैया...)

मूरख कुल आचार को, जानत धर्म सदीव।
वस्तु सुभाव धर्म सुधी, कहत अनुभवी जीव।। (373) (श्री स्वरोदय)

धर्म नहीं है संकीर्ण कुलाचार, नीति नियम विधान लोकाचार।
न्याय राजनीति से ले संविधान, रूढ़ि परम्परा से ले जीविकाचार।।
असिमसिकृषिवाणिज्यसेवा, शिल्पादि षट्कर्म जीविकार्जन।
राजनीति युद्धादि सिखाये आदिराजा, धर्म हेतु ये सभी त्यागे ऋषभराजा।। (1)
वस्तु स्वभावमय होता धर्म, रत्नत्रय युक्त उत्तमक्षमादि धर्म।
समता शान्ति वीतरागता धर्म, स्वपरविश्वकल्याण भावना धर्म।।
जो धरे उत्तमसुखे सो है धर्म, मानव निर्मित न होता धर्म।
सर्वज्ञ वीतरागी द्वारा उपदिष्ट धर्म, मंगल उत्तम शरणभूत धर्म।। (2)
परम स्वतन्त्रता दाता होता धर्म, स्वावलम्बी स्वानुशासी संयम।
परस्पर अबाधित अकृत्रिम धर्म, रागी-द्वेषी-मोही द्वारा अज्ञात धर्म।।
कुल परम्परा से ले जीविकाचार, हो सकते न्यायोचित लोकाचार।
तथापि वे न होते यथार्थ धर्म, लोकव्यवस्था योग्य होता हो समादर।। (3)
अनेक कुलपरम्परादि न होते योग्य बलिप्रथा बालविवाहप्रथा अयोग्य।
दासप्रथा कालागोरा भेदभाव, दहेज मृत्युभोजादि ढोंग पाखण्ड।।
परम्परागत राज्य शासन आदि, राजा का पुत्र ही बनेगा राजादि।
तथाहि मंत्री पुरोहित यजमानादि, कसाई धीवर चोर वैश्यादि।। (4)
केवल कुलपरम्परा है लोकमूढ़ता, गृहितमिथ्यात्व से रूढ़िवादिता।
श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या की संकीर्णता, लोकानुगतिक लोकः न लोक पारमार्थिक।।
धर्म इससे परे भी व्यापक होता, आत्मिक गुण प्राप्ति जिससे होती।
अनादि मिथ्यात्वी भी बनते सम्यक्त्वी, सप्तव्यसनी भी प्राप्त करते मुक्ति।। (5)

तीर्थेश के कुल में न सभी होते तीर्थेश, चक्रवर्ती के कुल में न होते चक्रेश।
तथाहि त्रेसठशलाकापुरुष ज्ञेय, पंचपरमेष्ठी तथाहि ज्ञेय।।
संज्ञीपञ्चेन्द्रिय चतुर्गति के जीव, पञ्चलब्धियों से प्राप्त करो सम्यक्त्व।
सम्यक्त्वीश्वान भी बनता देव, मिथ्यात्वी देव भी बने स्थावर जीव।। (6)
आत्मा की शक्ति की अभिव्यक्ति धर्म, आत्मा से परमात्मा बनना धर्म।
पतित पावन होता सुधर्म, ''कनक'' का लक्ष्य स्व शुद्धात्मा धर्म।।

(ग.पु.कॉ. दि-22/8/2020, रात्रि-9.03)

संदर्भ-

चार पुरुषार्थ

धर्म अर्थ अरु काम शिव, साधन जग में चार।
व्यवहारे व्यवहार लख, निहचे निजगुण धार।। (372)

(श्री स्वरोदय, मुनिश्री चिदानन्द जी)

मूरख कुल आचार को, जानत धर्म सदीव।
वस्तु सुभाव धर्म सुधी, कहत अनुभवी जीव।। (373)
खेह खजाना को अर्थ, कहत अज्ञानी जीव।
कहत द्रव्य दरसाव को, अर्थ सुज्ञानी जीव।। (374)
दम्पति रति क्रीड़ा प्रत्ये, कहत दुर्मति काम।
काम चित्त अभिलाष को, कहत सुमति गुण धाम।। (375)
इन्द्रलोक को कहत शिव, जो आगम दृग हीन।
बन्ध अभाव अचल गति, भाषत नित परवीन।। (376)
इम अध्यातम पद लिखी, करत साधना जेह।
चिदानन्द निज धर्म नो, अनुभव पावे तेह।। (377)

धर्माधर्म विवेक

समय मात्र प्रमाद नित, धर्म साधना मांहि।
अथिर रूप संसार लख, रे नर करिये नाहिं।। (378)

छीजत छिन-छिन आऊखो, अंजली जल जिम मीत।
काल-चक्र माथे भ्रमत, सोवत कहा अभीत।। (379)
तन धन जीवन कारिमा, संध्या राग समान।
सकल पदारथ जगत में, सुपन सरूप चित्त धार।। (380)
मेरा मेरा मत करे, तेरा है नहि कोय।
चिदानन्द परिवार का, मेला है दिन दोय।। (381)
ऐसा भाव निहारि नित, कीजे ज्ञान विचार।
मिटे न ज्ञान विचार बिन, अन्तर भाव विचार।। (382)
ज्ञान रवि वैराग्य जस, हिरदे चंद्र समान।
तास निकट कहो किम रहे? मिथ्या तम दुख खान।। (383)
आप अपने रूप में, मगन ममत मल खोय।
रहे निरंतर समरसी, तास बन्ध नवि कोय।। (384)
पर परिणति परसंग सुं, उपजत विणसत जीव।
मिट्यो मोह परभाव को, अचल अबाधित शिव।। (385)
जैसे कंचुक त्याग थी, विणसत नहीं भुजंग।
देह त्याग थी जीव पिण, तैसे रहत अभंग।। (386)
जो उपजे सो तू नहीं, विणसत ते पिण नाहिं।
छोटा मोटा तू नहीं, समझ देख दिल मांहि।। (387)
वरण भांति तो मैं नहीं, जात-पांत कुल रेख।
राव रंक तू है नहीं, नहीं बाबा नहीं भेख।। (388)
तू सहु में सहु थी सदा-न्यारा अलख सरूप।
अकथ कथा तेरी महा, चिदानन्द चिद रूप।। (389)
जनम मरण जहां है नहीं, इति भीति लवलेश।
नहीं सिर आन नरिंद की, सो ही अपना देश।। (390)
विनाशिक पुद्गल दशा, अविनाशी तू आप।
आपा आप विचारतां, मिटे पुण्य अरु पाप।। (391)
बेड़ी लोह कनकमयी, पाप पुण्य युग जान।

दोऊ थी न्यारा सदा, निज स्वरूप पिछान।। (392)
जुगल गति होय पुण्य सुं, इतर पाप सुं होय।
चारों गति सुं निवारिये, तब पंचम गति होय।। (393)
पंचम गति बिन जीव को, सुख तिहु लोक मंझार।
चिदानन्द नवि जानजो, यह मोटो निरधार।। (394)

समाधि का स्वरूप

हम विचार हिरदय करत, ज्ञान ध्यान रस लीन।
निरविकल्प रस अनुभवी, विकलता होय छीन।। (395)
निरविकल्प उपयोग में, होय समाधि रूप।
अचल ज्योति झलके तिहां, पावे दरस अनूप।। (396)
देख दरस अद्भुत महां, काल आस मिट जाय।
ज्ञान योग उत्तम दशा, सद्गुरु दिए बताय।। (397)
ज्ञानालम्ब दृग ग्रही, निरालम्बता भाव।
चिदानन्द नित आदरो, एहिज मोक्ष उपाव।। (398)
थोड़े से में जानजो, कारज रूप विचार।
कहत सुनत श्रुतज्ञान का, कबहु न आवे पार।। (399)
मैं मेरा इस जीव को, बन्धन मोटा जान।
मैं मेरा जाकुं नहीं, सो ही मोक्ष पिछान।। (400)
मैं मेरा इह भाव थीं, बंध राग अरु रोष।
राग रोष जौलों हिए, तौलों मिटे न दोष।। (401)
राग द्वेष जाकुं नहीं, ताकूं काल न खाय।
काल जीत जग में रहे, मोटा विरुद धराय।। (402)
चिदानन्द नित कीजिए, समरण श्वासोश्वास।
वृथा अमूलक जान है, श्वास खबर नहीं तास।। (403)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार साधन जगत् में हैं। बहिर्दृष्टि लोग इनका जगत् के व्यवहार में आने वाली प्रवृत्तियों का अर्थ लगाते हैं तथा अंतर्दृष्टि महात्मा इन चारों का निज गुणों का अर्थ धारण करते हैं। अज्ञानी लोग धर्म का अर्थ कुलाचार

करते हैं किन्तु बुद्धिमान और अनुभवी लोग धर्म का अर्थ वस्तु स्वभाव (''वत्थु सहावो धम्मो'') करते हैं। अज्ञानी लोग धन दौलत को अर्थ कहते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष द्रव्य के स्वरूप के समझने को अर्थ कहते हैं। अज्ञानी लोग विषय सेवन-रति क्रीड़ा को काम कहते हैं, किन्तु ज्ञानी लोग चित्त की अभिलाषा को काम कहते हैं। अज्ञानी लोग इन्द्रलोक को शिव कहते हैं परन्तु ज्ञानी महात्मा कर्मबंधन से सर्वथा छूट जाने से स्थिर गति अर्थात् जहाँ जन्म-मरण का सर्वथा अभाव है ऐसे मोक्ष को शिव कहते हैं। इस प्रकार अध्यात्म पद को जानकर जो प्राणी साधना करते हैं वे आत्मा के अनन्त आनन्द रूप निज धर्म का अनुभव प्राप्त करते हैं।

हे मानव! इस संसार को अस्थिर जानकर-धर्म साधना के लिए सदा तत्पर रहो, एक समय मात्र भी प्रमाद में मत जाने दो। हे मित्र! जिस प्रकार अंजली में लिया हुआ जल क्षण-क्षण में सदा छीजता रहता है उसी प्रकार तुम्हारी आयु भी क्षण क्षण में क्षय होती रहती है। काल का चक्र हर समय तुम्हारे मस्तक पर घूम रहा है अतः तू निर्भय होकर क्यों सो रहा है। यह तुम्हारा शरीर, धन-दौलत तथा जवानी संध्या समय की लालिमा के समान अस्थिर हैं। जगत् में जितने भी पदार्थ हैं वे सब स्वप्न के समान नाशवान् हैं। रे जीव! तू मेरा-मेरा मत कर, जगत् में तेरा कोई नहीं है। संसार में जिसे तू अपना परिवार मान रहा है वे सब स्वार्थ के साथी है। अंत समय में तेरी इनसे रक्षा न होगी। तू इन्हें दो दिन का साथी समझकर अपनी आत्मा का कल्याण कर। मन में इस संसार को असार समझ कर सदा ज्ञान का विचार करना चाहिए क्योंकि ज्ञान के बिना आत्मा के अंतर भाव का विकार नहीं मिट सकता।

जिसके हृदय में ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश द्वारा वैराग्य रूपी चंद्रमा का उदय हुआ है उसके निकट दुःखों की खान रूप जो मिथ्यात्व है वह कैसे रह सकता है? अर्थात् ज्ञान का प्रकाश होने से मिथ्यात्व रूप अंधकार का स्वयमेव नाश हो जाता है। जो व्यक्ति मोह का त्याग कर अपने निज स्वभाव में लीन होकर राग-द्वेष का त्याग कर समता भाव में रहता है उसे कर्म का बंध नहीं होता। पर परिणति (आत्मा के सिवाय दूसरे पदार्थों में ममत्व भाव) से जीव इस संसार में अनादि काल से जन्म मरण प्राप्त कर रहा है। आत्मा के सब प्रकार के पर पदार्थों पर से ममत्व भाव के हट

जाने से उसे अक्षय (कभी नाश न होने वाला) तथा संक्लेश रहित (शाश्वत सुख सहित) मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे कांचली छोड़ देने से सर्प का नाश नहीं होता उसी प्रकार मोक्ष अवस्था प्राप्त कर (आत्मा) शरीर रहित होकर भी अनंत काल तक उपस्थित रहता है।

हे जीव! न तू जन्म लेता है न मरता है, न छोटा है न बड़ा है, तुम में न कोई वर्ण है न जात-पात है, तू न राजा है न रंक है, न साधु है न वेष है, तू सब में है और सबसे न्यारा अलख स्वरूप भी है, तेरा स्वरूप कोई वर्णन करने में समर्थ नहीं है, तू तो अनन्त आनंदमय तथा शुद्ध स्वरूप है, जहाँ पर न जन्म है न मौत है, जहाँ पर किंचित्र मात्र भी न भय है न कष्ट है, जहाँ पर न किसी राजा के शासन का भय है; ऐसे दुःख, भय तथा परतंत्रता रहित जो अनन्त आनंद का स्थान मोक्ष है वही तेरा अपना देश है। हे जीव! इस बात को तू सदा-हर समय अपने लक्ष्य में रख, इस बात को भूल मत। जीवात्मा अविनाशी है तथा कर्ममल रूप पुद्गल जो आत्मा से संलग्न है वह नाशवान् है। इसलिए अपने शुद्ध स्वरूप का विचार करने से पाप और पुण्य कर्मों का नाश होता है। पुण्य को सोने की बेड़ी तथा पाप को लोहे की बेड़ी जानकर अपने आपको सदा इनसे भिन्न-न्यारा समझ कर निजस्वरूप को पहचान।

चार गतियों में से देव और मनुष्य ये दो गतियाँ पुण्य के उदय से होती हैं। तथा तिर्यंच और नरक ये दोनों गतियाँ पाप के उदय से होती हैं। चारों गतियों के नाश से मोक्ष रूपी पाँचवीं गति प्राप्त होती है। पाँचवी गति (मोक्ष) पाये बिना जीव को तीनों लोकों में शाश्वत सुख मिलना संभव नहीं है। यही निश्चित सत्य है। इस प्रकार जो व्यक्ति मन में विचार करके ज्ञान और ध्यान के रस में लीन रहते हुए निर्विकल्प रस का अनुभव करता है वह सब प्रकार के विकल्पों से रहित हो जाता है। जब निर्विकल्प उपयोग में समाधि की प्राप्ति होती है तब जिस आत्मा की उपमा के लिए जगत् में एक भी पदार्थ नहीं है उसकी अनन्त ज्योति का प्राणी अपने में प्रकाश कर उसके दर्शन पाता है।

उस अद्भुत-अनुपम ज्योति का दर्शन पाने से मृत्यु का महात्रास मिट जाता है, ज्ञान योग की ऐसी उत्तम दशा सद्गुरु ने बतलाई है। बाकी के सब प्रकार के आलम्बनों को छोड़कर ज्ञान का सदा आलंबन करते हुए वैराग्य रस का अमृतपान

करना ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय है अतः आत्मा को निज स्वभाव में रमण करने के उपायों को सदा ग्रहण करो। थोड़े में ही अपने कर्त्तव्य को समझ कर उसका अपने कल्याण के लिए आचरण करो। हम कहाँ तक वर्णन करें, कहने और सुनने मात्र से श्रुतज्ञान का कभी पार नहीं पा सकते। मैं और मेरेपन का ममत्व भाव ही इस जीव के बंधन का सबसे बड़ा कारण है। जिसमें मैं और मेरेपन का ममत्व भाव मिट गया है ऐसे निर्मोही (मोहनीय कर्म से रहित) ने ही मोक्ष को पहिचाना है।

मैं और मेरे इस भाव से राग और द्वेष का बंध होता है। जब तक मन में राग और द्वेष है तब तक दोष नहीं मिट सकते। जिसमें राग-द्वेष नहीं है, उसे काल नहीं खा सकता अर्थात् वह जन्म और मृत्यु से रहित होकर अजर-अमर हो जाता है, सर्वथा दोष रहित होकर बहुत बड़ी पदवी पाकर जगत् में वास करता है। इसलिए हे चिदानंद! सदा श्वासोश्वास का ध्यान रख। इन अमूल्य श्वासोश्वास रूप आयु को व्यर्थ में मत खो। यह मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलेगा, इसलिए इस जीवन का एक क्षण भी प्रमाद में मत जाने दे। न जाने श्वासोश्वास कब समाप्त हो जाएंगे और तेरी मृत्यु हो जायेगी।

क्षुद्र लक्ष्य V/S महान् लक्ष्य

(चालः 1.आत्मशक्ति... 2.क्या मिलिए...)

क्षुद्रलक्ष्य से क्षुद्रभाव होते, जिससे होते हैं क्षुद्रकाम।
महान् लक्ष्य से महान् भाव, जिससे होते महान् काम।।
यथा एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक, असंज्ञी होने से होते मिथ्यात्वी।
जिससे उन्हें आहार भय मैथुन संग्रह, व जीवन जीने की होती प्रवृत्ति।। (1)
ज्ञान-विज्ञान व सभ्यता संस्कृति, भाषा राजनीति से होते अनभिज्ञ।
नहीं है लक्ष्य स्वपरविश्वकल्याण का, तथाहि आत्मा को परमात्मा बनाने का।।
ऐसा ही मिथ्यात्वी मानव आदि, मन सहित होकर भी महान् लक्ष्य शून्य।
अतएव दोनों प्रभेद एक समान, मिथ्यात्व गुणस्थान रूप में एक समान।। (2)
स्वयं को जानना मानना पाना ही, सबसे महान् लक्ष्य है विश्व में।
ऐसा लक्ष्य होने पर जीवों में, महान् गुण प्रगट होते जाते स्वयं में।
ऐसे जीव होते आत्मविश्वासी, प्रज्ञाशील विवेकी आत्मानुशासी।

कर्त्तव्यनिष्ठ व स्वावलम्बी साहसी, धैर्यवान् सहिष्णु उदारदृष्टि।। (3)
मिथ्यात्वी हेतु जो कठिन असम्भव, विपरीत दंभ अव्यवहारिक।
वे सभी सम्यक्त्वी के लक्ष्य व प्राप्य, स्वउपलब्धि चाहे, ''सूरी कनक''।। (4)

ग.पु.कॉ. दि-24/8/2020, मध्याह्न-1.30

संदर्भ-

हम जिनकी धन जमा करने की इच्छा है, उनको याद रखना चाहिए कि दुनिया के असली नेता हमेशा वे लोग रहे हैं जिन्होंने अजन्मे अवसर के अमूर्त, अनदेखी शक्तियों का दोहन किया और, व्यावहारिक उपयोग में लाये हैं, और उन शक्तियों (या सोच के आवेगों) को गगनचुम्बी इमारतों, शहरों, कारखानों, हवाई जहाज, ऑटोमोबाइल और सुविधा के हर ऐसे रूप में बदल दिया है, जो कि जीवन को अधिक सुखद बनाता है।

सहिष्णुता और खुले दिमाग का होना आज के स्वप्नदर्शियों की व्यावहारिक आवश्यकताएं हैं। वे लोग जो नई अवधारणों से डरते हैं वे शुरुआत करने से पहले की बर्बाद हो जाते हैं। अग्रदूतों के लिए वर्तमान की तुलना में एक अधिक अनुकूल समय कभी नहीं आया है। यह सच है कि ढंकी गाड़ियों के दिनों की तरह विजय प्राप्त करने के लिए वहाँ कोई जंगली और भेड़िया धसान वाला पश्चिम नहीं है; बल्कि पुनर्निर्मित और नए बेहतर रास्ते पर पुनः निर्देशित किये जाने के लिए एक विशाल, व्यापारिक, वित्तीय और औद्योगिक दुनिया है।

धन का अपना हिस्सा प्राप्त करने की योजना में, किसी को भी स्वपनदर्शी की खिल्ली उड़ाने के लिए आपको प्रभावित करने न दें। इस बदली हुई दुनिया में बड़ा दांव जीतने के लिए, आप को अतीत के महान् अग्रदूतों की भावना को पकड़ना होगा जिनके सपनों ने सभ्यता को वह सब कुछ दिया है जो मूल्यवान् है, आत्मा जो हमारे अपने देश के जीवन-रक्त के रूप में कार्य करती है, हमारी प्रतिभा का विकास और विपणन के लिए आपकी और मेरा अवसर है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए, कि कोलंबस ने एक अज्ञात दुनिया का सपना देखा, ऐसी एक दुनिया के अस्तित्व पर अपना जीवन दाँव पर लगा दिया और इसका पता लगा लिया।

महान खगोलशास्त्री कोपरनिकस ने दुनिया की बहुलता का सपना देखा था, और उनका पता लगाया! उनके विजय प्राप्त कर लेने के बाद किसी ने भी ''अव्यावहारिक'' के रूप में उनकी निंदा नहीं की। इसकी बजाय, दुनिया ने उसकी कब्र पर पूजा की, इस प्रकार एक बार फिर साबित हो गया किः

''सफलता को किसी अफसोस की आवश्यकता नहीं है,
असफलता अन्यत्र उपस्थिति की अनुमति नहीं देती है।''

यदि आप जो चीज करने की इच्छा रखते हैं वह सही है, और आप उसमें विश्वास करते हैं, तो आगे बढ़े और उसे कर डाले! अपने सपने को आरपार डाल दें और अगर आप को अस्थायी हार से सामना भी हो तो कभी भी ध्यान न दें कि ''वे'' क्या कहते हैं, ''वे'' शायद नहीं जानते किः

प्रत्येक असफलता अपने साथ एक
समतुल्य सफलता का बीज लाती है।

गरीब और अशिक्षित हेनरी फोर्ड ने बिना घोड़ा के एक गाड़ी का सपना देखा था, सहायक मौके का इंतजार किए बिना, उसके पास जो भी उपकरण थे वह उन्हीं के साथ काम करने में लग गये, और अब उनके सपने का सबूत पूरी पृथ्वी को कसे हुए है। उन्होंने किसी भी आदमी जो कभी रहते थे से अधिक पहियों को संचालन में डाल दिया था, क्योंकि वे अपने सपनों को मदद करने में डरते नहीं थे। थॉमस एडीसन ने एक ऐसे दीपक का सपना देखा जो कि बिजली द्वारा संचालित किया जा सकता है, उन्होंने अपने सपने को कार्यरूप देने के लिए जहाँ वे खड़े थे वहीं से शुरुआत कर दी, और दस हजार से अधिक विफलताओं के बावजूद, उस सपने के साथ वह इसके एक भौतिक वास्तविकता बन जाने तक खड़े रहे थे। व्यावहारिक सपने देखना छोड़े नहीं।

व्हेलन ने एक सिगार स्टोर श्रृंखला का सपना देखा, अपने सपने को कार्रवाई में बदल दिया, और संयुक्त उत्तर और दक्षिण को उनके सपने को हकीकत में बदलते हुए जीवित रहते हुए देखने से बड़ी मुश्किल से चूके।

राइट बंधुओं ने एक मशीन का सपना देखा जो कि हवा में उड़ पायेगी। अब आप उसके सबूत सारी दुनिया में देख सकते हैं, कि उन्होंने सही सपना देखा था।

मारकोनी ने वायु की अमूर्त शक्तियों को काम में लाने की एक प्रणाली का सपना देखा। अपने सपना व्यर्थ में नहीं देखा था, यह साक्ष्य दुनिया में हर वायरलेस और रेडियो में पाया जा सकता है। इसके अलावा, मार्कोनी का सपना सबसे मनोरम केबिन और साथ-साथ सबसे आलीशान हवेली लाया। इसने पृथ्वी पर हर देश के लोगों को पडोसी बना दिया। इसने संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति को एक माध्यम दे दिया जिसके द्वारा वह एक ही समय में, कम समय के नोटिस पर अमेरिका के सभी लोगों से बात कर सकते हैं। आपको शायद यह जानना रुचिकर लगे कि जब उसने यह घोषणा की, कि उसने एक सिद्धांत की खोज कर ली है जिसके माध्यम से वह तारों की सहायता या संचार के प्रत्यक्ष भौतिक साधन के बिना, हवा के माध्यम से संदेश भेज सकता है तो मारकोनी के दोस्त उसे अपनी निगरानी में ले गए थे, और एक मनोरोगी अस्पताल में जांच करवाई थी। आज के स्वप्नदर्शी बहुत अच्छी स्थिति में रहते हैं।

दुनिया नई खोजों की आदी हो गयी है। बल्कि, इसने उन स्वप्नदर्शियों को पुरस्कृत करने की इच्छा दिखाई है जो दुनिया को एक नया विचार देते हैं।

''सबसे बड़ी उपलब्धियां, सबसे पहले और थोड़े समय के लिए, सिर्फ एक सपना ही थीं।''

''बरगद का पेड़ अपने बीज में सोता है। पक्षी अंडे में इंतजार करते हैं, और एक जागृत देवदूत, आत्मा की सर्वोच्च दृष्टि में कैद रहता है। सपने हकीकत की पौध है।''

दुनिया के स्वप्नदर्शियों तुम जागो, खड़े हो जाओ और दृढ़ता से कहो। तुम्हारा सितारा अब प्रभुत्व में है। दुनिया की मंदी आप के लिए वह अवसर लेकर आई है जिसका आप इंतजार कर रहे थे। इसने लोगों को विनम्रता, सहिष्णुता, और उदारता सिखाई है।

दुनिया अवसरों की बहुतायत से भरी हुई, जो कि अतीत के स्वप्नदर्शियों को कभी पता नहीं थी।

बनने और करने की एक तीव्र इच्छा शुरुआती बिंदु है, जहां से स्वप्नदर्शियों को उड़ान भरनी चाहिए। सपने उदासीनता, आलस्य, या महत्वाकांक्षा की कमी की वजह से पैदा नहीं होते हैं।

दुनिया अब सपने देखने वालों का मखौल नहीं उड़ाती है, न ही उसे अव्यावहारिक कहती है। यदि आप को लगता है यह करती है, तो टेनेसी का एक दौरा कीजिये और इसकी गवाही दीजिये कि एक सपने देखने वाले राष्ट्रपति ने अमेरिका की महान् जल शक्ति का उपयोग करने, और उसे काम में लाने की राह में क्या किया है बहुत वर्ष पहले इस तरह का एक सपना पागलपन की तरह लगता।

आप निराश हो चुके हैं, आप मंदी के दौरान हार से गुजर चुके हैं, आपने अपने भीतर स्थित महान् दिल को इसके लहूलुहान होने तक कुचला जाता महसूस किया हैं। साहस करे, क्योंकि इन अनुभवों ने आध्यात्मिक धातु, जिससे आप बने हैं-को लचीला बना दिया है, वे अतुलनीय मूल्यों की संपत्ति हैं।

यह भी याद रखें कि वे सभी लोग जो जीवन में सफल होते हैं, एक बुरी शुरूआत करते हैं, और ''पहुँचने'' से पहले कई शोकाकुल संघर्षों से होकर गुजरते हैं। ''सफल लोगों के जीवन में महत्वपूर्ण मोड़ आमतौर पर कुछ संकट के क्षणों में आते हैं, जिसके माध्यम से वे अपने ''अन्य स्वयं'' से परिचित होते हैं।''

जॉन बनयान को धर्म के विषय पर अपने विचारों के कारण जल में डाल दिया गया और कष्टदायी रूप से दंडित दण्डित किया गया जिसके बाद उसने ''तीर्थयात्री की प्रगति'' लिखी, जो सभी बेहतरीन अंग्रेजी साहित्य में से एक है।

ओ हेनरी को ओहियो कोलंबस, में एक जेल की कोठरी में कैद कर लिया गया, और इस बड़े दुर्भाग्य को सहने के बाद ही उसने उस प्रतिभा की खोज की जो उसके मस्तिष्क के भीतर सोई हुयी थी। दुर्भाग्य से मजबूर होकर, अपने ÷अन्य स्वयं÷ से परिचित होकर, और अपनी कल्पना का प्रयोग करते हुए, उसने एक दुःखी अपराधी और निर्वासित होने की बजाय, एक महान लेखक के रूप में अपनी खोज की। जीवन के तरीके अजीब और विविध हैं, और अनंत बुद्धिमत्ता के तरीके तो अब भी और अधिक अजीब हैं, जिससे कभी-कभी आदमी को कल्पना के माध्यम से उपयोगी विचार पैदा करने के लिए अपने स्वयं के दिमाग और अपनी स्वयं की क्षमता की खोज से पहले सभी प्रकार की सजाओं से गुजरने के लिए मजबूर होना पड़ता है।

एडीसन, दुनिया का सबसे बड़ा आविष्कारक और वैज्ञानिक, एक ÷आवारा÷ टेलीग्राफ ऑपरेटर था, और आखिरकार, अपने मस्तिष्क के भीतर सोई हुई प्रतिभा

की खोज करने के लिए प्रेरित होने से पहले, वह अनगिनत बार विफल रहा था।

चार्ल्स डिकेंस ने पालिश किये हुए बर्तनों पर लेबल चिपकाने से शुरूआत की थी। उसके पहले प्रेम की त्रासदी ने उसकी आत्मा को गहरे तक भेद दिया था और सही मायने में उसे दुनिया के महान् लेखकों में बदल दिया। उस त्रासदी ने, पहले डेविड कॉपर फील्ड, फिर अन्य कार्यों के सिलसिले की उत्पत्ति की, जिन्होंनें इस और समृद्ध और उन सभी के लिए एक बेहतर दुनिया बना दिया जिन्होंनें उसकी किताबें पढ़ी।

प्रेम संबंधों को लेकर निराशा में, आम तौर पर पुरुषों को पीने के लिए प्रेरित करने और महिलाओं को बर्बाद करने का प्रभाव होता है, और यह इसलिए क्योंकि ज्यादातर लोग अपनी मजबूत भावनाओं को एक रचनात्मक प्रकृति के सपनों में परिवर्तित करने की कला कभी नहीं सीखते है।

हेलेन केलर जन्म के फौरन बाद, बहरी, गूंगी, और अंधी हो गई। उसके सबसे बड़े दुर्भाग्य के बावजूद, उसने सर्वोत्कृष्ट के इतिहास के पन्नों में अमिट रूप से अपना नाम लिखा है। उसके पूरे जीवन ने सबूत के रूप में कार्य किया है कि कोई भी कभी भी नहीं हराया जाता है, जब तक हार को वास्तविकता के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है।

रॉबर्ट बर्न्स् एक अनपढ़ ग्रामीण लकड़ा था, वह गरीबी से शापित था और इसके साथ-साथ वह एक शराबी के रूप में बड़ा हुआ था। दुनिया, उसके रहने के कारण एक बेहतर जगह बन गई थी, क्योंकि उसने कविता में सुंदर विचारों को पिरोया था, और इस तरह एक कांटा तोड़ा और इसकी जगह पर एक गुलाब लगा दिया था।

बुकर टी वाशिंगटन जाति और रंग से विकलांग, गुलामी में पैदा हुए थे। क्योंकि वह सहिष्णु थे, सभी विषयों पर उसके विचार खुले थे, और वह एक स्वप्नदर्शी इन्सान थे, उन्होंने एक पूरी नस्ल पर सदा के लिए अपनी एक अच्छा छाप छोड़ी।

बीथोवेन बहरे थे, मिल्टन अंधे थे, लेकिन उनके नाम तब तक रहेंगे जब तक समय रहेगा, क्योंकि उन्होंने सपना देखा और अपने सपनों को संगठित विचार में परिवर्तित किया।

अगले अध्याय पर जाने से पहले, अपने मन में नए सिरे से, आशा की रौशनी, विश्वास, साहस, और सहिष्णुता जागृत करें। यदि आपके पास दिमाग की ये स्थितियां और वर्णित सिद्धांतों पर कार्य करने का ज्ञान है, तो बाकी और जो कुछ आप को चाहिए, जब आप इसके लिए तैयार होंगे वह आपके के पास आ जायेगा। एमर्सन अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त करते हैं ÷हर कहावत, हर किताब, हर पर्याय जो सहायता और आराम के लिए आपसे सम्बधित है, खुले या घुमावदार मार्ग से निश्चित रूप से घर आ जाएगा।

हर दोस्त जो बहुत शानदार नहीं होगा, लेकिन उसकी आत्मा में महानता और करुणा होगी तुम्हे अपने आलिंगन में संभाल कर रखेगा?

एक चीज़ को चाहने और उसे पाने के लिए तैयार होने के बीच एक अंतर होता है। कोई भी किसी चीज के लिए सब तक तैयार नहीं होता जब तक उसे विश्वास न हो कि वह इसे हासिल कर सकता है। मन की स्थिति ''विश्वास'' की होनी चाहिए, मात्र आशा या इच्छा नहीं। ग्रहणशीलता विश्वास के लिए आवश्यक है। बंद दिमाग, आस्था, साहस और विश्वास को प्रेरित नहीं करता।

याद रखें, दुख और गरीबी को स्वीकार करने के लिए आवश्यक प्रयासों की तुलना में, बहुतायत और समृद्धि की मांग करने के लिए जीवन में उच्च लक्ष्य के लिए कोई अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं होती है। एक महान् कवि ने इस सार्वभौमिक सत्य को सही ढंग से इन लाइनों के माध्यम से कहा हैः

''मैंने जीवन से एक पैसे के लिए सौदेबाजी किया
और जीवन ने कुछ भी अधिक का भुगतान नहीं किया,
हालांकि मैंने शाम को विनती की
जब मैंने अपने अल्प संचय की गिनती की।
क्योंकि जीवन सिर्फ एक मालिक है,
वह वही देता है जो आप मांगते हैं
लेकिन यदि एक बार आपने मजदूरी निर्धारित कर ली,
फिर क्यों, आपको कार्य वहन करना चाहिए।
मैंने एक सेवक के भाड़े पर काम किया,

केवल निराशा जानने के लिए,
कि मैंने जीवन से जो भी मजदूरी मांगी होती,
जीवन ने स्वेच्छा से चुका दिया होता।''

जब तक हम नहीं चाहेंगे, खुद में कमियां निकालने का सिलसिला यूं ही बरकरार रहेगा। और ये कमियां दूसरों से तुलना करने पर ही निकलती हैं। मुकाबला करना है, तो खुद से कीजिए।

दूसरों से नहीं, खुद से आगे बढ़ें

-डॉ. श्वेता शर्मा, क्लिनिकल मनोवैज्ञानिक

कई दफ़ा मन में ख्याल आता है कि शायद मुझमें कोई कमी है, मैं उसकी तरह क्यों नहीं हूं। किसी का बेहतर काम, उपलब्धि, जीवनशैली, कौशल देखकर ये सवाल सभी के मन में उभरता है। मन में यह विचार भी आता है कि ये मेरे पास क्यों नहीं। अपने अंदर अनगिनत कमियां निकालना बहुत आसान होता है। पर ऐसी भावनाएं आत्मविश्वास में कमी लाती हैं और मानसिक रूप से कमजोर भी करती हैं। इससे निकलने के लिए ख़ुद को कम मत समझिए, तभी जिंदगी बेहतर बनेगी।

इलियनॉर रूज़वेल्ट ने कहा है कि आपकी मर्ज़ी के के बिना कोई आपको हीन महसूस नहीं करवा सकता।

1. जो चाहती हैं वही करें

किसी के जीवन, शोहरत, कौशल आदि से खुद की तुलना करने के बजाय खुद से खुद की तुलना कीजिए और देखिए कि आप स्वयं को किस मुकाम पर चाहती हैं। जब हम दूसरों से अपनी तुलना करते हैं, तो अंततः अपने अंदर सारी नकारात्मक ऊर्जा और भावनाएं भर लेते हैं, जिनका असर ज़िंदगी पर पड़ने लगता है। ऐसे में पहले ये जानें कि आप जीवन में कैसा बनना चाहते हैं। फिर खुद को वैसा ही तराशने की कोशिश करें। पर हां, वे लक्ष्य खुद को बेहतर बनाने के लिए होने चाहिए, न कि किसी की देखा-देखी से, क्योंकि सबकी योग्यता अलग-अलग होती है। गौतम बुद्ध का एक प्रचलित प्रसंग है।

बुद्ध से एक व्यक्ति ने पूछा कि जीवन का मूल्य क्या है? बुद्ध ने उस एक पत्थर दिया और कहा कि बाजार जाकर को इसकी कीमत मालूम करके आओ। बाजार में सभी ने उस पत्थर की अलग-अलग कीमत बताई। संतरेवाले ने उस पत्थर की कीमत 12 संतरे लगाई। सब्जीवाले ने 1 बोरी आलू, सुनार ने 4 हजार स्वर्ण मुद्राएं और जोहरी ने उसे अनमोल बताया। यही बात हमारे जीवन पर भी लागू होती है। हर व्यक्ति एक हीरा है, लेकिन दूसरे लोग उसकी कीमत अपने सामर्थ्य और जानकारी के अनुसार लगाते हैं। इसलिए बेहतर है कि किसी ओर से अपनी योग्यता की तुलना करने के बजाय हम खुद से अपना आकलन करें।

2. बेहतरी का पैमाना स्वयं तय करें

गृहिणी कई काम एक साथ कर सकती है, घर और वित्त प्रबंधन में अच्छी होती है, ये योग्यता किसी कामकाजी महिला में हो, ऐसा ज़रूरी नहीं। आप कितनी काबिल हैं इसका पैमाना आप को ही तय करना है। इसके लिए किसी से तुलना करने की आवश्यकता नहीं है। एनिमेटर और फिल्म निर्माता वॉल्ड डिज़्नी को अख़बार से ये कहकर निकाल दिया गया था उनमें कल्पना और अच्छे विचारों की कमी है। हो सकता है वे उस नौकरी या पद के लिए क़ाबिल न हों, लेकिन उनमें जो योग्यता और क्षमता थी, वह आज हम सभी के समाने हैं।

3. कोई भी परिपूर्ण नहीं होता

अगर खुद को बेहतर बनानी चाहती हैं तो निपुण होने के बजाय प्रगति पर ध्यान केन्द्रित कीजिए। कोई भी व्यक्ति परिपूर्ण नहीं होता है और न ही हो सकता है। सीखते रहना ही मनुष्य का स्वभाव है, जो ज़िंदगीभर चलता रहता है। कमतर आंकड़ने की सोच मन में न आने दें। ये आत्मविश्वास और स्वाभिमान को चोट पहुंचाने वाले विचार हैं। खुद के प्रति सकारात्मक विचारों को लेकर हमेशा मजबूती से डटी रहें।

4. कल से आज का क़द

खुद को लगातार बेहतर बनाते जाने की कोशिश हममें आत्मविश्वास तो लाती ही है, हमें दूसरों की होड़ से भी दूर करती है। कोई बहुत अच्छा काम कर रहा है, या किसी ने कोई जबर्दस्त कामयाबी हासिल की है, तो उसे देखकर प्रेरित होना ज़रूरी

है, लेकिन उसकी तरह बनने की कोशिश का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि किन्हीं दो लोगों की जिंदगी एक जैसी नहीं हो सकती। प्रेरणा लेकर, अपने मुताबिक बेहतरी लाएं।

जो दिखता है, जरूरी नहीं वह हो

सोशल मीडिया पर किसी परिचित या अनजान व्यक्ति की घूमते हुए या पार्टी करते हुए तस्वीरें या फिर टीवी पर मशहूर हस्तियों को देखकर कई लोगों के मन में ख़्याल आता है कि वो उनसे कितना पीछे छूट गए हैं। मगर ये केवल आपका ख़्याल है, तस्वीर का एक ही रुख़। हो सकता है आपकी ज़िंदगी उनसे बेहतर हो। इसलिए उन्हें सिर्फ़ देखिए और आगे बढ़िए।

अन्त्योदय से सर्वोदय हेतु-

परम विकास से चरम सफलता हेतु

(परमात्मा बनने हेतु अन्तरात्मा को सम्बोधन-आह्वान)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल-इस तन के पंछी रे...)

मेरे अन्तरआतम रे हो ऽऽऽ तू शीघ्र परमात्मा बन...2
इस हेतु त्यागो बहिरातमा, तू स्व (अन्तरात्मा) को बढ़ाता चल...।। (ध्रुव)
बहिरातम है मिथ्यात्वपना, ''मैं हूँ शरीर'' ऐसा श्रद्धान...।
इसके साथ ही विभाव-परभाव को, मानना है स्वस्वभाव।। तू शीघ्र (1)
यथा राग द्वेष काम क्रोध मोह ईर्ष्या तृणा घृणा मदमत्सर।
हास्य रति अरति भय शोक जुगुप्सा शंका कांक्षा मूढ़ता ममकार।। तू शीघ्र (2)
स्वयं को दीन हीन कायर नीच तुच्छ राजारंक मानना मिथ्यात्व।
परावलम्बन अन्धानुकरण प्रतिस्पर्द्धा परप्रपंच व मान-सम्मान।। तू शीघ्र (3)
परनिन्दा अपमान वैर-विरोध संकल्प विकल्प संक्लेश द्वन्द्व।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि डिग्री कीर्ति वर्चस्व आलस्य व प्रमाद।। तू शीघ्र (4)
ये सभी बहिरातमा को जानकर, इसे त्यागता हुआ बन अन्तरात्मा।

उत्तरोत्तर इन्हें शीघ्र त्यागता चल, जिससे तेरी (अन्तरात्मा) वृद्धि होगी उत्तरोत्तर।। तू शीघ्र (5)
यथा यथा प्रकाश बढ़ते जाने से तथा तथा अन्धेरा घटता जाए।
यथा यथा तू बढ़ते जाने से तथा तथा बहिरात्मा होगा क्षीण।। तू शीघ्र (6)
इस क्रम से परमात्मा बढ़ता जायेगा जिससे परमात्मा के गुण बढेंगे।
समता शान्ति क्षमा सहिष्णुता सरल सहजता वीतरागता में वृद्धि।। तू शीघ्र (7)
इससे बढ़ेगी आत्मविशुद्धि शक्ति जिससे नशेंगे परभाव-विभाव...
जिससे अन्तरात्मा से परमात्मा बनोगे, शुद्ध बुद्ध आनन्द प्रभु विभु।। तू शीघ्र (8)
यही तेरे परमविकास सुख अन्त्योदय से ले सर्वोदय जेष्ठ।
तब बनोगे अद्वितीय अनुपमश्रेष्ठ सूरी 'कनक' का परम लक्ष्य।। तू शीघ्र (9)

ग.पु.कॉ. दि. 21/8/2020 रात्रि 9.42

(यह कविता यशवन्त, शर्मिला के कारण बनी।)

रत्नत्रय कर्मबंध का कारण नहीं है

असमग्रं भावतयो, रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धोयः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं, मोक्षोपायो न बंधनोपायः।। (211) पुरु.

Even when Ratna Traya is partially followed, whatever bondage of karma there is, due to its Antithesis (the passion) because Ratna-Traya is assuredly the way to liberation, and can never be the cause of bondage.

अपरिपूर्ण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना/परिपालन से जो कर्मबंध होता है वह कर्मबंध रत्नत्रय से न होकर उसके विपक्षभूत राग द्वेष से होता है। अपरिपूर्ण रत्नत्रय से कर्मबंध होता है। जितने अंश में रत्नत्रय है उतने अंश में कर्मबंध नहीं होता है और उतने अंश मोक्ष के उपाय हैं। जितने अंश में रत्नत्रय का अभाव है और राग-द्वेष का सद्भाव है उतने अंश में कर्मबंध होता है जो मोक्ष के लिये कारण नहीं है। निश्चय रत्नत्रय कर्मबंध के लिये कारण नहीं है, असर्वदेशी रत्नत्रय कर्मबंध के लिये कारण होता है। निश्चय रत्नत्रय कर्मबंध के लिये कारण नहीं होता है।

रत्नत्रय और राग का फल

येनांऽशेन सुदृष्टिस्तेनाऽशेनाऽस्य बंधनं नाऽस्ति।
येनांऽशेन तु राग स्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं भवति।। (212)
येनांऽशेन तु ज्ञानं, तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं नास्ति।
येनांऽशेन तु रागस्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं भवति।। (213)
येनांऽशेन चारित्रं, तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनाशेनं तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति।। (214) पु.सि.

(In every thought activity) there is no bondage so for as there is right belief; there is bondage so for as there is passion (In every thought activity) there is no bondage so for as there is knowledge; there is bondage so far as there is passion. (In every thought activity) there is no bondage so for there is conduct; there is bondage so for as there is passion.

जिस अंश से सुदृष्टि होता है उस अंश से सम्यक् दर्शन होता है। उस सुदृष्टि रूप अंश से उस सम्यक्त्व का कर्मबंध नहीं होता है। किन्तु जिस अंश से उस सम्यक् दृष्टि में भी राग होता है उस अंश से उस सम्यक् दृष्टि को भी कर्मबन्ध होता है।

जिस अंश से ज्ञान होता है उस अंश से कर्मबन्ध नहीं होता है परन्तु जिस अंश से राग होता है उस अंश से उस ज्ञानी को कर्मबन्ध होता है।

जिस अंश से चारित्र होता है उस चारित्र अंश से कर्म बन्ध नहीं होता है परन्तु जिस अंश से राग होता है उस अंश से उस चारित्र या चारित्रधारी को कर्मबन्ध होता है।

इसका भावार्थ यह है कि सराग रत्नत्रय में बन्ध होता है। वीतराग रत्नत्रय में बन्ध नहीं होता है।

समीक्षा:–जैसे-जिस अंश में प्रकाश होता है उस अंश में अन्धकार नहीं होता है तथा जिस अंश में अंधकार होता है उस अंश में प्रकाश नहीं होता है। प्रकाश जितने-जितने अंश में बढ़ता जाता है उसने उतने अंश में अन्धकार भी घटता जाता है। जितने जितने अंश में अन्धकार बढ़ता जाता है उतने-उतने अंश में प्रकाश घटता जाता है। इसी प्रकार जितने-जितने अंश में रत्नत्रयात्मक स्वभाव आत्मा में प्रकट

होता है उतने-उतने अंश में वैभाविक भावरूपी कर्मबन्ध घटता जाता है। आचार्य उमास्वामी ने पात्र की अपेक्षा निर्जरा में न्यूनाधिकता का वर्णन करते हुए प्रकारान्तर से इसी विषय को निम्न प्रकार से कहा है-

सम्यग्दृष्टि श्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोशमकोपशान्त मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत अनन्तानुबन्धिविसंयोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा वाले होते हैं। जब तक सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती तब तक आस्रव और बंध की परम्परा चलती रहती है। वह बंध की परम्परा मिथ्यादृष्टि की अनादि से हैं। उसकी जो निर्जरा होती है वह सविपाक निर्जरा या अकाम निर्जरा है। इसलिए मिथ्यादृष्टि केवल आस्रव और बंध तत्त्व का कर्त्ता है। सम्यग्दर्शन होते ही जीव के ज्ञान एवं दर्शन में परिवर्तन हो जाता है। जिस अंश में दर्शन ज्ञान चारित्र में सम्यक् भाव है उतने अंश में संवर, निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान एवं चारित्र आत्मा का स्वभाव है।

पात्र की अपेक्षा गुणश्रेणी निर्जरा और उसके द्रव्य प्रमाण और काल प्रमाण का वर्णन गोम्मटसार में निम्न प्रकार किया हैः-

सम्मत्तुप्पत्तीये-सावय विरदे अणंत कम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कषायउवसामगे य उवसंते।। (66)

खवगे य खीणमोहे-जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति।। (67)

सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कर्म का विसंयोजन करने वाला, दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने वाला, कषायों का उपशम करने वाला 8-9-10 वें गुणस्थानवर्ती जीव, क्षीण-मोह, सयोगी केवली और अयोगी केवली दोनों प्रकार के जिन ग्यारह स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा क्रम से असंख्यात गुणी अधिक होती जाती है। और उसका काल इसके विपरीत है अर्थात् क्रम से उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन है।

सम्यग्दृष्टि (अविरत):-जैसे मद्यपायी के शराब का कुछ नशा उतरने पर अव्यक्त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है या दीर्घ निद्रा के हटने पर जैसे-ऊँघते-ऊँघते भी अल्प स्मृति होती है या विष मूर्च्छित व्यक्ति को विष का एक देश वेग कम होने पर चेतना आती हैं अथवा पित्तादि विकार से मूर्च्छित व्यक्ति को मूर्च्छा हटने पर अव्यक्त चेतना आती है उसी प्रकार अनन्तकाय आदि एकेन्द्रियों में बार-बार जन्म-मरण परिभ्रमण करते-करते विशेष लब्धि से दो इन्द्रिय आदि से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस पर्याय मिलती है। कभी मुनिराज कथित जिनधर्म को सुनता है तथा कदाचित् प्रतिबन्धी कर्मों के दब जाने से उस पर श्रद्धान भी करता है जैसे-कतक फल के सम्पर्क से जल का कीचड़ बैठ जाता है और जल निर्मल बन जाता है, उसी प्रकार मिथ्या उपदेश से अति मलिन मिथ्यात्व के उपशम से आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर श्रद्धानाभिमुख होकर तत्त्वार्थ श्रद्धान की अभिलाषा के सन्मुख होकर कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा करता है। प्रथम सम्यक्त्वादि का लाभ होने पर अध्यवसाय (परिणामों) की विशुद्धि की प्रकर्षता से ये दसों स्थान क्रमशः असंख्येयगुणी निर्जरा वाले हैं। सादि अथवा अनादि दोनों ही प्रकार का मिथ्यादृष्टि जीव जब करण लब्धि को प्राप्त करके उसके अधः प्रवृत्त करण परिणामों को भी बिताकर अपूर्वकरण परिणामों को ग्रहण करता है तब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। पूर्व की निर्जरा से अर्थात् सदा ही संसारावस्था या मिथ्यात्व में होने वाली या पाई जाने वाली निर्जरा से असंख्यात गुणा अधिक हुआ करती है।

यह कथन गोम्मट्टसार जीवकाण्ड की अपेक्षा से है। इसी से सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि की जो निर्जरा होती है उस निर्जरा को यहाँ पर ईकाई रूप में स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र की अपेक्षा निर्जरा के स्थान दस हैं और गोम्मट्टसार की अपेक्षा निर्जरा के स्थान ग्यारह है परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में जो अन्तिम स्थान 'जिन' है उसे सयोगी जिन रूप में विभक्त करने से तत्त्वार्थसूत्र में भी ग्यारह स्थान हो जाते हैं।

श्रावक (पञ्चम गुणस्थान) अवस्था को प्राप्त होने पर कर्मों की निर्जरा होती है वह असंयत सम्यग्दृष्टि की निर्जरा से असंख्यातगुणी अधिक होती है। इस प्रकार विरतादि स्थानों में भी उत्तरोत्तर क्रम से असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी अधिक अधिक कर्मों की निर्जरा हुआ करती है। तथा इस निर्जरा का काल

उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन-हीन होता गया है अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि की निर्जरा में जितना काल लगता है उससे संख्यात गुणा कम काल श्रावक की निर्जरा में लगा करता है। इसी प्रकार आगे से विरत आदि स्थानों के विषय में भी समझना चाहिए।

अर्थात् उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हीन-हीन समय में ही उत्तरोत्तर परिणाम विशुद्धि की अधिकता होने के कारण कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी अधिक-अधिक होती जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे जैसे मोहकर्म निःशेष होता जाता है वैसे-वैसे निर्जरा भी बढ़ती जाती है और उसका द्रव्य प्रमाण असंख्यातगुणा-असंख्यागुणा अधिकाधिक होता जाता है। फलतः वह जीव भी निर्वाण के अधिक अधिक निकट पहुँचता जाता है। जहाँ गुणाकार रूप से गुणित निर्जरा का द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है उन स्थानों में गुण श्रेणी निर्जरा कही जाती है।

बंध का कारण

योगात्प्रदेश-बंधः स्थिति-बंधो भवति तु कषायात्।
दर्शन बोध चारित्रं न योगरूपं न कषायरूपं च।। (215)
''प्रकृतिः परिणामः स्यात्, स्थितिः कालाऽवधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयो, प्रदेशो दल-संचयः।''

Pradesha Bandha, bondage of karmic molecules is due to soul's vibratory activity, and sthiti Bandha, duration bondage, is due to passions. But Right belief, knowledge and conduct have neither the nature of vibrations nor of passions.

मन-वचन-काय योग से प्रदेश बंध होता है। क्रोधादि कषाय से स्थिति बंध होता है। योग से प्रकृति, प्रदेश बंध जीव करता है। स्थिति अनुभाग बंध कषाय से जीव करता है। कहा भी है-

परिणाम अर्थात् स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। स्थिति, काल की अवधारणा को अर्थात् मर्यादा को स्थिति कहते हैं। इस फलदान शक्ति को अनुभाग कहते हैं। कर्म परमाणु समूह के संचय को प्रदेश कहते हैं।

योग तथा कषायों के उत्कृष्ट तथा निकृष्ट भेद से बंध में भी विचित्रता जाननी चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ना योग रूप है ना कषाय रूप है। योग तथा कषाय स्वरूप भिन्न हैं तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप भिन्न है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में योग तथा कषाय नहीं होता है इसलिए रत्नत्रय से कर्मबंध नहीं होता है।

रत्नत्रय से बंध क्यों नहीं होता?

दर्शनमात्मविनिश्चिति, रात्म-परिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं, कुत ऐतभ्यो भवति बन्धः।। (216)

Right belief is conviction in one's own self, knowledge is a knowledge of one' s self own self; conduct is absorption in one's own self. How can there be bondage by these.

दर्शन, बोध, चारित्र से कर्मबंध नहीं होता ऐसा कहा गया है। यह किस प्रकार है? ऐसा प्रश्न करने पर दर्शन आदि का स्वरूप बता रहे हैं।

आत्मा की विनिश्चिति/प्रतीति/श्रद्धा सम्यग्दर्शन होता है। अर्थात् आत्मा के निश्चय स्वभाव का दर्शन सम्यक्त्व होता है। आत्मा का समग्रता से परिज्ञान/चिन्तन/बोध को ज्ञान कहते हैं। आत्मा में ही स्थिर हो जाना, उसमें रमण करना चारित्र है। ये तीनों आत्मा के स्वभाव होने के कारण इससे कर्मबंध किस प्रकार होगा? अर्थात् यह आत्मा का स्वभाव होने से स्वभाव में बंध नहीं होता है किन्तु विभाव में बंध होता है।

रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियों का बंधक नहीं

सम्यक्त्व-चारित्राभ्यां, तीर्थंकराऽऽहार-कर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये, न नयविदां सोऽपि दोषाय।। (217)

Whatever, bondage of Tirthankar karma, or Aharaka karma, has been described in the scripture as due to right belief and conduct, would not appear to be a mistake to those who are learned in the points of view.

शास्त्र में कहा गया है कि तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर का बंधन सम्यक्त्व और चारित्र से होता है। अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ सिद्धान्त शास्त्र में वर्णन है कि अरिहन्त के लिये कारणभूत तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति का बंध, आहारक नाम कर्म उदय के निमित्त आहारक शरीर प्रकृति का बंध, सम्यक्त्व और चारित्र से होता है। परन्तु यह बंध नय को जानने वालों के लिए दोष कारक नहीं हैं।

हानि से लाभ/ नास्ति से अस्ति

(विनाश से विकास, क्षय से मोक्ष, नाश से अविनाश)

(चाल-कसमें वादे...)

मृत्यु होने पर (तेरा) क्या नशेगा, तू तो अमृत तत्त्व रे!
देह तो पुद्गल पृथक् होगा तू तो अमूर्त तत्त्व रे।।
जरा होने पर तेरा क्या जीर्ण होगा, तू तो ध्रुव तत्त्व रे!
जन्म होने पर तूझे क्या मिलेगा, तू तो स्वयंभू तत्त्व रे।।
मोह क्षय से तो मोक्ष होगा बनोगे अजर अमर।
राग क्षय से विरागी बनोगे जिससे मिलेगा आत्मवैभव।।
द्वेष (क्रोध) क्षय से क्षमा पाओगे बनोगे सुशान्त-सौम्य।
मान क्षय से मृदु बनोगे जिससे मिलेगा बहुमान।।
माया क्षय से ऋजुता मिलेगी, जिससे बनोगे सरस सरल।
लोभ क्षय से शुचिता पाओगे बनोंगे त्रिलोकेश्वर।।
इच्छा क्षीण से तपस्वी बनोगे पाओगे निर्जरा से मोक्ष।
मन रोध से एकाग्र बनोगे, जिससे होंगे स्वाध्याय-ध्यान।।
संकल्प-विकल्प संक्लेश नाश से, बनोगे निर्विकल्प निर्द्वन्द्व।
अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतिक्षा त्याग से, बनोगे स्वावलम्बी स्वतंत्र।।
ये हैं आध्यात्मिक रहस्य, नास्ति से अस्ति प्राप्ति सूत्र।
विभाव-परभाव त्याग से, 'कनक' चाहे स्व आत्म तत्त्व।।

ग.पु.कॉ. दि. 21/8/2020 रात्रि-1.53

जितना खाली करोगे भरेगा सही, सम्पूर्ण खाली से पूर्ण भरेगा सही।
इसी रहस्य को जाने आध्यात्मज्ञानी, इसी से परम सुखी आत्मिक ज्ञानी।। बड़ी...
तृष्णा अग्नि शान्त नहीं तृष्णा पूर्ति से, अग्नि न शान्त होती घृत पूर्ति से।
तृष्णा की अग्नि उसे जला देती है, ज्यों इसमें घृत डाला जाता है।।
मृग मरीचिका से प्यास बिना बुझाये, मृग की मृत्यु होती जो पीछे जाये।। बड़ी...
सीता की तृष्णा से मरा राजा रावण, राज्य की तृष्णा से मरे कौरव गण।
कृष्णवध की तृष्ण से मरा है कंस, प्रतिहिंसा से भी मरा जरासंघ।
सिकन्दर मरा राज्य प्राप्ति तृष्णा से, हिटलर मरा विश्वयुद्ध तृष्णा से।। बड़ी...
जो तृष्णा का दास बना हुआ है नाश, जो तृष्णा को दास बना, बना संतोष।
संतोषी सदा सुखी होता है, तृष्णा का दास सदा दुःखी होता है।
तीर्थंकर बुद्ध साधु संन्यासी जन, तृष्णा त्याग से बने आनन्दघन।। बड़ी...
तृष्णा से अतृप्ति उत्पन्न सदा होती, असंतोष वृत्ति भी उससे होती।
इससे दाहकता उत्पन्न होती, जिससे भौतिक प्यास उद्दीप्त होती।।
इसकी शान्ति हेतु होती अनीति, जिससे जीव की दुर्गति होती।। बड़ी...
आत्मिक तृप्ति से होती तृष्णा शान्ति, जिससे जीव को मिले आत्मिक शान्ति।
आत्मिक शान्ति से होती सर्व निवृत्ति, अन्याय-अत्याचार शोषण वृत्ति।
''कनकनन्दी'' चाहे आत्मिक शान्ति, प्रत्येक जीव को मिले आत्मिक शान्ति।। बड़ी...

शिवत्व प्राप्ति के उपाय

स्वं परं चेति वस्तु त्वं, वस्तुरूपेण भावय।
उपेक्षा भावनोत्कर्ष, पर्यन्ते शिवमाप्नुहि।। (22) आत्मसं.

स्व-पर तत्त्व के परिज्ञान से, वस्तु स्वरूप की भावना करो।
उपेक्षा भावना उत्कर्ष पर्यन्त करने से, शिवपद स्वयं प्राप्त करो।।

सिद्धत्तणेण ण पुणो उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ।
केवलभावं तु पडुच्च केवलं दाइयं सुत्ते।। (36)

यह केवलज्ञान रूप अर्थपर्याय सिद्धपने में उत्पन्न होती है। केवलभाव की अपेक्षा से यह कभी नष्ट नहीं होती। इस भाव को लेकर ही सूत्र में 'केवल' को शाश्वत

बताया गया है। एक बार उत्पन्न होने के बाद वह कभी नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार किसी प्रकार का आवरण भी उस पर नहीं आता। वास्तव में यह कथन व्यवहार दृष्टि से है, परमार्थ से तो वह अनादि, अनन्त है। जीव के स्वाभाविक गुण उसमें सदा, सर्वदा विद्यमान ही रहते हैं। इसलिये केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि शाश्वत ही हैं।

शुद्धोपयोग का फल पूर्ण स्वतंत्रता

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो।। (6) प्र.सा.

आगे कहते हैं कि शुद्धोपयोग से उत्पन्न जो शुद्ध आत्मा का लाभ है उसके होने में भिन्न कारक की आवश्यकता नहीं है किन्तु अपने आत्मा के ही आधीन है।

(तह) तथा (सो आदा) वह आत्मा (सयमेव) स्वयं ही (लद्धसहावो भूदो) स्वभाव का लाभ करता हुआ अर्थात् निश्चयरत्नत्रय लक्षणमय शुद्धोपयोग के प्रसाद से जैसे आत्मा सर्व का ज्ञाता हो जाता है वैसा वह शुद्ध आत्मा के स्वभाव का लाभ करता हुआ (सव्वण्हु) सर्वज्ञ व (सव्वलोयपदिमहिदो) सर्वलोक का पति तथा पूजनीय (हवदि) हो जाता है इसलिये वह (सयंभुत्ति) स्वयंभू इस नाम से (णिद्दिट्ठो) कहा गया है।

भाव यह है कि निश्चय से कर्त्ता कर्म आदि छः कारक आत्मा में ही है। अभिन्न कारक की अपेक्षा यह आत्मा चिदानन्दमई एक चैतन्य स्वभाव के द्वारा स्वतन्त्रता रखने से स्वयं ही अपने भाव का कर्त्ता है तथा नित्य आनन्दमय एक स्वभाव से स्वयं अपने स्वभाव को प्राप्त होता है इसलिये यह आत्मा स्वयं ही कर्म है। शुद्ध चैतन्य स्वभाव से यह आत्मा आप ही साधकतम है अर्थात् अपने भाव से ही आपका स्वरूप झलकता है इसलिये यह आत्मा आप ही करण हैं। विकार रहित परमानन्दमयी एक परिणतिरूप लक्षण को रखने वाला शुद्धात्मभाव रूप क्रिया के द्वारा अपने आप को अपना स्वभाव समर्पण करने के कारण यह आत्मा आप ही संप्रदान स्वरूप है। तैसे ही पूर्व में रहने वाले मति श्रुत आदि ज्ञान के विकल्पों के नाश होने पर भी अखंडित एक चैतन्य के प्रकाश के द्वारा अपने अविनाशी स्वभाव से ही यह आत्मा आपका (स्वयं का) प्रकाश करता है इसलिये यह आत्मा आप ही अपादान है तथा यह निश्चय शुद्ध चैतन्य आदि

गुण स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से आप ही स्वयं अधिकरण होता है। इस तरह अभेदषट्कारक में स्वयं ही परिणमन करता हुआ यह आत्मा परमात्मास्वभाव तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति में भिन्न कारक की अपेक्षा नहीं रखता है इसलिए आप ही स्वयंभू कहलाता है।

समीक्षा-जैसे बीज में शक्ति रूप से वृक्ष निहित है उसी प्रकार प्रत्येक जीव में भी शक्ति रूप में परमात्मा निहित है। जब योग्य बीज को जलवायु, सूर्यकिरण आदि बाह्य निमित्त मिलते हैं तब वह सुप्तरूप वृक्ष जागृत होता और शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त करता हुआ विशाल वृक्षरूप में परिणमन कर लेता है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा सुप्त रूप में गुप्त रूप में रहता है और योग्य अंतरंग बहिरंग साधनों से वह आत्मा ही परमात्मा रूप से परिणमति होकर प्रकट हो जाता है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है-

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता।। (2)

जिस तरह सुवर्णरूप पाषण योग्य बाह्य कारण, योग्य उपादानरूप कारण के सम्बन्ध से पाषाण (पत्थर) सुवर्ण हो जाता है, उसी तरह द्रव्यादि चतुष्टयरूप-सुद्रव्य, सुक्षेत्र, सुकाल और स्वभावरूप-सुयोग्य सम्पूर्ण सामग्री के विद्यमान होने पर निर्मल चैतन्य स्वरूप आत्मा की उपलब्धि हो जाती है।

गीता में नारायणकृष्ण ने भी कहा है-

योऽन्तः सुखोऽन्तरागरामस्तथान्तज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। (24)

जिसे आंतरिक आनन्द है, जिसके हृदय में शांति है, जिसे निश्चित रूप से अंतर्ज्ञान हुआ है वह ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्म निर्वाण पाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। (25)

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जिनकी शंकाएँ शांत हो गई हैं, जिन्होंने मन पर अधिकार कर लिए हैं और जो प्राणी मात्र के हित में ही लगे रहते हैं, ऐसे ऋषि ब्रह्म निर्वाण पाते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।

अभितो ब्रह्मनिर्वाण वर्तते विदितात्मनाम्।। (26)

जो अपने को पहचानते हैं, जिन्होंने काम क्रोध को जीता है और जिन्होंने मन को वश किया है, ऐसे यतियों को सर्वत्र ब्रह्म निर्वाण ही है।

स्पर्शान्कृत्वा वहिर्बाह्याश्चक्षुवान्तरे ध्रुवोः।

प्राणापानो समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौः।। (27)

यतेन्द्रिय मनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एवं सः।। (28)

बाह्य विषय-भोगों का बहिष्कार करके, दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थिर करके, नासिका द्वारा आने-जाने वाले प्राण और अपान वायु की गति को एक समान रखकर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में करके तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर जो मुनि मोक्षपरायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है।

महात्मा बुद्ध ने भी अपने धर्मोपदेश में इसी भाव को प्रकट करने वाली गाथाएँ कही थीं जिनका संकलन धम्मपद में किया गया है जो निम्न प्रकार है-

निट्ठङ्गतो असन्तासी वीततण्हो अनङ्गणो।

अच्छिन्दि भवसल्लानि अन्तिमोयं समुस्सयो।। (18)

जिसने अर्हत्व पा लिया है, जो राग आदि के त्रास से निर्भीक है जो तृष्णा-रहित और निर्मल है, जिसने भव के शल्यों को काट दिया, यह उसका अन्तिम देह है।

सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।

सब्बञ्ञ्हो तण्हक्खये विमुत्तो सयं अभिञ्ञय कमुद्दिसेय्यं।। (20)

मैं (राग आदि) सभी को परास्त करने वाला हूँ, सभी बातों का जानकार हूँ, सभी धर्मों (इन्द्रिय तृष्णा आदि) में अलिप्त हूँ, सर्वत्यागी हूँ, तृष्णा के नाश से मुक्त हूँ, (विमल ज्ञान को) अपना ही जानकर मैं अब किसको अपना गुरु बतलाऊँ?

भावना का माहात्म्य

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीडं वदाण सेव्वसिं।

साधू पासुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदंतो।। (1206) भग.आरा

भावनाओं से भावित साधु गहरी नींद में सोता हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ भी सब व्रतों में दोष नहीं लगाता। तब जागते हुए की तो बात ही क्या है।

इसलिये हे क्षपक! तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओं से अपने को भावित करो। इससे तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे।

शल्य व्रतरूप परिणामों के घात के निमित्त होते हैं। अतः उनको त्यागना चाहिये, यह कहते हैं-

णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं।। (1208)

शल्यरहित के ही सब महाव्रत होते हैं। 'शृणाति' अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है। जैसे शरीर आदि में घुसनेवाला बाण, काँटा आदि। उनके समान जो अन्तरंग में घुसा परिणाम प्राणी को कष्ट पहुँचाने में निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्द से कहा है। जैसे एषणासमिति का अभाव अहिंसा व्रत का घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रत का घातक है क्या? इस आशंका को दूर करने के लिये सर्व शब्द का प्रयोग किया है।

शंका-मिथ्यात्व आदि शल्य अणुव्रतों का भी घात करते हैं। यहाँ उन्हें महाव्रतों का घातक क्यों कहा?

समाधान-आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रत का प्रकरण होने से महाव्रतों का घातक कहा है।

शंका-व्रत तो हिंसा आदि से विरतिरूप परिणाम मात्र हैं। वे मिथ्यात्व आदि शल्य के होने पर क्यों नहीं होते, जिससे यह कहा गया है कि निःशल्य के ही महाव्रत होते है?

समाधान-इस शङ्का का निराकरण करने के लिये कहते है-निदान मिथ्यात्व और माया इन तीनों के द्वारा व्रत का घात होता है।

शंका-माया शब्द अल्प अच्वाला है अतः उसे पहले रखना चाहिये?

समाधान-नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व व्रत का घात प्रकर्ष रूप से करता है अतः प्रधान है। तब 'मिथ्यात्व और माया' ऐसा द्वन्द्व समास करने पर मिथ्यात्व शब्द का पूर्व निपात होता है। फिर निदान शब्द के साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्द का पूर्व

निपात होता है क्योंकि वह अल्प अच्वाला है। यहाँ मोक्ष के मार्ग रूप से सम्यक्चारित्र का कथन है। वह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अभाव में नहीं होता। क्योंकि विरोधी मिथ्यात्व के रहते हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होते। रत्नत्रयरूप अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्ति से अन्यत्र चित्त का उपयोग लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, निदान है। वह सम्यग्दर्शन आदि की परम्परा से व्रत का घातक है। तथा मन से अपने दोषों को छिपाने रूप माया भी व्रत का घात करती है।

विशेषार्थ-निदान से सम्यग्दर्शन में अतिचार लगता है और व्रत का मूल सम्यग्दर्शन है। तथा निदान से व्रतों का घात होता है।

गा.-उन शल्यों में निदान नामक के शल्य के तीन भेद हैं-प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान। तीनों ही प्रकार का निदान मोक्ष के मार्ग रत्नत्रय का विरोधी है।

प्रशस्त निदान का कथन करते हैं-

संजमहेदुं पुरिसत्तसबलविरियसंघदणबुद्धी।
सावअबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं।। (1210)

संयम में निमित्त होने से पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढ़ता, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियों के बन्धन विशेष रूप वज्रऋषभनाराच संहनन आदि, ये संयम साधन मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार चित्त में विचार होना प्रशस्त निदान है। तथा मेरा जन्म श्रावक कुल में हो, ऐसे कुल में हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना प्रशस्त निदान है।

विशेषार्थ-एक प्रति में दरिद्रकुल तथा एक में बन्धुकूल पाठ भी मिलता है। दीक्षा लेने के लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्पन्न घर भी उपयोगी हो सकता है। इसी तरह बन्धु बान्धव परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी। मुनष्य के मन में विरक्ति उत्पन्न होने की बात है।

अप्रशस्त निदान कहते हैं-

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्तं।
सोभग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु।। (1211)

मानकषाय के वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय आदि की प्राप्ति की प्रार्थना करना अप्रशस्त

निदान है। माता के वंश को जाति और पिता के वंश को कुल कहते है। जाति कुल और रूप मात्र तो सुलभ हैं क्योंकि मनुष्य पर्याय में जन्म लेने पर ये तीनों अवश्य मिलते हैं। इसलिये यहाँ जाति कुल और रूप से प्रशंसनीय जाति आदि लेना चाहिये। मान कषाय से दूषित होने से यह अप्रशस्त निदान है।

कुद्धो वि अप्पसत्थं मरणे पत्थेइ परवधादीयं।
जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिट्ठेण।। (1212)

क्रोध कषाय के वश होकर भी कोई मरते समय दूसरे का वध करने की प्रार्थना करता है। जैसे वशिष्ठ ऋषि ने उग्रसेन का घात करने का निदान किया था।

विशेषार्थ-वशिष्ठतापसने उग्रसेन को मारने का निदान किया था। इस निदान के फल से वह मरकर उग्रसेन का पुत्र कंस हुआ। और उसने पिता को जेल में डालकर राज्यपद प्राप्त किया। पीछे कृष्ण के द्वारा स्वयं भी मारा गया।

भोगनिदान का

देविगमाणुसभोगे णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं।
केसवचक्कधरत्तं पत्थंते होदि भोगकदं।। (1213)

देवों और मनुष्यों में होनेवाली भोगों की अभिलाषा करना तथा भोगों के लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होने की वांछा करना भोगनिदान है।

संजम सहारूढो घोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि।
पगरिज्ज जइ णिदाणं सोवि य वड्ढेइ दीहसंसारं।। (1214)

संयम पर्वत के शिखर के समान है क्योंकि जैसे पर्वत का शिखर अचल और दुःख से चढ़ने योग्य है वैसा संयम भी है। उस संयम पर जो आरूढ़ है अर्थात् उत्कृष्ट संयम का धारी है, घोर तप करने में उत्साही है अर्थात् दुर्धर तप करता है और तीन गुप्तियों का धारी है, वह भी यदि निदान करता है तो अपना संसार बढ़ाता है, फिर दूसरे निदान करनेवाले का तो कहना ही क्या है।

जो अप्पसुक्खहेदुं कुणइ णिदाणभविगणियपरमसुहं।
सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकोडिसयमोल्लं।। (1215)

सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियों के रूप को देखने का अनुरागी था। उसकी आँख में बाण लगा और वह मरकर नरक गया। नासिक नगर में गृहपति सागरदत्त की भार्या नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रिय के कारण अपने ग्वाले पर आसक्त थी। उसने अपने पुत्र को मारा तो उसकी लड़की ने अपनी मां को मार दिया।

क्रोध के दोष

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खवक्खो।
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि।। (1355)

जो क्रोध से ग्रस्त होता है उसका रंग नीला पड़ जाता है, कान्ति नष्ट हो जाती है, अरतिरूपी आग से संतप्त होता है। ठंड में भी उसे प्यास सताती है और पिशाच से गृहीत की तरह क्रोध से काँपता है। भृकुटी चढ़ने से मस्तक पर तीन रेखाएँ पड़ जाती है, लाल लाल निश्चल आँखे बाहर निकल आती हैं। इस तरह क्रोध से मनुष्य दूसरे मनुष्यों के लिए राक्षस की तरह भयानक हो जाता है। जैसे कोई पुरुष रुष्ट होकर दूसरे का घात करने के लिए तपा लोहा उठाता है। ऐसा करने से दूसरा उससे जले या न जले, पहले वह स्वयं जलता है।

तध रोसेण सयं पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव।
अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्ज।। (1357)

उसी प्रकार पिघले हुए लोहे की तरह क्रोध से पहले स्वयं जलता है। दूसरे को वह दुःखी करे या न करे।

णासेदूण कसायं अग्गी णसदि सयं जधा पच्छा।
णासेदूण तध णरं णिरासवो णस्सदे कोधो।। (1358)

जैसे आग ईधन को नष्ट करके पीछे स्वयं बुझ जाती है उसी प्रकार क्रोध पहले क्रोधी मनुष्य को नष्ट करके पीछे निराधार होने से स्वयं नष्ट हो जाता है।

कोधो सत्तगुणकरो णीयाणं अप्पणो य मण्णुकरो।
परिभवकरो सवासे रोसो णासेदि णरमवसं।। (1359)

क्रोध शत्रु का जो धर्म है अपकार करना, उसे करता है अथवा क्रोध शत्रु का उपकार करता है क्योंकि उसे क्रोध की आग में जलते हुए देखकर शत्रु प्रसन्न होते हैं।

वे सदा इस प्रयत्न में रहते हैं कि कैसे इसे क्रोध उत्पन्न करें। क्रोध अपने और बन्धु बान्धवों को शोक में डालता है। अपने ही घर में अपना तिरस्कार कराता है। परवश मनुष्य का नाश करता है।

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च।
रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि।।(1360)

क्रोधी जिस पर क्रोध करता है उसके गुणों को नहीं देखता। उसके गुणों की भी निन्दा करता है। जो कहने योग्य नहीं है वह भी कहता है इस प्रकार क्रोध से रौद्र हृदय मनुष्य का विभाव नारकी जैसा होता है।

जध करिसयस्य धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलुं पत्तं।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं।। (1361)

जैसे चिनगारी एक वर्ष के श्रम प्राप्त खलिहान में आये किसान के धान्य को जला देती है उसी प्रकार क्रोधरूपी आग श्रमण के जीवन भर में उपार्जित पुण्य धन को जला देती है।

जध उग्गाविसो उरगो दब्भतणंकुरहदो पकुप्पंतो।
अचिरेण होदि अविसो तध होदि जदी वि णिस्सारो।। (1362)

जैसे उग्र विषवाले सर्प को घास के एक तिनके से मारने पर वह अत्यन्त रोष में आकर उस तिनके पर अपना विष वमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है उसी प्रकार यति भी क्रोध करके अपने रत्नत्रय का विनाश करता है और शीघ्र ही निस्सार हो जाता है।

पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो।
होदि य रोसणिमित्तं जम्मसहस्सेसु य दुरूवो।। (1363)

सुन्दर सुरूप पुरुष भी क्रोध से रूप के नष्ट हो जाने पर बन्दर के समान लाल मुख वाला विरूप हो जाता है। इस जन्म में क्रोध के दोष दिखलाकर परलोक में दिखलाते हैं एक भव में क्रोध करने से हजारों जन्मों में कुरूप होता है।

सुट्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण।। (1364)

क्रोध करने से अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी मुहूर्त मात्र में द्वेष का पात्र होता है। तथा क्रोधी मनुष्य के अनुचित काम करने से उसका फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है।

णीयल्लगो वि रुट्ठो कुणदि अणीयल्ल एव सत्तू वा।
मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाणं।। (1365)

क्रोधी मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियों को भी असम्बन्धी अथवा शत्रु बना लेता है। उनको मारता है या उनके द्वारा मारा जाता है अथवा स्वयं मर जाता है।

पुज्जो वि णरो अवमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चेव।
जगविस्सुदं वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स।। (1366)

पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करने से तत्काल अपमानित होता है। क्रोधी का जगत् में प्रसिद्ध माहात्म्य नष्ट हो जाता है।

हिंस अलियं चोज्जं आचरदि जणस्स रोसदोसेण।
तो ते सव्वें हिंसालिया दि दोसा भवे तस्स।।(1367)

क्रोध के कारण मनुष्य लोगों की हिंसा करता है, उनके सम्बन्ध में झूठ बोलता है, चोरी करता है। अतः उसमें हिंसा झूठ आदि सब दोष होते हैं।

वारवदीय असेसा दड्ढा दीवायणेण रोसेण।
बद्धं च तेण पावं दुग्गदिभयबंधणं घोरं।। (1368)

द्वीपायन मुनि ने क्रोध से समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी और दुर्गति में ले जाने वाले घोर पाप का बन्ध किया।

मान के दोष

कुलरूवाणाबलसुदलाभस्सरयत्थमदितवादीहिं।
अप्पाणमुण्णमंतो नीचागोदं कुणदि कम्मं।। (1369)

कुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य विषयों में अपने को बड़ा मानने वाला, उनका अहंकार करने वाला नीच गोत्र नामक कर्म का बन्ध करता है।

दट्ठूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं।
दट्ठूण अप्पणादो अधिए माणं णयंति बुधा।। (1370)

अपने से हीन व्यक्तियों को देखकर मूर्ख लोग मान करते हैं। किन्तु विद्वान् अपने से बड़ों को देखकर मान दूर करते हैं।

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि।
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं।। (1371)

मानी से सब द्वेष करते है। वह कलह, भय वैर और दुःख का पात्र होता है तथा इस लोक और परलोक में नियम से अपमान का पात्र होता है।

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा।
माणेण चेव मेघुणहिंसालियचोज्जमाचरदि।।(1372)

पहले जो क्रोध के दोष कहे हैं वे सब दोष मानकषाय के भी जानना। मानसे मनुष्य हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मैथुन में प्रवृत्ति करता है।

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि।।(1373)

मान रहित व्यक्ति जगत् में स्वजन और परजन सदा सबका प्रिय होता है। वह ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्य को सिद्ध करता है।

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं।।(1374)

मार्दव युक्त व्यवहार करने पर कोई धनहानि नहीं होती जिससे धनहानि के भय से मनुष्य मान करे। विनय से इस जन्म में और जन्मान्तर में सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं।

सट्ठिं साहस्सीओ पुत्ता सगरस्स रायसीहस्स।
अदिबलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण।। (1375)

सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र महाबलशाली होते हुए भी मान दोष के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए।

माया के दोष

जध कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं।
मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदिं तवसमिद्धो वि।। (1376)

जैसे एक कोटी धनका स्वामी होने पर भी यदि शरीर में कील काँटा घुसा हो

तो शारीरिक सुख नहीं मिलता। उसी प्रकार तप से समृद्ध होने पर भी यदि अन्तर में माया रूपी शल्य घुसा है तो मोक्ष लाभ नहीं हो सकता।

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तध अवमदो य सुजणस्स।
होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण।। (1377)

माया दोष से मनुष्य सबके द्वेष का पात्र होता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता। सुजन भी उसका अपमान करते हैं। वह शीघ्र ही अपने बन्धु-बान्धवों का भी शत्रु बन जाता है।

पावइ दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि।
सच्चाण सहस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि।।(1378)

अपने द्वारा थोड़ा सा अपराध होने पर भी मायाचारी महान् दोष का भागी बनता है। एक बार का भी मायाचार हजारों सत्यों को नष्ट कर देता हैं। इस प्रकार महादोष का भागी होना और हजार सत्यों का विनाश ये माया के दोष हैं।

मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी।
णासदि मायादोसा विसजुददुद्धंव सामण्णं।। (1379)

मायाचार से मित्रता नष्ट हो जाती है और उससे इस लोक सम्बन्धी कार्यो का विनाश होता है। तथा मायादोष से विष मिश्रित दूध की तरह मुनिधर्म नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मित्रता और कार्य का नाश तथा मुनिधर्म की हानि ये माया के दोष हैं।

माया करेदि णीचागोदं इत्थी णवुंसयं तिरियं।
मायादोसेण य भवसएसु डभिज्जदे बहुसो।।(1380)

माया से नीच गोत्र नामक कर्म का बन्ध होता है, जिससे दूसरे जन्म में नीच कुल में जन्म होता है। तथा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और तिर्यञ्चगति नाम कर्म का बन्ध होता है। अथवा माया से स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यञ्चपना प्राप्त होता है। माया से उत्पन्न हुए दोष से सैकड़ों जन्मों में बहुत बार ठगाया जाता है अर्थात् किसी को एक बार ठगने से बार-बार ठगा जाता है।

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति।।(1381)

जहाँ मायाचार है वहाँ क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं। क्रोध मान और लोभ से उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारी में होते हैं।

सस्सो भरघगामस्स सत्तसंवच्छराणि णिस्सेसो।

दड्ढो डंभणदोसेण कुंभकारेण रुट्ठेण।। (1382)

मायाचार के दोष से रुष्ट हुए कुम्भकार ने भरत नामक गाँव का धान्य सात वर्ष तक पूर्ण रूप से जलाया था।

लोभ के दोष

लोभेणासाधत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं।

णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि।।(1383)

लोभ से मनुष्य 'यह वस्तु मेरी होगी' इस आशा से ग्रस्त होकर बहुत दोष करता है; बहुत पाप करता है। लोभ से अपने कुटुम्बियों की और अपनी भी चिन्ता नहीं करता। उन्हें भी कष्ट देता है और अपने शरीर को भी कष्ट देता है।

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्चं।

लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स।।(1384)

वस्तु के सारवान् या असार होने से कर्मबन्ध में कोई विशेषता नहीं होती। जिससे किसी द्रव्य में उत्पन्न हुआ ममत्व भाव कर्मबंध में निमित्त होता है क्योंकि वह ममत्व भाव आत्मा के अशुभ परिणाम में निमित्त होता है, ऐसा मानकर आचार्य कहते हैं- तृण से भी हुआ लोभ पाप को उत्पन्न करता है तब सारवान् वस्तु में हुए लोभ का तो कहना ही क्या है?

जो लोभ कषाय से रहित है उसके शरीर पर मुकुट आदि परिग्रह होने पर भी पाप नहीं होता। अर्थात् सारवान् द्रव्य का सम्बन्ध भी लोभ के अभाव में बन्ध का कारण नहीं है।

साकेदपुरे सीमंधरस्स पुत्तो मियद्धओ नाम।

भद्दयमहिसनिमित्तं जुवराय्या केवली जादो।। (1385)

साकेत नगरी में सीमन्धर का पुत्र मृगध्वज नामक था। वह भद्रक नामक भैंसे के निमित्त से केवली हुआ।

तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स।

संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिद्दो वि णिव्वाणं।।(1386)

जो लोभ से ग्रस्त हैं उसके चित्त को तीनों लोक प्राप्त करके भी सन्तोष नहीं होता है और जो शरीर की स्थिति में कारण किसी भी वस्तु को पाकर सन्तुष्ट रहता है, जिस वस्तु में ममत्वभाव नहीं है वह दरिद्र होते हुए भी सुख प्राप्त करता है। अतः चित्त की शान्ति सन्तोष के अधीन है, द्रव्य के अधीन नहीं है। महान् द्रव्य होते हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके हृदय में महान् दुःख रहता है।

सव्वे वि गंथदोसा लोभकसायस्स हुंति णादव्वा।
लोभेण चेव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि।।(1387)

पूर्व में परिग्रह के जो दोष कहे हैं वे सब दोष लोभकषायवाले के अथवा लोभ नामक कषाय के जानना। लोभ से ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन करता है। अतः समस्त पाप क्रियाओं का प्रथम कारण लोभ है।

रामस्स जामदग्गिस्स वच्छं घित्तूण कत्तविरिओ वि।
णिधणं पत्तो सकुलो ससाहणो लोभदोसेण।। (1388)

जमदग्नि के पुत्र परशुराम की गायों को ग्रहण कर लेने के कारण राजा कार्तवीर्य लोभ दोष से समस्त परिवार और सेना के साथ मृत्यु को प्राप्त हुआ। परशुराम ने सबको मार डाला।

ण हि तं कुणिज्ज सत्तू अग्गी बग्घो व कण्हसप्पो वा।
जं कुणइ महादोसं णिव्वुदिविग्घं कसायरिवू।।(1389)

शत्रु, आग, व्याघ्र और कृष्ण सर्प भी वह हानि नहीं करता जो हानि कषाय-रूपी शत्रु करता है। वह कषायरूप शत्रु मोक्ष में बाधारूप महादोष का कारण है।

इंदियकसायदुट्ठं तस्सा पाडेंति दोसविसमेसु।
दुःखावहेसु पुरिसे पसढिलणिव्वेदखलिया हु।। (1390)

इन्द्रिय कषायरूपी घोड़े दुर्दमनीय हैं इनको वश में करना बहुत कठिन है। वैराग्य रूपी लगाम से ही ये वश में होते हैं। किन्तु उस लगाम के ढीले होने पर वे पुरुष को दुःखदायी पापरूपी विषम स्थानों में गिरा देते हैं।

इंदियकसायदुट्ठं तस्सा णिव्वेदखणिलिदा संता।
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति।। (1391)

किन्तु इन्द्रिय कषायरूपी दुर्दमनीय घोड़े जब वैराग्य रूपी लगाम से नियमित होते हैं और ध्यानरूपी कोड़े से भयभीत रहते हैं तो विषम पापस्थान में नहीं गिराते।

इंदियकसायपण्णगट्ठा बहुवेदणुद्दिदा पुरिसा।
पब्भट्ठझाणसुक्खा संजमजीयं पविजहंति।। (1392)

इन्द्रिय और कषायरूपी सर्पों से डसे हुए मनुष्य बहुत कष्ट पीड़ित होकर, उत्तम ध्यानरूपी सुख से भ्रष्ट हो, संयमरूपी जीवन को त्याग देते हैं।

ज्झाणगदेहिं इंदियकसायभुजगा विरागमंतेहिं।
णियमिज्जंता संजमजीयं साहुस्स ण हरंति।। (1393)

किन्तु इन्द्रिय और कषायरूपी सर्प सम्यग्ध्यानरूपी सिद्ध औषधि और वैराग्यरूपी मंत्रों से वश में होने पर साधु के संयमरूपी जीवन को नहीं हरते।

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तइधारा।
मणधणुमुक्का इंदियकंडा विंधेति पुरिसमयं।। (1394)

इन्द्रियाँ बाण के समान पुरुषरूपी हिरन को बींधती है। बाण में पुंख होते हैं। भोगे हुए भोगों का स्मरण इनका पुंख है। भोगों की चिन्ता इनका वेग है। रति इनकी धारा-गति है जो विषयरूपी विष से लिप्त है। ये इन्द्रियरूप बाण मनरूपी धनुष द्वारा छोड़े जाते हैं।

धिदिखेडएहिं इंदियकंडे ज्झाणवरसत्तिसंजुत्ता।
वारंति समणजोहा सुणाणदिट्ठीहिं दठ्ठूण।। (1395)

आगे कहते हैं कि पुरुष रूप मृगों का घात करने में तत्पर उन बाणों को संयमीजन ही निवारण करते हैं-

ध्यानरूपी श्रेष्ठ शक्ति से युक्त श्रमण योद्धा सम्यग्ज्ञानरूप दृष्टि से देखकर धैर्यरूप फलक के द्वारा इन्द्रियरूप बाणों का वारण करते हैं।

गंथाडवीचरंतं कसायविसकंटया पमायमुहा।
विद्धंति विसयतिक्खा अधिदिदढोवाणहं पुरिसं।। (1396)

परिग्रहरूपी घोर वन में कषायरूपी विषैले काँटे फैले हैं। प्रमाद उनका मुख है और विषयों की चाह से वे तीक्ष्ण हैं। धैर्यरूपी दृढ़ जूते को धारण किये बिना जो उस

वन में विचरण करता है, उसे वे काँटे बींध देते हैं। आगे कहते हैं इस प्रकार के धैर्यरूपी जूता धारण करने वाले संयमीका वे कषायरूप विषैले काँटे कुछ भी नहीं करते-

आइद्वधिदिदढोवाणहस्स उवाओगदिट्ठिजुत्तस्स।

ण करंति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो।। (1397)

जिस मुनि ने धैर्यरूपी दृढ़ जूता धारण किया है और जो सम्यग्ज्ञानोपयोग दृष्टि से सम्पन्न है उसको वे कषायरूपी विषैले काँटे कुछ भी दुःख नहीं देते।

उड्डहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा।

गंथफललोलहिदया णासंति हु संजारामं।।(1398)

ये कषायरूपी बन्दर असंयत हैं, अतिचपल हैं, पापी हैं, इनका हृदय परिग्रहरूपी फल में आसक्त है। इनका यदि निग्रह नहीं किया तो ये संयमरूपी उद्यान का विनाश कर देते हैं।

णिच्चं पि अमज्झत्थे तिकालदोसाणुसरणपरिहत्थे।

संजमरज्जूहिं जदी बंधंति कसायमक्कडए।।(1399)

ये कषायरूपी बन्दर, निरन्तर चपल हैं, त्रिकालवर्ती दोषों का अनुसरण करने में चतुर हैं। इन्हें संयमी संयमरूपी रस्सी से बाँधता है।

धिदिवम्मिएहिं उवसमसरेहिं साधूहिं णाणसत्थेहिं।

इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्तेहिं जेदुं जे।।(1400)

सन्तोषरूपी कवच, उपशमरूपी बाण और ज्ञानरूपी शस्त्रों से सहित साधुओं के द्वारा वे इन्द्रिय और कषायरूप शत्रु जीते जा सकते हैं।

इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहिं वज्झंति।।

ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह संकलाबद्धा।।(1401)

इन्द्रिय और कषायरूपी चोर शुभध्यानरूप भावों की साँकल से बाँधे जाते हैं। बाँधे जाने पर वे साँकल से बँधे चोरों की तरह विकार नहीं करते।

इंदियकसायवग्घा संजमणरघादणे अदिपसत्ता।

वेरग्गलोहदढपंजरेहिं सक्का हु णियमेदुं।।(1402)

इन्द्रिय और कषायरूपी व्याघ्र संयमरूपी मनुष्य को खाने के बड़े प्रेमी होते हैं। इन्हें वैराग्यरूपी लोह के दृढ़ पींजरे में रोका जा सकता है।

इंदियकसायहत्थी वयवारिम हीणिदा उवायेण।

विणयवरत्ताबद्धा सक्का अवसा वसे कादुं।।(1403)

इन्द्रिय कषारूपी हाथी यद्यपि स्वच्छन्द है तथापि व्रतरूपी बाड़े में ले जाकर विनयरूपी रस्सी से उपायपूर्वक बाँधे जाने पर वश में लाये जा सकते हैं।

इंदियकसायहत्थी वोलेदुं सीलफलियमिच्छंता।

धीरेहिं रुंभिदव्वा धीदिजमलारुप्पहारेहिं।।(1404)

इन्द्रिय और कषायरूपी हाथी शीलरूप अर्गला को लांघना पसन्द करते हैं। अतः धीर पुरुषों को उनके दोनों कानों के पास धैर्यरूपी प्रहार करके रोकना चाहिए।

इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज।

णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं।।(1405)

इन्द्रिय और कषायरूप हाथी जब दुःशील रूपीवन में प्रवेश करना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी अंकुश से वश में करना शक्य हैं।

जदि विसयगंधहत्थी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता।

विणा णज्झाणजोहस्स वसे णाणंकुसेण विणा।।(1406)

यदि रागद्वेषरूपी मद से मस्त विषयरूपी गन्धहस्ती ज्ञानाकुंश के विना विज्ञान ध्यानरूपी योधा के वश में नहीं रहता और परिग्रहरूपी वन में प्रवेश करता है।

विसयवणरमणलोला बाला इंदियकसायहत्थी ते।

पसमे रामेदव्वा तो ते दोसं ण काहिंति।।(1407)

जो इन्द्रिय और कषाय रूप बालहस्ती विषय रूपी वन में क्रीड़ा करने के प्रेमी होते हैं उन्हें प्रशम रूपी वन में अर्थात् आत्मा और शरीर के भेदज्ञान के प्रकट हुए स्वाभाविक वैराग्य में रमण कराना चाहिए तब वे दोष नहीं करेंगे।

अनन्त कार्य-कारण की शृंखला

द्वारिका दहन घटणा एक : कार्यकारण सम्बन्ध अनन्त

(सम्पूर्ण अन्तरंग-बहिरंग कारणों के सम्यक् समन्वय से व समस्त विरोधी कारणों के अभाव से विश्व के समस्त कार्य सम्पादन होते)

(चालः कहाँ गए चक्री...)

कार्यकारण निमित्त उपादान से होते हर कार्य।

द्रव्यक्षेत्र काल भवभाव से, होते विश्व के सभी कार्य।।
काल स्वभाव नियति पूर्णकृत (कर्म) पुरुषार्थ योग से होते कार्य।
पृथक्-पृथक् से न होते, पञ्च समन्वय से होते कार्य।। (1)
समस्त उपादान व (सर्व) निमित्त के समन्वय होना अनिवार्य।
इस के साथ ही विरोध कारणों का अभाव होना अनिवार्य।।
संसार से ले मोक्ष हेतु उक्त सभी नियम अनिवार्य,
आस्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष हेतु भी (सभी नियम) अनिवार्य।। (2)
पाप-पुण्य व सुख-दुःख, जन्म-मरण, हानि-लाभ।
रागद्वेष-कामक्रोध मद मत्सर ईर्ष्या तृष्णा घृणा मोह।।
वैर-विरोध से आक्रमण युद्ध हत्या बलात्कार सब पाप काम,
दयादान सेवा परोपकार सहयोग व इन से विपरीत भाव काम।। (3)
जीव पुद्गल धर्माधर्माकाश काल में भी जो होते शुद्धाशुद्ध कार्य।
उसके लिए भी चाहिए यथायोग्य कारण जो अनेक आयाम युक्त।।
वस्तु स्वरूप अनेकान्तमय जिस बिन कुछ होना न संभव।
उसके कथन स्याद्वाद जो होता सप्त भंग समन्वित।। (4)
सप्तभंग भी होते अनन्त, कारण अनन्तगुण-पर्याय।
इसके पूर्ण ज्ञाता होते सर्वज्ञ, गणधर न जानते सभी गुण-पर्याय।।
अतः गणधर पूछते साठ हजार प्रश्न उत्तर देते केवली सर्वज्ञ।
अभी तक विज्ञान न जाने छियानवे (96) प्रतिशत भौतिक तत्त्व।। (5)
अतएव आज्ञा सम्यक्त्व प्रथम गुण, जिससे ज्ञान चारित्र सम्यक्।
तीनों के समन्वय मोक्षमार्ग जिससे प्राप्त होते अनन्त ज्ञान सुख।।
तीन ज्ञान क्षायिक सम्यक्त्व युक्त तीर्थंकर भी न जानते सम्पूर्ण सत्य।
दीक्षा अनन्तर चार ज्ञान व चौसठ ऋद्धिधारी होकर भी न जानते सम्पूर्ण सत्य।। (6)
इसलिए तो छद्मस्थ तीर्थंकर भी न करते उपदेश किन्तु रहते मौन।
अनन्त ज्ञान प्राप्ति अनन्तर करते सर्वांग से दिव्य उपदेश।।
इसे समझने हेतु द्वारिका दहन का उदाहरण उल्लेखनीय।
नेमिनाथ ने केवलज्ञान द्वारा जानकर कहा द्वारिका जलेगी द्वादशवें वर्ष।। (7)

इसके लिए निमित्त बनेंगे द्वीपायनमुनि व मद्यपान भी बाह्य निमित्त।
इसे जानकर द्वीपायन दूर चले गये मद्य को फेंका गया जंगल मध्य।।
तथापि उक्त कार्यकारण सम्बन्ध से यादव कुमार पीकर उस मद्य को।
तपस्यारत द्वीपायन को कष्ट दिये जिससे द्वीपायन हुए क्रुद्ध।। (8)
इसके कारण द्वारका जली अनेक जले मनुष्य से तिर्यंच तक।
अनेक भव्य ज्ञानवैराग्य युक्त होकर बने साधु-साध्वी गये स्वर्ग मोक्ष।
कुछ मरकर नरक गये कुछ गये स्वर्ग से ले मोक्ष तक।
स्वस्व योग्य भाग्य पुरुषार्थ से पाये नरक-स्वर्ग व मोक्ष।। (9)
स्वयं ही स्वयं के कर्त्ता-भोक्ता विधाता निमित्त उपादान युक्त।
सम्पूर्ण रहस्यों को पूर्ण जानने हेतु सर्वज्ञ बनना 'कनक' का लक्ष्य।।
विषय वस्तु का संक्षेप वर्णन कर कार्यकारण का वर्णन किया विशेष।
कथानक का सम्पूर्ण वर्णन हरिवंश पुराण से निम्न में किया उद्धृत।। (10)

ग.पु.कॉ. 23/8/2020 पूर्वाह्न-9.55

सुलेख-खुशी जैन

अनेकान्त की समन्वय दृष्टि

समन्वयात्मक अनेकान्त की दृष्टि से विचार करने पर शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिक नव के अन्तर्गत सांख्य एवं योग दर्शन के सिद्धान्त गर्भित है। शुद्ध संग्रहनय का विषय अद्वैत के सिद्धांत है। वैशेषिक एवं नैयायिक दर्शन के विषय असद्भूत व सद्भूत व्यवहार नय के अन्तर्गत है। ऋजुसूत्र नय का विषय बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त है। बौद्ध दर्शन में प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण विध्वंस हो जाता है; ये ही सिद्धान्त ऋजुसूत्र नय कहता है कि प्रत्येक द्रव्य की पूर्ण पर्याय प्रतिक्षण नष्ट होती है। निश्चयनय से द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा कोई भी द्रव्य नष्ट नहीं होता है इसी अपेक्षा सांख्य सिद्धान्त का कूटस्थ नित्य-कहना सत्य सिद्ध होता है। दृश्यमान समस्त भौतिक वस्तुएँ, पंचेन्द्रियों की भोगोपभोग की सामग्रियाँ तथा शरीर भी जड़मय है। इस अपेक्षा भौतिकवादी चार्वाक मत सत्य सिद्ध होता है। स्व आत्मा को छोड़कर अखिल जड़ चेतनात्मक विश्व पर है इसलिए ''ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या'' कहने वाले अद्वैत वैदान्तिक दर्शन का सिद्धान्त सत्य है। स्वचतुष्टय

को छोड़कर सम्पूर्ण परद्रव्य के चतुष्टय स्वयं के नहीं होने के कारण शून्य स्वरूप है अथवा द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्म शुद्धात्मा से भिन्न होने के कारण कर्म की अपेक्षा आत्मा और आत्मा की अपेक्षा कर्म शून्य स्वरूप है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व जड़ पुद्गल से निर्मित होने के कारण भौतिकवादियों का सिद्धान्त इस अपेक्षा से सत्य है। इसी प्रकार अनेकान्त दर्शन विश्व के सम्पूर्ण दर्शनों को किसी न किसी अपेक्षा से स्वीकार करता है। द्विसंधान महाकाव्य में कहा भी है-

न हि जैनानां क्वाचिन्कदाचित्कथञ्चित् कुतश्चित् कस्मिंश्चिद् वस्तुनि परीक्षकत्वा भावद्विचारमन्तेरण पक्षपातोऽमि।

अनेकान्त दर्शन को मानने वाले जैनियों को किसी भी वस्तु में किसी भी स्थान में, किसी भी कारण से, परीक्षा तथा विचार बिना रंचमात्र भी पक्षपात नहीं होता है।

आग्रही बत निनषिति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्ति निविष्ठा।

पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र मतिरस्ति निवेशम्।। (षड्दर्शन समुच्चय)

जो हठग्राही होते हैं, वह अपनी विचारधारा के अनुसार युक्ति को तोड़ मोड़कर उसकी ओर ले जाता है। परन्तु निष्पक्षपाती परीक्षा प्रधानी सत्यग्राही युक्ति की ओर अपनी मति ले जाता है।

अभी तक यत्किंचित् सापेक्ष दृष्टि का कथन हुआ। अभी कार्य की उत्पत्ति के लिए कितने कारणों की आवश्यकता है उसका कथन आचार्यश्री सिद्धसेन दिवाकर निम्न प्रकार वर्णन करते हैं-

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगतां।

मिच्छन्ता ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं।। (53)

(1) काल, (2) स्वभाव, (3) नियति, (4) पूर्वकृत (कर्म, दैव), (5) पुरुषार्थ को पृथक-पृथक् कार्य की उत्पत्ति में कारण मानना असम्यक् है। कार्य की उत्पत्ति में सापेक्ष रूप से समवाय से पाँचों ही कारणों को मानना सम्यक् है। इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करने के लिये निम्न उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ-

माली बाग में नारियल का बीज बोता है। योग्य पानी और खाद देता है। सुरक्षा के लिये बाड़ बनाता है तथा औषधि का भी उपचार करता है। कुछ महीनों (5-6

महीने) के बाद बीज से अंकुर होता है। कुछ वर्षों के बाद (5-6 वर्षों) नारियल का फल भी आने लगता है।

क्या नारियल के बीजों को बोते ही अंकुर होकर, फल आने लगता है? कदापि नहीं। जब तक योग्य काल नहीं होगा, तब तक अंकुर होना सम्भव नहीं है। अतएव अंकुर तथा फल आने योग्य कार्य के लिए ''काल'' रूपी कारण की नितान्त आवश्यकता है। इसी प्रकार विश्व के सम्पूर्ण शुद्ध, अशुद्ध, क्षुद्र, महत् आदि कार्यों के लिए भी काल रूपी कारण की नितान्त आवश्यकता है। इसी अपेक्षा से जो कालवादी कहते हैं कि काल ही सबका नाश करता है, काल ही सोते हुए प्राणी को जगाता है, काल ही जन्म-जरा-कर्त्ता है यह सत्य है।

नारियल के बीज से नारियल का ही अंकुर होता है तथा नारियल का ही फल आता है, परन्तु नारियल के बीज से आम का पेड़ उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि नारियल के बीज से नारियल का ही अंकुर एवम् नारियल के पेड़ से नारियल आना उसका स्वभाव है। इसी प्रकार अग्नि का स्वभाव उष्ण, जीव का स्वभाव चैतन्य, अजीव का स्वभाव अचेतन है। इसी कारण स्वभाव का कोई भी कभी भी किसी भी शक्ति का प्रयोग करके परिवर्तन नहीं कर सकता। इस अपेक्षा से स्वभाववादी जो कहते हैं कांटे की तीक्ष्णता, पक्षियों में जो विभिन्नता हैं-वह स्वभाव से है, कहना सत्य है।

नारियल के बीज को सीधा उल्टा कैसे भी रोपण करने पर अंकुर नियम से भूमि के ऊपर ही आयेगा तथा जड़ नियम से भूमि के भीतर ही जायेगी। नियति (नियम) से नारियल के फूल से ही नारियल का फल आयेगा। नारियल के फल के अन्दर में ही पानी रहेगा तथा नरेठी (कड़ा भाग) के ऊपर नहीं रहेगा।

इसी प्रकार सूर्य नियति से पूर्व में सुबह उदय होकर शाम को पश्चिम में अस्त होता है। कभी भी सूर्य मध्याह्न में दक्षिण में उदय होकर अर्धरात्रि को उत्तर दिग् में अस्त नहीं होगा।

भुज्यमान आयु कर्म नियम से पूर्ण रूप से नष्ट होने पर मरण होगा, उसके पहले कभी भी मरण नहीं हो सकता है इसी अपेक्षा नियतिवादी जो कहते हैं कि जो जिस समय, जिससे, जैसे, जिसको नियम से होता है वह उस समय, उससे, वैसे, उसको ही होता है कहना सत्य है।

माली जितने नारियल के बीज बोता है, सभी अंकुरित हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। कुछ अंकुरित होने के बाद सूख जाते हैं तथा कुछ पेड़ों के फल आते भी हैं तथा कुछ में नहीं। कभी अधिक फल आते हैं तथा कभी कम फल आते हैं। कभी फल सड़-गल भी जाते हैं। समीप के बगीचे में अधिक फल आते हैं तथा उस ही बगीचे में अच्छे फल नहीं आते ऐसा क्यों? इसका कारण उस बगीचे के मालिक का पूर्वकृत पुण्य एवं पाप का फल हैं। (इसी प्रकार संसारी जीवों को जो अवांछित सुख-दुःख मिलते हैं वे सर्व पूर्वापार्जित पुण्य पाप के फल है।) इसी प्रकार संसारी जीवों को जो अवांछित सुख-दुःख मिलते हैं वे सर्व पूर्वोपार्जित पुण्य पाप के फल हैं। इस अपेक्षा से जो दैववादी मानते हैं कि प्रत्येककार्य दैव या पूर्वकृत कर्म से होता है सत्य है।

यदि माली योग्य रीति से नारियल के बीज को रोपण नहीं करेगा, योग्य जल, खाद आदि नहीं देगा तथा विभिन्न प्रकार से सुरक्षा नहीं करेगा, तब भी बीज से अंकुर, अंकुर से पेड़ तथा पेड़ से फल नहीं आयेगा। यदि नारियल के बीज को निर्वात स्थान में रखकर योग्य जल, वायु, प्रकाश से वञ्चित रखा जायेगा, तो क्या बीज में अंकुर, अंकुर से वृक्ष, वृक्ष से फल उत्पन्न हो सकता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार सामने रखी हुई भोजन की थाली से जब तक पुरुषार्थ करके भोजन को उठाकर मुख में डालकर नहीं खाते हैं तब तक क्या पेट भर जायेगा? कभी नहीं भरेगा। इसी प्रकार चलना, उठना, बैठना, व्यापार करना, कृषि, वाणिज्य, शिल्प कार्य करना, सब पुरुषार्थ से होता है। दैव (पूर्वकृत पुण्य-पाप) का निर्माण भी पुरुषार्थ से ही होता है।

प्रत्येक कार्य सम्पादन करने के लिये पुरुषार्थ का योगदान अनिवार्य है। विश्व का सर्वश्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ कार्य मोक्ष के लिये तो पुरुषार्थ का योगदान सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि रत्नत्रय रूपी पुरुषार्थ के बिना मोक्ष रूपी कार्य का सम्पादन करना दुरुह नहीं, असम्भव है।

इसी प्रकार काल आदि सम्पादन के लिए कारण होते हुए भी पूर्ण कारण नहीं है, परन्तु आंशिक कारण है। इसे आंशिक कारण मानना सत्य होते हुए भी आंशिक कारण को ही पूर्ण कारण मान लेना असत्य है। यथा कार्य सम्पादन के लिए काल का योगदान होते हुए भी केवल काल स्वतंत्र रूप से स्वभाव, नियति, पूर्वकृत, पुरुषार्थ

बिना सहायता से कार्य नहीं कर सकता है। इसलिए स्वतंत्र रूप से काल कार्य सम्पादन के लिए अकिंचित्कर है। अन्य एक दृष्टिकोण से काल एक बाह्य निमित्त कारण है। केवल एक बाह्य निमित्त कारण अन्य सहकारी कारण तथा उपादान कारण के बिना कैसे कार्य सम्पादन कर सकता है। क्योंकि कार्य सम्पादन के लिए योग्य अन्तरंग एवं बाह्य निमित्त कारण की आवश्यकता होती है। एक भी कारण के अभाव से कार्य सम्पादन नहीं होता है। यह अखण्डित सिद्धान्त है। इसी प्रकार स्वभाव, नियति, पूर्वकृत, पुरुषार्थ के लिये जान लेना चाहिए।

यदि काल ही सम्पूर्ण कार्यों को करता है तब एक ही समय में विश्व के सम्पूर्ण कार्य हो जाने चाहिये। द्वितीयादि समय के लिए कोई भी कार्य अवशेष नहीं रहना चाहिये। क्योंकि एक ही काल संपूर्ण कार्यों को करने के लिए समर्थ कारण होने पर अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखता है और समर्थ कारण होने पर कार्य में देरी नहीं होती है। परंतु आगम, अनुमान, प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध होता है कि विश्व के सम्पूर्ण कार्य एक समय में निरवशेष नहीं होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि काल ही संपूर्ण कार्यों के लिये एक मात्र अद्वितीय जनक नहीं है।

स्वभाव भी कार्य सम्पादन के लिये एक कारण होने के कारण कारणांश है परन्तु पूर्ण कारण नहीं है। आंशिक कारण मानना सत्य होते हुए पूर्ण कारण मानना असत्य है। सुवर्ण पाषाण में स्वभावतः सुवर्ण होते हुए भी जब तक उस पाषाण को अग्नि आदि के माध्यम से तपाकर, गलाकर, ताडन, घर्षण आदि के माध्यम से शुद्ध नहीं किया जाता है तब तक स्वभाव का व्यक्तिकरण नहीं होता है। भव्य जीव में सिद्ध होने का स्वभाव होने पर भी जब तक योग्य काललब्धि, व्यवहार निश्चय रत्नत्रय आदि का योगदान नहीं होता है तब तक सिद्ध स्वभाव का व्यक्तिकरण नहीं होता है। कांटा में तीक्ष्ण तथा अग्नि में उष्णता, नीम में कडुवापन, जीव में जो भेद-प्रभेद पाया जाता है वह भी निष्कारण स्वभाव नहीं है। उसका कारण पूर्वापार्जित कर्म ही है। इसीलिए केवल स्वभाव को ही सर्वेसर्वा माना जाये तो वह असत्य की कोटि में आ जाता है।

जो जिस समय, जिससे, जैसे, जिसको नियम से होता है वह उस समय उससे, वैसे, उसको ही होता है ऐसा मानना सापेक्ष दृष्टि से कथञ्चित् सत्य होते हुए

भी निरपेक्ष दृष्टि से मानना मिथ्या है क्योंकि संसारी जीवों को जो सुख-दुःख, जन्म-मरण, लाभ-अलाभ को प्राप्त होता है उसमें भी पूर्वकृत पुण्य-पाप तथा काल आदि का योगदान रहता है। परंतु नियतिवाद निरपेक्ष नियति को स्वीकार करना है। सूत्रकृताङ्ग सूत्र में नियतिवाद का इस प्रकार कथन पाया जाता है।

आधायं पुण एगिसिं उववन्ना पुछो जिया।
वेदयंवि सुहं दुक्खं अदुवा लुघंति ठाणओ।। (1)

पुनः किन्ही मतवादियों का कहना है कि (संसार में) सभी जीव पृथक्-पृथक् हैं, यही युक्ति से सिद्ध होता है तथा वे (जीव पृथक्-पृथक् ही) सुख-दुःख भोगते हैं अथवा अपने स्थान से अन्यत्र जाते हैं-अर्थात् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते हैं।

न तं सयकंडं दुक्खं कओ अन्नकड च णं।
सुहं वा जइ वा दुक्खं सेहिय वा असेहिया।। (2)
न समं कडं ण अन्नेहिं वेदयन्ति पुठो जिया।
संगतियं तं तहा तेसिं इहमें गोसि माहियं।। (3)

वह दुःख (जब) स्वयं द्वारा किया हुआ नहीं है, तो दूसरे का किया हुआ भी कैसे हो सकता है? वह सुख या दुःख चाहे सिद्धि से उत्पन्न किया हुआ हो अथवा सिद्धि के अभाव से उत्पन्न हुआ हो जिसे जीव पृथक्-पृथक् तो भोगते हैं, वह न तो स्वयं का किया हुआ है, और न दूसरे के द्वारा किया हुआ है उनका वह (सुख या दुःख) सांगतिक=नियतिकृत है ऐसा इन दार्शनिक जगत् में किन्ही (नियतिवादियों) का कथन है।

इस नियतिवाद का कथन बौद्ध ग्रंथ सुत्तपिटक में भी निम्न प्रकार पाया जाता है। अयकार अफरंकारं अधिच्च समुप्पन्न सुख दुक्खं अन्ता च लोकं च। इदममेव सच्चं मोद्य मञ्जंति।

प्राणियों के द्वारा भोगा जाने वाला सुख-दुःख न तो स्व-कृत है, न परकृत है, वह एकान्त नियतिकृत ही है, तब उनका यह ऐकान्तिक कथन मिथ्या हो जाता है।

''मक्खलि गोसाली एतदवोच-नत्थि महाराज, हेत नत्थि पच्चयो सन्तानं सङ्किलेसाय। अहेतु अपच्चया सत्ता सङ्कि लिस्संति। नत्थि हेतु, नत्थि पच्चयो सन्तानं विसुद्धिया। अहेतु अपच्चया सत्ता विसुज्झति नत्थि अत्तकारे, नत्थि

परकारे, नत्थि पुरिसकारे, नत्थि बलं, नत्थि वीरयं नत्थि पुरिसथामो, नत्थि पुरिस-परक्कमी। सव्वे सत्ता, सव्वे पाणा, सव्वे भूता, सव्वेजीवा अवसा अवला, अविरिया नियतिसंगति भाव परिणता, छस्सेवामि जातीसु सुख-दुक्खं परि संवेदेन्ति।.... यानि वाले च पण्डिते च सान्धावित्वा संसरित्वा दुक्खस्संतं। तत्थनत्थि इमिवाहं सीलेन व वतेन वा तपेन वा ब्रह्मचरियेन वा अपरिपक्कं वा कम्मं परिपाचेस्यामि, परिपक्कं वा कम्मं फुस्फुस्स व्यन्ति करिस्रूसामिति। हेवं नत्थि दोणमिते सुख दुक्खे परियन्त कते संसारे, नत्थि हायनवड्ढने नत्थि उक्कं सावकंसे। सेय्यथापिसाम सुत्तगुलेक्खिते निब्बेय मामेव पलेति एवमेव वाले च पण्डिते च संधावित्वा संसरित्वा दुक्खस्सतं करिस्संसीति।।'' सुत्त पिटके दीघनिकाये (पाली भाग 1)

बौद्ध ग्रन्थ दीर्घनिका के सामज्जफल सुत्त में अजीवक मत-प्रवर्तक मक्खलि गोशाल के नियतिवाद का उल्लेख इस प्रकार है...सत्वों के क्लेश (दुःख) का हेतु प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और अप्रत्यय के ही सत्व (प्राणी) क्लेश पाते हैं। बिना हेतु और प्रत्यय के सत्व शुद्ध होते हैं। न वे स्वयं कुछ कर सकते हैं, न पराये कुछ कर सकते हैं (कोई) पुरुषार्थ (पुरुषकार) नहीं है, बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का साहस नहीं है, और न पुरुष का कोई पराक्रम है। समस्त सत्व, समस्त प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अवश (लाचार) है, निर्बल है, निर्वीर्य है, नियति के संयोग के छह जातियों में (उत्पन्न होकर) सुख दुःख भोगते हैं।....जिन्हें मूर्ख और पंडित जानकर और अनुगमन कर दुःखों का अंत कर सकते हैं। वहाँ यह नहीं है कि शील व्रत, तप या ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को कर लूँगा, परिपक्व कर्म को भोगकर अन्त करूँगा। सुख और दुःख को द्रोण (माप) से नपे तुले (नियत) हैं। संसार में न्यूनाधिक या उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं है। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़कर दुःखों का अंतः करेंगे।

नियतिवाद संपूर्ण सत्य नहीं है। इसका वर्णन गोम्मट्टसार, धवला, सूत्रकृतांग आदि में पाया जाता है-सूत्रकृतांग में नियतिवाद असम्यक् है, वर्णन करते हुये निम्न प्रकार कहा है-

एवमेताइं जंपंता बाला पंडिय माणिणो।

णिययाऽणिययं संतं अजाणंता अबुद्धिया।।

इस (पूर्वोक्त) प्रकार से इन (नियतिवाद की) बातों को कहने वाले (नियतिवादी) स्वयं अज्ञानी (वस्तुत्व से अनभिज्ञ) होते हुये भी अपने आपको पण्डित मानते हैं, (क्योंकि सुख-दुःख आदि) नियति (नियतिकृत) दोनों ही प्रकार के होते हैं, परन्तु बुद्धिहीन (नियतिवादी) इसे नहीं जानते।

एवमेगे उपाउत्था ते भुज्जो विषगब्भिया।

एवं इवट्ठिता संता ण ते दुक्खविमोक्खया।।

इस प्रकार कई (नियतिवाद से ही) पास में रहने वाले (पार्श्वस्थ) अथवा कर्मपाश (कर्म-बन्धन) में जकड़े हुये (पार्शस्थ) कहते हैं, वे बार-बार नियति को ही (सुख-दुःखादि का) कर्त्ता कहने की धृष्टता करते हैं। इस प्रकार (अपने सिद्धान्तानुसार परलौकिक क्रिया में) उपस्थित होने पर भी वे (स्वयं को) दुःख से मुक्त नहीं कर सकते।

यदि नियति से ही सम्पूर्ण कार्य होता है तब पूर्वकृत पाप-पुण्य निष्फल हो जायेंगे क्योंकि नियति निरपेक्ष होकर सम्पूर्ण कार्य के लिये समर्थ होता है, यह नियतिवादी मानते हैं। इतना ही नहीं, यदि नियति से ही सम्पूर्ण कार्य होता है तो धनोपार्जन के लिय कृषि, व्यापार, वाणिज्य करना, पुत्रोत्पत्ति के लिये विवाह करना, अनाज उत्पादन के लिये कृषि करना, विद्याध्ययन के लिये विद्यालय जाना एवं पुस्तक पढ़ना, देश की सुरक्षा के लिये विरोधी शत्रुओं का विरोध करना, मोक्ष प्राप्ति के लिये शिक्षा, दीक्षा, तपश्चरण, रत्नत्रय की साधना करना व्यर्थ हो जायेगी। परन्तु स्वयं नियतिवादी भी नियति का आश्रय लेकर पुरुषार्थहीन होकर भोजन के लिए चुप नहीं बैठते हैं। इसी प्रकार क्या जब चोर नियतिवादी के घर पर चोरी करता है, दुराचारी व्यक्ति अपनी मा बहन पर दुराचार करता है, तो वह नियतिवादी नियति का आश्रय लेकर चुप बैठता है? कदापि नहीं। वहाँ पर यथायोग्य, यथाशक्ति उन परिस्थितियों का सामना करता है। इससे सिद्ध होता है कि केवल नियति ही सम्पूर्ण कार्यों के लिये एकमेक अद्वितीय कारण नहीं है।

संसारी जीवों को जो सुख-दुःखादि अनुभव करना पड़ता है, उसमें पूर्वकृत का योगदान होते हुये भी केवल पूर्वकृत से ही सम्पूर्ण कार्य सम्पादन नहीं होता है, पूर्वकृत कार्य के लिये आंशिक कारण मानना सत्य होते हुये भी पूर्ण सत्य मानना, असत्य है। यदि पूर्वकृत से ही कार्य माना जाये तब मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि मोक्ष तो कर्मातीत अवस्था है। मोक्ष में किसी प्रकार कर्म की सत्ता नहीं रहती है। एकांत दैववाद सम्यक् नहीं है-बताते हुए समन्तभद्र स्वामी आप्तमीमांसा में निम्न प्रकार वर्णन करते हैं-

दैवादेव अर्थसिद्धिः चेत् (तदा) पौरुषतः देवं कथं (स्यात्)।
देवतः चेत् अनिमोक्षः पौरुष (च) निष्फलं भवेत्।।

दैव भाग्य से ही एकान्ततः कार्य की सिद्धि (सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान, कार्य की सफलता-निष्फलता) अंगीकार की जाये तो प्रश्न उठता है कि भाग्य कैसे बना? क्योंकि-

''स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।''

"Whatever karmas you have performed previously, you experience their consequences whether good or evil."

इस जीव ने पूर्व में जो शुभ या अशुभ पुरुषार्थ किया था, उसके फलस्वरूप वह पुरुषार्थ का परिपाक रूप शुभ-अशुभ रूप भाग्य को उपभोग करता है अर्थात् भूत का पुरुषार्थ वर्तमान का भाग्य और वर्तमान का पुरुषार्थ भविष्यत् के भाग्य के रूप में परिणमन करता है, जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज की तरह जैसा बोयेंगे, वैसा पायेंगे।

As we sow so we reap.

यदि पूर्वकृत से ही सम्पूर्ण कार्य होता है तब जीवनयापन के लिये व्यवसाय कृषिवाणिज्यादि रूप पुरुषार्थ तथा मोक्ष के लिये शिक्षा-दीक्षा तपश्चरणादि पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है। परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध सिद्धांत है कि बिना पुरुषार्थ के उपरोक्त कार्य नहीं होता है अतएव एकांततः कर्म ही प्रत्येक कार्य के लिये पूर्ण जनक नहीं है।

गमनागमन कृषि-वाणिज्य, यहाँ तक कि खाना-पीना भी बिना पुरुषार्थ के नहीं होता है। प्रत्येक कार्य के लिये पुरुषार्थ का सर्वाधिक योगदान रहते हुये भी केवल पुरुषार्थ

से ही सम्पूर्ण कार्य सिद्ध होता है, यह मानना सत्य का विरोध है। बिना पुरुषार्थ से मोक्ष की सिद्धि तक नहीं होती है तो भी क्या अभव्य जीव पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है? नहीं, कदापि नहीं। एकेन्द्रिय से लेकर अंसज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव क्या पुरुषार्थ करके शिक्षा-दीक्षा, विद्या, सम्यक्त्व, संयम, केवलज्ञान, मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं? नहीं कर सकते। स्वर्ग में उत्पन्न क्षायिक सम्यग्दृष्टि बाल ब्रह्मचारी सतत तत्त्व चिन्तवन में रत सर्वार्थसिद्धि का देव क्या तद्भव में पुरुषार्थ करके मोक्ष की उपलब्धि कर सकता हैं? मोक्ष की उपलब्धि तो दूर है, सामान्य पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक भी नहीं बन सकता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि भावी तीर्थङ्कर श्रेणिक महाराज वर्तमान प्रथम नरक में नारकी अवस्था में परस्पर कष्ट दिये बिना शांत भाव से क्या रह सकते है? वे दूसरों को सुख पहुँचाने की भावना करते हुये भी दुःख ही पहुँचाते हैं। संसारी जीव कभी भी दुःखी, रोगी, गरीब होने के लिये पुरुषार्थ एवं भावना किये बिना ही अनेक जीव दुःखी, रोगी, गरीब होते हैं। उपरोक्त विभिन्न आगमोक्त एवं लौकिक उदाहरणों से सिद्ध होता है कि केवल पुरुषार्थ से ही सम्पूर्ण कार्य नहीं होता है।

यदि पुरुषार्थ से ही सम्पूर्ण कार्य होता है तो किसी की भी इच्छा अपूर्ण नहीं रहती। अनेक विद्यार्थी उत्तीर्ण होने की तीव्र इच्छा रखते हुये तथा पुरुषार्थ करते हुये भी अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। व्यापारी लाभ के लिये व्यापार करते हुये भी कभी-कभी उसको अलाभ हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि पुरुषार्थ के साथ-साथ दैवादिक का भी कार्य में योगदान होता है। समन्तभद्रस्वामी दैव एवं पुरुषार्थ का समन्वय करते हुये आप्तमीमांसा में बताते हैं-

अबुद्धि पूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धि पूर्वव्यपेक्षाया मिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्।। (91)

अबुद्धि पूर्वक हुये कार्य की अपेक्षा से इष्ट-अनिष्ट कार्य अपने दैव से हुये हैं ऐसा माना जाता है तथा जो कार्य बुद्धि पूर्वक किये जाते हैं, उस अपेक्षा से इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने पुरुषार्थ से हुये हैं, ऐसा माना जाता है।

''सम्पूर्ण कार्य के लिए बाह्य एवं अंतरंग कारणों की आवश्यकता होती है'' जैसा कि तार्किक शिरोमणि स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभू स्त्रोत में लिखा है-

बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं, कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्ष विधिश्च पुंसां तेनाभिवंद्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्।।

प्रभाचन्दाचार्य की टीका

वाह्येत्यादि। बाह्य च इतरश्चाभ्यन्तरः तौ च तो उपाधं च हेतु उपादान सहकारि कारणे तयोः समग्रता संपूर्णता। इवं प्रतीयमाना क्वः कार्येषु घटादिषु। ते तव मते। कथम् भूता सा? द्रव्यगतः स्वभाव जीवादि पदार्थगतमर्थ क्रिया कारि स्वरूपं जीवादि पदार्थगतमर्थक्रियाकारि स्वरूपं। अन्यथा एतस्मात्तत्समग्रता तत्स्वभावता प्रकाशत् अन्येन स्वभावता प्रकारेण नैव मोक्ष विधिश्च। च शब्दोऽपि शब्दार्थः न केवल घटादि विधानं नैवान्येन प्रकारेण घटाते किंतु मोक्ष विधिरपिपुंसा मुक्त्यार्थिनां। यत एव तेन कारणेन अभिवंधंस्त्वं बुधानां गणधरदेवादीनां विपश्चितां। कथम्भूतः ऋषि परमर्द्धि सम्पन्नः।

बाह्य कारण अर्थात् निमित्त कारण एवं अभ्यन्तर कारण अर्थात् उपादान कारणों की परिपूर्णता से ही कार्य की उत्पत्ति होना, यह द्रव्य का स्व स्वभाव है अर्थात् जीवादिपदार्थगत अर्थक्रियाकारित्व के लिये दोनों कारणों का समन्वय होना अनिवार्य है। जैसे-घट रूप कार्य के लिये योग्य मिट्टी उपादान कारण है एवं कुम्हार, चक्र, पानी, चीवर आदि बाह्य कारण हैं। यदि केवल मिट्टी योग्य है परन्तु बाह्य योग्य कुंभारादि का योगदान नहीं मिलेगा तो घट नहीं बनेगा। बाह्य योग्य कुम्हारादि कारणों के सद्भाव होने पर भी योग्य मिट्टी के अभाव में भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती हैं। यदि इसी प्रकार नहीं मानेंगे तो प्रत्यक्ष आगम में विरोध प्राप्त होगा। बाह्य निमित्त कारण के अभाव से मिट्टी स्वयमेव ही घट बनती है, ऐसा मानने पर समस्त मिट्टी स्वयमेव घट रूप परिणमन हो जाना चाहिये।

किन्तु इस प्रकार उपलब्ध नहीं है और अनुपलब्ध को ही उपलब्ध मानना मिथ्यात्व है। उसी प्रकार केवल बाह्य निमित्त से कार्य होता है तो कुम्हारादि बाह्य निमित्त से घट बनता है ऐसा मानने पर मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती तथा कुम्हारादि के हाथ पैर आदि ही घट रूप परिणमन कर जाना चाहिये किन्तु ऐसा भी उपलब्ध नहीं है। केवल लौकिक घटादि कार्य के लिये ही दोनों कारणों का सद्भाव चाहिये ऐसा नहीं किन्तु अलौकिक अभूतपूर्व महान् कार्य मोक्ष के लिये भी दोनों कारणों का समन्वय अनिवार्य है।

कारणद्वयं साध्यं तं कार्यमेके न जायते।

द्वद्वोत्पाधमपत्यं किमेकेनोत्पयते क्वचित्।।

जो कार्य दोनों से होता है वह एक कारण से नहीं हो सकता है जैसे-पुत्र उत्पत्ति रूप कार्य माता-पिता रूप दोनों कारणों से होता है।

उपरोक्त सम्पूर्ण सिद्धांत एवं उदाहरण से यह सिद्धांत सिद्ध होता है कि सम्यक् समन्वयवाद ही सम्यक्वाद या सम्यग्दर्शन है। सम्यग्वाद या समन्वय दृष्टि से जो सिद्धांत सत्य है वो ही सिद्धांत विषमता या असमन्वय दृष्टि से मिथ्या है। सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य नेमीचन्द्र जी ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा भी है-

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।

जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो।। (895)

एकांतवादियों का वचन सर्वथा निरपेक्ष होने से असत्य है। अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनी जिनेन्द्र भगवान् का वचन सापेक्ष होने से सत्य है।

अनेकान्त दर्शन कथञ्चित् काल को, कथञ्चित् स्वभाव को, कथञ्चित् कर्म को, कथञ्चित् पुरुषार्थ में से किसी एक को मुख्यता देकर कथन करता है। गौण समय में उसके सद्भाव को स्वीकार करता है कभी भी पूर्णतः अभाव को स्वीकार नहीं करता। यह अनेकान्त दर्शन सारग्राही दृष्टि है। आचार्यप्रवर अमृतचन्द्र सूरी पुरुषार्थ सिध्द्युपाय में स्याद्वाद एवं अनेकान्त की अमृतदायिनी वाणी से कथन करते हुये बताते हैं-

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।

अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिवगोपी।। (225)

इसी प्रकार भाग्य कृत में पुरुषार्थ शिथिल एवं पुरुषार्थ कृत में भाग्य शिथिल रहता है। पूर्ण निष्क्रिय या अभाव नहीं रहता। इसी प्रकार स्याद्वाद कथन भी गौण मुख्य की अपेक्षा से है। जब भाग्य बलशाली रहता है तब वह अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता है।

कथंचित् कभी कालादि एक कारण मुख्य होने से अन्य कारणों का अभाव नहीं होता। मुख्य गौण रूप से पाँचों ही कारण सम्पादन के लिये अपना-अपना योगदान देते हैं, इसलिये कार्य उत्पादन के लिये पाँचों ही कारण को मानना सम्यक् है। एकादि कारण को भी मानना या एक कारण से ही कार्य की उत्पत्ति मानना असम्यक् है।

प्रमाण-ज्ञान का उल्लेख 'स्यात् (कथंचित्) सत्' अथवा 'स्यात् सदैव'-इस प्रकार से होता है। इसमें 'स्यात्' का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि दूसरे भी धर्म सापेक्ष रूप से ध्वनित अथवा सूचित हो। 'स्यात्' शब्द जोड़ देने से वह कथन स्याद्वाद बनता है। नय का उल्लेख 'सत्' इस प्रकार से होता है? (सदैव सत्-स्यात् सदिति प्रिधाऽर्थो मीयेत दुनीर्ति नय-प्रमाणः) क्योंकि वह स्वाभिमत धर्म का ही कथन करता है। स्वाभिमत धर्म से भिन्न की चर्चा में वह नहीं पड़ता परन्तु यदि वह स्वाभिमत धर्म के निवेदन के साथ ही साथ इतर धर्म अथवा धर्मों को निषेध करे तो वह नय नहीं किन्तु दुर्नय है। इसका उल्लेख सत् ही है ऐसा एकान्त (निरपेक्ष एकान्त) निर्धारण रूप है। नय और दुर्नय इन दोनों के वाक्य में अन्तर नहीं होता, फिर भी अभिप्राय में अवश्य अन्तर होता है।

जिस प्रकार धर्म का अवधारणरहित निर्देश नय है; जैसे कि सत्, उसी प्रकार एकान्त का अवधारण यदि सापेक्ष हो तो भी वह 'नय' है, जैसे कि स्यात् सदैव अमुक अपेक्षा से सत् ही है। इस वाक्य में ही स्यात् प्रयोग किया गया है, अतः सत्त्व (अस्तित्व) साव-धारण है, परन्तु वह सापेक्ष है। यह सापेक्षता 'स्यात्' के प्रयोग से अथवा अध्याहार से जानी जाती है, अर्थात् उसके पीछे इस प्रकार का अभिप्राय होता है। इसी प्रकार 'घट अनित्य है'-यह अवधारण रहित धर्म-निर्देश जिस प्रकार नय है उसी प्रकार 'घट कथंचित् अनित्य ही है' ऐसा सावधारण निर्देश भी सापेक्ष होने से नय है-'नयस्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे'-(स्वामी समन्तभद्र)। स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि-

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणत्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।।

अनेकान्त भी एकान्त नहीं है अर्थात् वह अनेकान्त भी है और एकान्त भी है। प्रमाणगोचर अनेकान्त है और नयगोचर एकान्त है।

इस पर से देखा जा सकता है कि नयवाद जब सापेक्ष एकान्तवादों का सुयोजित हार ही अनेकान्तवाद है-

श्री सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क के तृतीय काण्ड की-

भद्दं मिच्छादंसण समूहमइअस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहिदिगम्मस्स।।

इस 69 वीं गाथा में जिनवचन को मिथ्यादर्शनों का समूह रूप बतलाया है अर्थात् अनेकान्त पूत जिनवाणी, समन्वित बने हुए मिथ्यादर्शनों का समुच्चय है। अर्थ कि जैसे मिथ्यादर्शन कहा जाता है उसके आंशिक ज्ञान में आंशिक सत्य समाविष्ट है 'षड्-दर्शन' जिन अंग भणीजे-आनन्दधन का यह उद्गार भी इसी बात को सूचित करता है। अंशज्ञान को अंश सत्य मानने के बदले सम्पूर्ण सत्य मान लेना ही मिथ्यादर्शन है।

हाथी के सुप्रसिद्ध उदाहरण पर विचार करने से देखा जा सकता है कि समूचे हाथी का ज्ञान होने पर ही एक हाथी पूर्ण रूप से ज्ञात हो सकता है, परन्तु यदि उसके एक-एक अवयव को ही हाथी समझ लिया जाय तो उससे समूचा हाथी समझ लिया ऐसा नहीं कहा जायेगा, परन्तु हाथी के एक-एक अंश का ही ज्ञान हुआ है ऐसा कहा जायेगा। हाथी के एक-एक अवयव को हाथी मानने वाले वे अन्धे कैसे पागल थे और इसलिए हाथी के एक-एक अवयव को हाथी मानकर परस्पर झगड़ने लगे। एक ही ओर की अपूर्ण दृष्टि को पकड़कर और उसे पूर्ण सत्य मानकर दूसरे के दृष्टिबिन्दु एवं तत्सापेक्ष समझ को समझाने का प्रयत्न नहीं करने वाले तथा पूरा समझे बिना इसकी अवगणना करने वाले आपस-आपस में कितना विरोध और झगड़ा-टंटा मचाते हैं यह हमारी आँखों के सामने हम प्रतिदिन देखते हैं। अज्ञान का (दुराग्रहयुक्त) अधूरे ज्ञान का काम ही लड़ने का है।

जिस प्रकार हाथी उसके एक-एक अवयव में नहीं, किन्तु उसके सभी अवयवों में समाविष्ट है, उसी प्रकार वस्तु उसके एक अंश में नहीं किन्तु उसके सभी अंशों के समुच्चय में रही हुई है। अतः उसके सभी अंशों का ज्ञान होने पर ही वह पूर्ण रूप से ज्ञात समझी जायेगी। इसका अर्थ यह हुआ है कि हाथी के मुख्य-मुख्य सभी अवयवों में हाथी को समझना जिस तरह हाथी के बारे में पूर्ण ज्ञान कहा जाता है उसी तरह वस्तु को उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों में जानना, उस वस्तु के बारे में पूरी समझ कही जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तु के एक-एक नहीं, किन्तु शक्य सभी अंशों के ज्ञान में वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान सन्निहित है। जड़ अथवा चेतन तत्त्व के अनेक अंशों को यदि बराबर समझा जाय तो दार्शनिकों में, हाथी के एक-एक अंग को पकड़ कर लड़ने वाले उन लोगों की भाँति, क्या लड़ाई हो सकती है?

व्यवहार में तो समय एवं परिस्थिति के अनुसार कोई एक विचार-मार्ग ग्रहण करना पड़ता है। व्यवहार में तो ऐसा ही होता है। नयदृष्टि व्यवहारिक उपयोग की वस्तु का होने से जिस समय जो विचार-दृष्टि योग्य अथवा अनुकूल प्रतीत होती है उस समय वह दृष्टि (नयदृष्टि) अनेकान्त रत्न-कोष में से ग्रहण करने की होती है।

'स्याद्वाद' अथवा 'अनेकान्तवाद' एक ऐसी विशाल दृष्टि का वाद है, जो वस्तु भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों में भिन्न-भिन्न दिशाओं से अवलोकन करता है। यह विशाल एवं व्यापक हो, इसी व्यापक दृष्टि के अवलोकन से एकांगी दृष्टि के विचार संकुचित और अपूर्ण सिद्ध होते हैं, जबकि भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दुओं से संगत भिन्न-भिन्न (विरुद्ध दिखाई देने वाले) विचार भी माला में मोतियों की भाँति समविन्त है और इसका परिणाम अपूर्ण दृष्टियों से उपजने वाले कलह को शान्त करके साम्यवाद (समवाद-समभाव) के सृजन में आता है क्योंकि एक दृष्टि के आधार पर एकांगी अभिप्राय रखने वाले को जब दूसरी दृष्टि का विचार आता है तब उसकी एकांगी हठ और अभिनिवेश दूर हो जाते हैं। अवश्य ही, एक दूसरे के मानस को समाहित बनाकर परस्पर माधुर्यपूर्ण बनने में व्यापक ज्ञान की आवश्यकता है और यह तभी सम्भव है जब हमारी दृष्टि व्यापक हो। इसी व्यापक दृष्टि को जैनदर्शन में 'अनेकान्त दृष्टि' कहते हैं और यह वस्तुतः संस्कारी जीवन का एक समर्थ अंग है।

यह दृष्टि व्यवहारिक भी है और आध्यात्मिक भी है। इसे व्यवहार जगत् का विचक्षण पुरुष भी समझ सकता है और आध्यात्मिक मार्ग का प्रवासी भी समझ सकता है। इस विशाल दृष्टि के निर्मल जल से अन्तदृष्टि प्रक्षालन होने पर राग-द्वेष शान्त होने लगते हैं और इसके परिणामस्वरूप चित्त की अहिंसात्मक शुद्धि होने पर आत्मसमाधि का मार्ग सुलभ बनता है।

अन्तकृत केवली गजकुमार

अथानन्तर श्रेणिक का अभिप्राय जानकर गणधरों के अधिपति श्री गौतम स्वामी ने जगत् के द्वारा स्तुत गजकुमार का वृत्तान्त इस प्रकार कहना शुरू किया। वे कहने लगे कि इस प्रकार गजकुमार, तीर्थंकर आदि का चरित्र सुनकर संसार से भयभीत हो गया और पिता, पुत्र, आदि समस्त बन्धुजनों को छोड़कर बड़ी विनय से

जिनेन्द्र भगवान् के समीप पहुँचा और उनसे अनुमति ले दीक्षा ग्रहण कर तप करने के लिए उद्यत हो गया। गजकुमार के लिए जो प्रभावती आदि कन्याएँ निश्चित की गयी थीं उन सभी ने संसार से विरक्त ही दीक्षा धारण कर ली। **(हरिवंश पुराण)**

तदनन्तर किसी दिन गजकुमार मुनि रात्रि के समय एकान्त में प्रतिमायोग से विराजमान हो सब प्रकार की बाधाएँ सहन कर रहे थे कि सोमशर्मा अपनी पुत्री के त्याग से उत्पन्न क्रोध रूपी अग्नि के कणों से प्रदीप्त हो उनके पास आया और स्थिर चित्त के धारक उन मुनिराज के शिर पर तीव्र अग्नि प्रज्वलित करने लगा। उस अग्नि से उनका शरीर जलने लगा।

उसी अवस्था में वे शुक्लध्यान के द्वारा कर्मों का क्षय कर अन्तकृत्केवली हो मोक्ष चले गये। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और महोरग आदि सुर और असुरों ने आकर उनके शरीर की पूजा की। गजकुमार मुनि का मरण जानकर दुःखी होते हुए बहुत-से यादव तथा वसुदेव को छोड़कर शेष समुद्रविजय आदि दशार्ह मोक्ष की इच्छासे दीक्षित हो गये। शिवा आदि देवियों, देवकी और रोहिणी को छोड़कर वसुदेव की अन्य स्त्रियों तथा कृष्ण की पुत्रियों ने भी दीक्षा धारण कर ली।

तदनन्तर देव और मनुष्यों से पूजित भगवान् नेमिजिनेन्द्र ने भव्य जीवों के समूह को प्रबोधित करते हुए नाना देशों में बड़े वैभव के साथ विहार किया। उन्होंने उत्तर दिशा के, मध्य देश के तथा पूर्व दिशा के प्रजा से युक्त अनेक बड़े-बड़े राजाओं को धर्म में स्थिर करते हुए विहार किया था।। चिरकाल तक विहार कर भगवान् पुनः आये और रैवतक (गिरनार) पर्वत-पर समवसरण को सुशोभित करते हुए विराजमान हो गये। प्रबल तेज को धारण करने-वाले इन्द्र वहाँ विराजमान जिनेन्द्र भगवान् के पास आये और नमस्कार तथा स्तुति कर अपने अपने स्थानों पर बैठ गये।

द्वारिका दहन

अन्तःपुर की रानियों, मित्रजन, द्वारिका की प्रजा तथा प्रद्युम्न आदि पुत्रों से सहित वसुदेव, बलदेव तथा कृष्ण भी बड़ी विभूति के साथ आये और भगवान् नेमिनाथ को नमस्कार कर समवसरण में यथास्थान बैठ भगवान् से धर्म श्रवण करने लगे। तदनन्तर धर्मकथा के बाद जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर बलदेव ने

हाथ जोड़ ललाट से लगा, अपने हृदय में स्थित जिज्ञासा पूछी। उन्होंने पूछा कि हे भगवन्! यह द्वारिकापुरी कुबेर के द्वारा रची गयी है सो इसका अन्त कितने समय में होगा। क्योंकि कृत्रिम वस्तुएँ अवश्य ही नश्वर होती हैं। यह द्वारिकापुरी कालान्तर में क्या अपने-आप ही समुद्र में डूब जावेगी? अथवा निमित्तान्तर के सन्निधान में किसी अन्य निमित्तसे विनाश को प्राप्त होगी? कृष्ण के अपने अन्तकाल में निमित्तपने को कौन प्राप्त होगा?

क्योंकि उत्पन्न हुए समस्त जीवों का मरण निश्चित है। हे प्रभो! मेरा चित्त कृष्ण के स्नेह रूपी महापाश से बंधा हुआ है अतः मुझे संयम की प्राप्ति कितने समय बाद होगी? इस प्रकार बलदेव के पूछने पर समस्त परापर पदार्थों को देखने वाले नेमि जिनेन्द्र, प्रश्नके अनुसार यथार्थ बात कहने लगे, सो ठीक ही है क्योंकि भगवान् प्रश्नों का उत्तर निरूपण करने वाले ही थे।

पुरीयं द्वादशे वर्षे राम मद्येन हेतुना।
द्वैपायर्नकुमारेण मुनिना भक्ष्यते रुषा।। (23)

कहा कि हे राम! यह पुरी बारहवें वर्ष में मदिरा के निमित्त से द्वैपायन मुनि के द्वारा क्रोधवश भस्म होगी।

कौशाम्बवनसुप्तस्य कृष्णस्य परमायुषः।
प्रान्ते जरत्कुमारोऽपि संहारे हेतुतां व्रजेत्।। (24)

अन्तिम समय में श्रीकृष्ण कौशाम्बी के वन में शयन करेंगे और जरत्कुमार उनके विनाश में कारणपने को प्राप्त होगा।

अभ्यन्तरस्य सान्निध्ये हेतोः परिणतेर्वशात्।
बाह्यो हेतुर्निमित्तं हि जगतोऽभ्युदये क्षये।। (25)
जानन्तो वस्तुसद्भावमतोऽभ्युदयनाशयोः।
हर्षं भुवि विषादं च न गच्छन्ति मनस्विनः।। (26)

अन्तरंग कारण के रहते हुए परिणतिवश बाह्य हेतु जगत् के अभ्युदय तथा क्षय में कारण होते हैं इसलिए वस्तु के स्वभाव को जाननेवाले उत्तम मनुष्य अभ्युदय तथा क्षयके समय पृथिवीपर कभी हर्ष और विषाद को प्राप्त नहीं होते।

संसार के मार्ग से भयभीत रहने वाले आपको भी उसी समय कृष्ण की मृत्यु का निमित्त पाकर तप की प्राप्ति होगी तथा तपकर आप ब्रह्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे। द्वैपायनकुमार रोहिणी का भाई-बलदेव का मामा था सो उस समय भगवान् के वचन सुनकर वह संसार से विरक्त हो मुनि होकर तप करने लगा। वह बारह वर्ष की अवधि को पूर्ण करने के लिए यहाँ से पूर्व देश की ओर चला गया और वहाँ कषाय तथा शरीर को सुखाने वाला तप करने लगा। 'मेरे निमित्त-वे कृष्ण की मृत्यु होगी' यह जानकर जरत्कुमार भी बहुत दुःखी हुआ और दुःख से युक्त भाई- बन्धुओं को छोड़कर वह कही ऐसी जगह चला गया जहाँ कृष्ण दिखाई भी न दें। जब जरत्कुमार वन में जाकर अकेला रहने लगा तब स्नेह से आकुल श्रीकृष्ण ने अपने-आपमें अपने-आपको सूना अनुभव किया। जो कृष्ण को प्राणों के समान प्यारा था ऐसा जरत्कुमार कहीं प्रिय प्राणों को छोड़ने की इच्छासे अकेला ही मृगों के समान निर्जन वन में भ्रमण करने लगा। इधर आगामी दुःख के भार की चिन्ता से जिनके मन सन्तप्त हो रहे थे ऐसे यादव लोग भगवान् को नमस्कार कर नगरी में प्रविष्ट हुए। बलदेव के साथ कृष्ण ने नगर में यह घोषणा करा दी कि मद्य बनाने के साधन और मद्य शीघ्र ही अलग कर दिये जायें। घोषणा सुनते ही मद्यपायी लोगों ने पिष्ट, किण्व आदि मदिरा बनाने के साधनों के साथ-साथ समस्त मदिरा को शिलाओं के बीच बने हुए कुण्ड से युक्त कादम्बगिरी की गुहा में फेंक दिया। कदम्बवन के कुण्डों मे जो मदिरा छोड़ी गयी थी वह अश्मपाक विशेष के कारण उन कुण्डों में भरी रही।

भावार्थ-पत्थर की कुण्डियों में जिस प्रकार कोई तरल पदार्थ स्थिर रहा आता है उसी प्रकार कदम्बवन के शिलाकुण्डों में वह मदिरा स्थिर रही। हित की इच्छा रखने वाले कृष्ण ने समस्त स्त्री-पुरुषों के सुनते समय द्वारिकापुरी में दूसरी घोषणा यह दी कि यदि मेरे पिता, माता, पुत्री अथवा अन्तःपुरकी स्त्री आदि कोई भी जिनेन्द्र भगवान् के मत में दीक्षित हो तप करना चाहे तो मैं उन्हें मना नहीं करता हूँ-उन्हें तप करने की मेरी ओर से पूर्ण छूट है। घोषणा सुनते ही प्रद्युम्नकुमार तथा भानुकुमार को लेकर चरम शरीरी कुमार और अन्य बहुत-से लोग परिग्रह का त्याग कर तपोवन को चले गये। रुक्मिणी और सत्यभामा आदि आठ पट्टरानियों ने भी आज्ञा प्राप्त कर पुत्रवधुओं तथा अन्य सौतों के साथ दीक्षा धारण कर ली। सिद्धार्थ नाम का सारथि जो

बलदेव का भाई था जब दीक्षा लेने के लिए उत्सुक हुआ तब बलदेव ने उससे याचना की कि कदाचित् मैं मोहजन्य व्यसन को प्राप्त होऊँ तो मुझे सम्बोधित करना। बलदेव की इस प्रार्थना को स्वीकृत कर उसने तप ग्रहण कर लिया।

ततः संघेन महता जिनः पल्लवदेशभाक्।
बभूव भव्यबोधार्थं भव्याम्भोरुहभास्करः।। (42)

तदनन्तर जो भव्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान थे ऐसे भगवान् नेमिजिनेन्द्र भव्य जीवों को सम्बोधन के लिए बड़े भारी संघ के साथ पल्लव देश को प्राप्त हुए।

राजस्त्रीनरसंघातो यावान् प्रव्रजितस्तदा।
जिनेनैवं समं सोऽयादुत्तरापथमुद्यमी।। (43)

उस समय जो राजा-रानियों और मनुष्यों का समूह दीक्षित हुआ था वह जिनेन्द्र भगवान् के साथ ही साथ उत्तरापथ की ओर चलने के लिए उद्यमी हुआ।

वर्षद्वादश चोद्वस्य पुर्याः लोकः क्वचिद्वने।
कृत्वा वासं पुनस्तत्र त्वागतश्च विधेर्वशात्।। (44)

द्वारिका के लोग द्वारिका से बाहर जाकर बारह वर्ष तक कहीं वन में रहे परन्तु भाग्य की प्रबलता से वे वहाँ निवास कर फिर वहीं वापस आ गये।

इतो द्वारवतीलोकः परलोकभयान्वितः।
व्रतोपवासपूजासु सुतरां निरतोऽभवत्।। (45)

इधर द्वारिका में जो लोग रहते थे वे परलोक के भय से युक्त हो व्रत, उपवास तथा पूजा आदि सत्कार्यों में निरन्तर संलग्न रहते थे।

तदनन्तर बहुत भारी तप से युक्त जो द्वैपायन मुनि थे वे भी भ्रान्तिवश बारहवें वर्ष को व्यतीत हुआ मानते हुए बारहवें वर्ष में वहाँ आ पहुँचे। 'जिनेन्द्र भगवान् का आदेश पूरा हो चुका है' यह विचार कर जिनकी बुद्धि विमूढ़ हो रही थी तथा जो सम्यग्दर्शन से दुर्बल थे ऐसे द्वैपायन मुनि बारहवें वर्ष में वहीं आ पहुँचे।

वे किसी समय द्वारिका के बाहर पर्वत के निकट, मार्ग में आतापनयोग धारण कर प्रतिमायोग से विराजमान थे। उसी समय वनक्रीड़ा से थके एवं प्यास से पीड़ित शम्ब आदि कुमारों ने कादम्बवन में कुण्डों में स्थित उस मद्य को पी लिया। कदम्बवन

में छोड़ी एवं कदम्ब रूप से डबरों के रूप में स्थित उस मधुर मदिरा को पीकर वे सब कुमार विकार भाव को प्राप्त हो गये। यद्यपि वह मदिरा पुरानी थी तथापि परिपाक के वश से उसने तरुण स्त्री के समान लाल-लाल नेत्रों को धारण करने वाले उन तरुण कुमारों को अत्यधिक वशीभूत का लिया। फलस्वरूप वे सब कुमार असम्बद्ध गाने लगे, लड़खड़ाते पैरों से नाचने लगे, उनके केश बिखर गये, आभूषण अस्त-व्यस्त हो गये और उन्होंने अपने कण्ठों में जंगली फूलों की मालाएँ पहन लीं। जब वे सब नगरको ओर आ रहें थे तब उन्होंने सूर्य के सम्मुख खड़े हुए हुए द्वैपायन मुनि को पहचान लिया। पहचानते ही उनके नेत्र घूमने लगे। उन्होंने आपस में कहा कि यह वही द्वैपायन योगी है जो द्वारिका का नाश करने वाला होगा। आज यह बेचारा हम लोगों के आगे कहाँ जायेगा? इतना कहकर उन निर्दय कुमारों ने लुड्डों और पत्थरों से उन्हें तब तक मारा जबकि कि वे घायल होकर पृथिवी पर नहीं गिर पड़े। तदनन्तर क्रोध की अधिकता से मुनि अपना ओठ डँसने लगे तथा यादवों और अपने तप को नष्ट करने के लिए उन्होंने भ्रुकुटी चढ़ा ली। मदमाते हाथियों के समान अत्यन्त चञ्चल कुमार जब द्वारिकापुरी में प्रविष्ट हुए तब उनमें-से किन्हीं ने यह दुर्घटना शीघ्र ही कृष्ण को जा सुनायी। बलदेव तथा नारायण ने द्वैपायन से सम्बन्ध रखने वाली इस घटना को सुनकर समझ लिया कि जिनेन्द्र भगवान् ने जो द्वारिका का क्षय बतलाया था वह आ पहुँचा है-अब शीघ्र ही द्वारिका का क्षय होने वाला है। बलदेव और नारायण भयवश सब प्रकार का परिकर छोड़, क्रोध से अग्नि के समान जलते हुए मुनि को शान्त करने के लिए, उन से क्षमा माँगने के लिए उनके पास दौड़े गये। जिनकी बुद्धि अत्यन्त संक्लेशमय थीं, भ्रुकुटी के भंग से जिनका मुख विषम हो रहा था, जिनके नेत्र दुःख से देखने योग्य थे, जिनके प्राण कण्ठगत हो रहे थे और जो अत्यन्त भयंकर थे ऐसे द्वैपायन मुनि को बलदेव और कृष्ण ने देखा। उन्होंने हाथ जोड़कर बड़े आदर से मुनि को प्रणाम किया और 'हमारी याचना व्यर्थ होगी' यह जानते हुए भी मोहवश याचना की। उन्होंने कहा कि, 'हे साधो! आपने चिरकाल से जिसकी अत्यधिक रक्षा की है तथा क्षमा ही जिसकी जड़ है ऐसा यह तप का भार क्रोध रूपी अग्नि से जल रहा है सो इसकी रक्षा की जाये, रक्षा की जाये। यह क्रोध मोक्ष के साधनभूत तप को क्षण-भर में दूषित कर देता है, यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों वर्गों का शत्रु

है तथा निज और पर को नष्ट करने वाला है। हे मुनिराज! प्रमाद से भरे हुए मूर्ख कुमारों ने जो दुष्ट चेष्टा की है उसे क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए, हम लोगों के लिए प्रसन्न होइए।' इत्यादि प्रियवचन बोलने वाले बलदेव और कृष्ण ने द्वैपायन से बहुत प्रार्थना की पर वे अपने निश्चय से पीछे नहीं हटे। उनकी बुद्धि अत्यन्त पापपूर्ण हो गयी थी और वे प्राणियों-सहित द्वारिकापुरी के जलाने का निश्चय कर चुके थे। उन्होंने बलदेव और कृष्ण के लिए दो अंगुलियाँ दिखायीं तथा संकेत से स्पष्ट सूचित किया कि तुम दोनों का ही छुटकारा हो सकता है, अन्य का नहीं।

अनिवर्तकरोषं तं विदित्वा विदितक्षयौ।
विषण्णौ तौ पुरीं यातौ किंकर्तव्यत्वविह्वलौ।। (67)

जब बलदेव और कृष्ण को यह विदित हो गया कि इनका क्रोध पीछे हटने वाला नहीं है तब वे द्वारिका का क्षय जान बहुत दुःखी हुए और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो नगरी की ओर लौट आये।

शम्बाद्यास्तु तदानेके यादवाश्चरमाङ्गकाः।
पुर्या निष्क्रम्य निष्क्रान्तास्तस्थुर्गिरिगुहादिषु।। (68)

उस समय शम्बकुमार आदि अनेक चरमशरीरी यादव नगरी से निकलकर दीक्षित हो गये तथा पर्वत की गुफा आदि में विराजमान हो गये।

मृत्वा क्रोधाग्निनिर्दग्धतपः सारधनश्च सः।
बभूवाग्निकुमाराख्यो मिथ्यादृग्भवनामरः।। (69)

क्रोधरूपी अग्नि के द्वारा जिनका तप रूपी श्रेष्ठ धन भस्म हो चुका था ऐसे द्वैपायन मुनि मरकर अग्निकुमार नामक मिथ्यादृष्टि भवनवासी देव हुए। वहाँ अन्तर्मुहूर्त में ही पर्याप्तक होकर उन्होंने यादव कुमारों के द्वारा किये हुए अपने अपकार को विभंगावधिज्ञान के द्वारा जान लिया।

अन्तर्मुहूर्तकालेन पर्याप्तः प्रतिबुद्धवान्।
विभङ्गेन विकारं स्व कृतं यदुकुमारकैः।। (70)

वहाँ अन्तर्मुहूर्त में ही पर्याप्तक होकर उन्होंने यादव कुमारों के द्वारा किये हुए अपने अपकार को विभंगावधिज्ञान के द्वारा जान लिया।

रौद्रध्यानं स दध्यौ मे तपस्थस्य निरागसः।

हिंसकानां पुरीं सर्वां दहामि सह जन्तुभिः।। (71)

इति ध्यात्वा स दुर्वारो यावदायाति दारुणः।

द्वारावत्यां महोत्पातास्तावज्जाताः क्षयावहाः।। (72)

उन्होंने इस रौद्रध्यान का चिन्तवन किया कि, 'देखो, मैं निरपराधी तप में लीन था फिर भी इन लोगों ने मेरी हिंसा की। अतः मैं इन हिंसकों की समस्त नगरी को सब जीवों के साथ अभी हाल भस्म करता हूँ।' इस प्रकार ध्यान कर क्रूर परिणामों का धारक वह दुर्वार देव ज्यों ही आता है त्यों ही द्वारिका में क्षय को उत्पन्न करनेवाले बड़े-बड़े उत्पात होने लगे।

बभूवुः प्रत्यगारं च रोमहर्षविकारिणः।

प्रजानां निशि सुप्तानां स्वप्नाश्च भयशंसिनः।। (73)

घर-घर में जब प्रजा के लोग रात्रि के समय निश्चिन्तता से सो रहे थे तब उन्हें रोमांच खड़े कर देने वाले भयसूचक स्वप्न आने लगे।

प्राप्य पापमतिश्चासौ पुरोमारम्य बाह्यतः।

कोपी दग्धुं सभारेभे तिर्यग्मानुषपूरिताम्।। (74)

अन्त में उस पापबुद्धि क्रोधी देव ने जाकर बाहर से लेकर तिर्यंच और मनुष्यों से भरी हुई नगरी को जलाना शुरू कर दिया।

धूमज्वालाकुलान् वृद्धस्त्रीबालपशुपक्षिणः।

नश्यतोऽग्नौ क्षिपत्येष कारुण्यं पापिनः कुतः।। (75)

वह धूम और अग्नि की ज्वालाओं से आकुल हो नष्ट होते हुए वृद्ध, स्त्री, बालक, पशु तथा पक्षियों को पकड़-पकड़कर अग्नि में फेंकने लगा सो ठीक ही है क्योंकि पापी मनुष्य को दया कहाँ होती है?

प्राणिजातस्य सर्वस्य जातवेदसि मज्जतः।

आक्रन्दनस्वना जाता येऽन्न जाता न जातुचित्।। (76)

उस समय अग्नि में जलते हुए समस्त प्राणियों की चीत्करों से जो शब्द हुए थे वैसे शब्द इस पृथिवी पर कभी नहीं हुए थे। दिव्य अग्नि के द्वारा जब नगरी जल रही

थी तब जान पड़ता था कि देव लोग कहीं चले गये थे सो ठीक ही है क्योंकि भवितव्यता दुर्निवार है। अन्यथा इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने जिस नगरी की रचना की थी तथा कुबेर ही जिसकी रक्षा करता था वह नगरी अग्नि के द्वारा कैसे जल जाती? 'हे बलदेव और कृष्ण! हम लोग चिरकाल से अग्नि के भय से पीड़ित हो रहे हैं, हमारी रक्षा करो' इस प्रकार स्त्री, बालक और वृद्धजनों के भय से भरे शब्द सर्वत्र व्याप्त हो रहे थे। भयभीत हुए बलदेव और कृष्ण कोट फोड़कर समुद्र के प्रवाहों से उस अग्नि को बुझाने लगे। बलशाली बलदेव ने अपने हल से समुद्र का जल खींचा परन्तु वह तेल रूप में परिणत हो गया और उससे अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित हो उठी। जब बलदेव और कृष्ण को इस बात का निश्चय हो गया कि अग्नि असाध्य है-बुझायी नहीं जा सकती है तब उन्होंने दोनों माताओं को, पिता को तथा अन्य बहुत से लोगों को रथ पर बैठाकर तथा रथ में हाथी और घोड़े जोतकर रथ को पृथिवी पर चलाया परन्तु रथ के पहिये जिस प्रकार कीचड़ में फँस जाते है उस प्रकार पृथिवी में फँस गये। सो ठीक ही है क्योंकि विपत्ति के समय कहाँ हाथी और कहाँ घोड़े काम आते हैं? हाथी और घोड़ो को निष्कार्य देख जब दोनों भाई स्वयं ही भुजाओं में से रथ खीचंकर चलने लगे तब उस पापी देव ने वज्रमय कील से कीलकर रथ को रोक दिया। जब तक बलदेव पैर के आघात से कील को उखाड़ते है तब तक उस क्रोधी दैत्य ने नगर का द्वार बन्द कर दिया। जब दोनों भाइयों ने पैर के आघात से द्वार के कपाट को शीघ्र ही गिरा दिया तब तक शत्रु ने कहा कि तुम दोनों के सिवाय किसी अन्य का निकलना नहीं हो सकता।

ततः पित्रा च मातृभ्यां पुत्रौ यातमितीरितौ।
विनिश्चत्योपसंहारमात्मीयमिति दुःखिभिः।। (87)
भवतोः जीवतोः पुत्रौ कदाचिद्वंशसन्ततिः।
न क्राम्येदप्यतो घातमति तद्वाक्यमस्तकौ।। (88)
तान्प्रशाम्य गतौ दीनौ दुःखितौ दुःखपीडितान्।
प्रपत्य पादयोर्यातौ गुरुवाक्यकरौ पुरः।। (89)

तदनन्तर अब हम लोगों का विनाश निश्चित है यह जानकर दोनों माताओं और पिता ने दुःखी होकर कहा कि 'हे पुत्रों! तुम जाओ। कदाचित् तुम दोनों के जीवित

रहते वंश घात को प्राप्त नहीं होगा।' इस प्रकार गुरुजनों के वचन मस्तक पर धारण कर दोनों भाई अत्यन्त दुःखी हुए तथा दुःख से पीड़ित दीन माता-पिता को शान्त कर और उनके चरणों में गिरकर उनके वचनों को मानते हुए नगर से बाहर निकल आये।

निर्गत्य निर्गती पुर्या ज्वालालीलीढवेश्मनः।

रुदित्वा कण्ठलग्नौ तौ दक्षिणां दिशमाश्रितो।। (90)

ज्वालाओं के समूह से जिसके महल जल रहे थे ऐसी नगरी से निकलकर दोनों भ्राता पहले तो गतिहीन हो गये-इस बात का निश्चय नहीं कर सके कि कहाँ जाया जाये? वे बहुत देर तक एक-दूसरे के कण्ठ से लगकर रोते रहे। तदनन्तर दक्षिण दिशा की ओर चले।

इतोऽपि वसुदेवाद्या यादवाश्च तदङ्गनाः।

प्रायोपगमनं प्राप्ताः संप्राप्ता बहवो दिवम्।। (91)

इधर वसुदेव आदि यादव तथा उनकी स्त्रियाँ-अनेक लोग संन्यास धारण कर स्वर्ग में उत्पन्न हुए।

केचिच्चरमदेहास्तु बलदेवसुतादयः।

गृहीतसंयमा नीता जृम्भकैनिर्जसन्निधिम्।। (92)

बलदेव के पुत्रों को आदि लेकर जो कुछ चरमशरीरी थे उन्होंने वही संयम धारण कर लिया और उन्हें जृम्भकदेव जिनेन्द्र भगवान् के पास ले गये।

यदूनां यादवीनां च धर्म्यध्यानवशात्मनाम्

सम्यग्दर्शनशुद्धानां प्रायोगममाश्रिताम्।। (93)

बहूनां दह्यमानानामपि देहविनाशनः।

जातो हुताशनो रौद्रो न तु ध्यानविनाशनः।। (94)

जिनकी आत्मा धर्मध्यान के वशीभूत थी-जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध थे, तथा जिन्होंने प्रायोपगमन नामक संन्यास धारण कर रखा था ऐसे बहुत से यादव और उनकी स्त्रियाँ यद्यपि अग्नि में जल रही थीं तथापि भयंकर अग्नि केवल उनके शरीर को नष्ट करने वाली हुई, ध्यान को नष्ट करने वाली नहीं।

आर्तध्यानकरः प्रायो मिथ्यादृष्टिषु जायते।

उपसर्गश्चतुर्भेदो न सद्दृष्टेस्तु जातुचित्।। (95)

मनुष्य, तिर्यंच, देव और जड़ के भेद से चार प्रकार का उपसर्ग प्रायः मिथ्यादृष्टि जीवों को ही आर्त्तध्यान का करनेवाला होता है, सम्यग्दृष्टि जीव को कभी नहीं।

आगाढे वाप्त्यनागाढे मरणे समुपस्थिते।

न मुह्यन्ति जना जातु जिनशासनभाविताः।। (96)

जो मनुष्य जिनशासन की भावना से युक्त हैं वे सम्भावित और असम्भावित किसी भी प्रकार का मरण उपस्थित होने पर कभी मोह को प्राप्त नहीं होते।

मिथ्यादृष्टेः सतो जन्तोर्मरणं शोचनाय हि।

न तु दर्शनशुद्धस्य समाधिमरणं शुचे।। (97)

मिथ्यादृष्टि जीव का मरण शोक के लिए होता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव का समाधिमरण शोक के लिए नहीं होता।

मृतिर्जातस्य नियता संसृतौ नियतेर्वशात्।

सा समाधियुजो भूयादुपसर्गेऽपि देहिनः।। (98)

संसार का नियम ही ऐसा है कि जो उत्पन्न होता है उसका मरण अवश्य होता है, अतः सदा यह भावना रखनी चाहिए कि उपसर्ग आने पर भी समाधिपूर्वक ही मरण हो।

वन्याः शिखिशिखाजालकवलीकृतविग्रहाः।

अपि साधुसमाधाना ये त्यजन्ति कलेवरम्।। (99)

वे मनुष्य धन्य हैं जो अग्नि की शिखाओं के समूह से ग्रस्त शरीर होने पर भी उत्तम समाधि से शरीर छोड़ते हैं।

तपो वा मरणं वापि शस्तं स्वपरसौख्यकृत्।

न च द्वैपायनस्येव स्वपरासुखकारणम्।। (100)

जो तप और मरण निज तथा पर को सुख करनेवाला है वही उत्तम है-प्रशंसनीय है, जो तप द्वैपायन के समान निज और पर को दुःख का कारण है वह उत्तम नहीं है।

परस्यापकृतिं कुर्वन् कुर्यादेकत्र जन्मनि।

पापी परवधं स्वस्य जन्तुर्जन्मनि जन्मनि।। (101)

दूसरे का अपकार करने वाला पापी मनुष्य, दूसरे का वध तो एक जन्म में कर पाता है पर उसके फलस्वरूप अपना वध जन्म-जन्म करता है।

कषायवशगः प्राणी हन्ता स्वस्य भवे भवे।

संसारवर्धनोऽन्येषां भवेद्वा वधको न वा।। (102)

यह प्राणी दूसरों का वध कर सके अथवा न कर सके परन्तु कषाय के वशीभूत हो अपना वध तो भव-भव में करता है तथा अपने संसार को बढ़ाता है।

परं हन्मीति संध्यातं लोहपिण्डमुपाददत्।

दहत्यात्मानमेवादौ कषाायवशगस्तथा।। (103)

जिस प्रकार तपाये हुए लोहे के पिण्ड उठाने वाला मनुष्य पहले अपने-आप को जलाता है पश्चात् दूसरे को जला सके अथवा नहीं। उसी प्रकार कषाय के वशीभूत हुआ प्राणी 'दूसरे का घात करूँ' इस विचार के उत्पन्न होते ही पहले अपने-आपका घात करता है पश्चात् दूसरे का घात कर सके या नहीं कर सके।

संसारान्तकरं पुंसामेकेषां परमं तपः।

द्वैपायनस्य तज्जातं दीर्घसंसारकारणम्।। (104)

किन्हीं मनुष्यों के लिए यह परम तप संसार का अन्त करने वाला होता है पर द्वैपायन मुनि के लिए दीर्घ संसार का कारण हुआ।

जन्तोः को वापराधोऽत्र स्वकर्मवशवर्तिनः।

यत्नवानपि यज्जन्तुर्मोह्यते मोहवैरिणा।। (105)

अथवा इस संसार में अपने कर्म के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले प्राणी का क्या अपराध है? क्योंकि यत्न करने वाला प्राणी भी मोह रूपी वैरी के द्वारा मोह को प्राप्त हो जाता है।

अपाक्रियेतापि परः कथंचिदतितिक्षुणा।

उपक्रियेत यद्यात्मा तथेहपरलोकयोः।। (106)

असहनशील पुरुष दूसरे का अपकार किसी तरह कर भी सकता है परन्तु उसे अपने-आपका तो इस लोक और परलोक में उपकार ही करना चाहिए।

परदुःखविधानेन यत्स्वदुःखपरम्परा।

अवश्यम्भाविनी तस्मात्तितिक्षैवातिभाव्यताम्।। (107)

क्योंकि दूसरों को दुःख पहुँचाने से अपने-आपको भी दुःख की परम्परा प्राप्त होती है, इसलिए क्षमा अवश्यम्भावी है-अवश्य ही धारण करने योग्य है ऐसा निश्चय करना चाहिए।

क्रोधान्येन विधेर्वशेन नगरी द्वैपायनेनाखिला
बालस्त्रीपशुवृद्धलोककलिता द्वाराकुला द्वारिका।
मासैः षड्भिरशेषिता विलसिता संत्यज्य जैनं वचो
धिक् क्रोधं स्वपरापकारकरणं संसारसंवर्धनम्।। (108)

गौतम स्वामी कहते हैं कि देखो, विधि के वशीभूत हुए क्रोध से अन्ध द्वैपायन ने जिनेन्द्र भगवान् के वचन छोड़कर बालक, स्त्री, पशु और वृद्धजनों से व्याप्त एवं अनेक द्वारों से युक्त शोभायमान द्वारिका नगरी को छह मास में भस्म कर नष्ट कर दिया सो निज और पर के अपकारण का कारण तथा संसार को बढ़ाने वाले इस क्रोध को धिक्कार है।

श्रीकृष्ण के परलोक गमन

जो बलदेव और कृष्ण पहले पुण्योदय से लोकोत्तर उन्नति को प्राप्त थे, चक्र आदि रत्नों से सहित थे, बलवान् थे, बलभद्र एवं नारायण-पद के धारक थे वे ही अब पुण्य क्षीण हो जाने से रत्न तथा बन्धुजनों से रहित हो गये, प्राणमात्र ही उनके साथी रह गये और शोक के वशीभूत हो गये। **(हरिवंश पुराण)**

केवल जीवित रहने की आशा रखने वाले दोनों भाई दक्षिण दिशा की ओर चले। वहाँ वे भूख-प्यास से व्याकुल हो मार्ग में किसी उत्तम आश्रय की इच्छा करने लगे। पाण्डवों को लक्ष्य कर वे दक्षिण मथुरा की ओर जा रहे थे कि मार्ग में हस्तवप्र नामक नगर में पहुँचे। वहाँ कृष्ण तो उद्यान में ठहर गये ओर बलदेव संकेत कर तथा वस्त्र से अपना समस्त शरीर ढँककर अन्न-पानी लेने के लिए नगर में प्रविष्ट हुए। उस नगर में अच्छदन्त नाम का राजा रहता था, धृतराष्ट्र के वंश का था, जो पृथिवी में प्रसिद्ध धनुर्धारी और यादवों के छिद्र ढूँढ़ने वाला था। वीर बलदेव ने ज्यों ही उस नगर में प्रवेश किया त्यों ही उनके रूप-पाश से वशीभूत हुए लोगों के झुण्ड के-झुण्ड आश्चर्य से चकित हो उन्हें देखने लगे। बलदेव ने बाजार में किसी के लिए अपना कड़ा और कुण्डल देकर उससे अन्नपान-खाने पीने की सामग्री खरीदी और उसे लेकर वे नगर के बाहर निकल रहे थे तब राजा के पहरेदारों ने देखकर तथा 'यह बलदेव है' इस प्रकार पहचान कर राजा को सूचना दी। फिर क्या था, राजा ने उनके वध के लिए अपनी समस्त सेना भेज दी।

नगर के द्वार पर बलदेव को रोकने वाली सेना की बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी। बलदेव ने संकेत से कृष्ण को बुलाया और वे शीघ्र ही वहाँ आ गये। बलदेव ने अन्न-पान को किसी जगह अच्छी तरह रखकर हाथी बाँधने का एक खम्भा लिया तथा कृष्ण ने कुछ क्रुद्धचित हो भयंकर अर्गल उठाया।

तदनन्तर इन दोनों के द्वारा मार पड़ने पर वह चतुरंग सेना अपने सेनापति के साथ विह्वल-चित्त हो इधर-उधर भाग गयी।

तदनन्तर अन्न-पान लेकर दोनों भाई नगर से निकल विजय नामक वन में आये। वहाँ उन्होंने एक सुन्दर सरोवर देखा। सरोवर में स्नान कर हृदय में स्थित जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर नाना प्रकार का भोजन किया, अत्यन्त शीतल पानी पिया और क्षण-भर विश्राम किया। विश्राम के बाद दोनों वीर फिर दक्षिण दिशा की ओर चले और चलते-चलते दूसरों के लिए अत्यन्त दुर्गम कौशाम्बी नाम के भयंकर वन में प्रविष्ट हुए। उस वन की समस्त दिशाएँ पक्षियों तथा शृगालों के शब्दों से शब्दायमान थीं, प्यास से पीड़ित मृगों के झुण्ड वहाँ इधर-उधर फिर रहे थे, बड़ी ऊँची मृततृष्णा वहाँ उठ रही थी, ग्रीष्म के उग्र सन्ताप से कठोर बहती हुई वायु से वह वन अत्यन्त असह्य था तथा दावानल से वहाँ लताओं के समूह, झाडियाँ और वृक्षों के समूह जल गये थे।

जहाँ पानी के मिलने की कोई सम्भावना नहीं थी, जहाँ दौड़ते हुए जंगली पशुओं की श्वास का शब्द हो रहा था, तथा जहाँ वनचरों के द्वारा विदीर्ण किये हुए हाथियों के गण्डस्थलों से बिखरकर मोती इधर-उधर पड़े थे, ऐसे वन में पहुँचकर जब अत्यन्त तीक्ष्ण सूर्य आकाश के मध्य में आरूढ़ हो रहा था तब थके हुए कृष्ण ने गुणों से श्रेष्ठ बड़े भाई-बलदेव से कहा कि 'हे आर्य! मैं प्यास से बहुत व्याकुल हूँ, मेरे ओठ और तालु सूख गये हैं, अब इसके आगे मैं एक डग भी चलने के लिए समर्थ नहीं हूँ। इसलिए हे आर्य! अनादि एवं सारहीन संसार में सम्यग्दर्शन के समान तृष्णा को दूर करने वाला शीतल जल मुझे पिलाइए।'

इस प्रकार कहने पर स्नेह के संचार से जिनका मन आर्द्र हो रहा था ऐसे बलदेव ने गरम-गरम श्वास छोड़ने वाले कृष्ण से कहा कि 'हे भाई! मैं शीतल पानी लाकर अभी तुम्हें पिलाता हूँ तुम तब तक जिनेन्द्र भगवान् के स्मरण रूपी जल से

प्यास को दूर करो। यह पानी तो थोड़े समय तक के लिए ही प्यास को दूर करता है पर जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण रूपी पानी पीते ही उस तृष्णा को जड़-मूल से नष्ट कर देता है। तुम यहाँ इस वृक्ष की शीतल छाया में बैठो, मैं तुम्हारे लिए सरोवर से शीतल पानी लाता हूँ।

इस प्रकार छोटे भाई कृष्ण से कहकर उसे अपने हृदय में धारण करते हुए बलदेव अपने श्रम का विचार न कर पानी लेने के लिए गये। इधर कृष्ण भी बतायी हुई वृक्ष की सघन छाया में जा पहुँचे और कोमल वस्त्र से शरीर को ढँककर मृदु मृत्तिका से युक्त पृथिवी पर पड़ रहे। उसी सघन वन में वे थकावट दूर करने के लिए बाँयें घुटने पर दाहिना पाँव रखकर क्षण-भर के लिए सो गये।

शिकार-व्यसन का प्रेमी जरत्कुमार अकेला उस वन में घूम रहा था, सो अपनी इच्छा से उसी समय उस स्थान पर आ पहुँचा। भाग्य की बात देखो कि कृष्ण के स्नेहभरा जो जरत्कुमार उनके प्राणों की रक्षा की इच्छा से द्वारिका से निकलकर मृग की तरह वन में प्रविष्ट हो गया था वही उस समय विधाता के द्वारा लाकर उस स्थान पर उपस्थित कर दिया गया। धनुर्धारी जरत्कुमार ने दूर से आगे देखा तो उसे कुछ अस्पष्ट-सा दिखायी दिया। उस समय कृष्ण के वस्त्र का छोर वायु से हिल रहा था इसलिए जरत्कुमार को यह भ्रान्ति हो गयी कि यह पास ही में सोये हुए मृग का कान हिल रहा है। फिर क्या था झाड़ी से जिसका शरीर छिपा हुआ था और शिकारी के समान जिसकी क्रूर बुद्धि हो गयी थी ऐसे जरत्कुमार ने बड़ी मजबूती से कान तक धनुष खींचकर तीक्ष्ण बाण से कृष्ण का पैर वेध दिया। पदतल के विद्ध होते ही श्रीकृष्ण सहसा उठ बैठे और सब दिशाओं में देखने के बाद भी जब कोई दूसरा मनुष्य नहीं दिखा तब उन्होंने जोर से इस प्रकार कहा कि किस अकारण वैरी ने मेरा पदतल वेधा है। वह यहाँ मेरे लिए अपना कुल तथा नाम साफ-साफ बतलाये। जिस मुझने युद्ध में कभी भी अज्ञात-कुल और अज्ञात नाम वाले मनुष्य का वध नहीं किया आज उस मेरे लिए यह क्या विपत्ति आ पड़ी? इसलिए कहो कि अज्ञातकुल नाम वाले आप कौन हैं? तथा जिसके वैर का पता नहीं ऐसा कौन इस वन में मेरा घातक हुआ है?

श्रीकृष्ण के इस प्रकार कहने पर जरत्कुमार ने कहा कि हरिवंश में उत्पन्न हुए एक वसुदेव नाम के राजा हैं जो बलदेव और कृष्ण के पिता हैं। मैं जरत्कुमार नाम का

उन्हीं का अतिशय प्यारा पुत्र हूँ। जहाँ कायर मनुष्य प्रवेश नहीं कर सकते ऐसे वन में अकेला ही वीर घूमता रहता हूँ। नेमिजिनेन्द्र ने आज्ञा की थी कि जरत्कुमार के द्वारा कृष्ण का मरण होगा सो मैं उनकी इस आज्ञा से डरकर बारह वर्ष से इस वन में रह रहा हूँ। मुझे अपना छोटा भाई कृष्ण बहुत ही प्यारा था, इसलिए इतने समय से यहाँ रह रहा हूँ, इस बीच में मैंने किसी आर्य का नाम भी नहीं सुना। फिर आप यहाँ कौन हैं?

जरत्कुमार के यह वचन सुन कृष्ण ने जान लिया कि यह हमारा भाई है तब स्नेह से कातर हो उन्होंने 'हे भाई! यहाँ आओ, यहाँ आओ' इस प्रकार संभ्रमपूर्वक उसे बुलाया। जरत्कुमार भी जान लिया कि यह हमारा छोटा भाई है तब 'हाय हाय' शब्द से मुख को शब्दायमान करता हुआ वह वहाँ आया और धनुष-बाण को पृथिवी पर फेंक श्रीकृष्ण के चरणों में आ गिरा।

कृष्ण ने उसे उठाया तो वह कण्ठ में लगकर महाशोक करने लगा। कृष्ण ने कहा कि हे बड़े भाई! अत्यधिक शोक मत करो, होनहार अलंघनीय होती है। हे श्रेष्ठ पुरुष! आपने प्रमाद का निराकरण करने के लिए समस्त सुख सम्पदाओं को छोड़ चिरकाल तक वन में निवास करना स्वीकृत किया। अपयश और पाप से डरने वाला सज्जन पुरुष बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करता है परन्तु दैव के कुटिल होने पर उसका वह यत्न क्या कर सकता है?

तदनन्तर जरत्कुमार ने कृष्ण से वन में आने का कारण पूछा तो उन्होंने प्रारम्भ से लेकर द्वारिका तक का सब दारुण समाचार कह सुनाया। गोत्र का क्षय सुनकर जरत्कुमार प्रलाप से मुखर होता हुआ बोला कि हा भाई! चिरकाल के बाद आप दिखे और मैंने आपका यह अतिथि-सत्कार किया! मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? चित्त की शान्ति कहाँ प्राप्त करूँ? हा कृष्ण! तुझे मारकर मैंने लोक में दुःख तथा अपयश दोनों प्राप्त किये। इत्यादि रूप से विलाप करते हुए जरत्कुमार से उत्तम हृदय के धारक कृष्ण ने कहा कि राजेन्द्र! प्रलाप को छोड़ो, समस्त जगत् अपने किये हुए कर्म को अवश्य भोगता है। संसार मैं कौन किसके लिए सुख देता है? अथवा कौन किसके लिए दुःख देता है? और कौन किसका मित्र है अथवा कौन किसका शुत्र है? यथार्थ में अपना किया हुआ कार्य ही सुख अथवा दुःख देता है। बड़े भाई राम मेरे लिए पानी लाने के

लिए गये हैं सो जब तक वे नहीं आते हैं तब तक तुम शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ। सम्भव है कि वे तुम्हारे ऊपर अशान्त हो जायें। तुम जाओ और पहले से ही पाण्डवों के लिए सब समाचार कह सुनाओ। वे अपने कुल के हितकारी आप्तजन हैं अतः तुम्हारी अवश्य रक्षा करेंगे। इतना कहकर उन्होंने पहचान के लिए उसे आदरपूर्वक अपना कौस्तुभमणि दे दिया और कुछ थोड़ा मुड़कर कहा कि जाओ। हाथ मैं कौस्तुभमणि लेते हुए जरत्कुमार ने कहा कि हे देव! मुझे क्षमा कीजिए। इस प्रकार कहकर और धीरे से वह बाण निकालकर वह उलटे पैरों वहाँ से चला गया।

जरत्कुमार के चले जाने पर कृष्ण व्रण की तीव्र वेदना से व्याकुल हो गये। उन्होंने उत्तराभिमुख होकर पंच-परमेष्ठियों को नमस्कार किया। वर्तमान तीर्थंकर श्री नेमिजिनेन्द्र को हाथ जोड़कर गुणों को स्मरण करते हुए बार-बार नमस्कार किया। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् के विहार से पृथिवी के सस्मत उपद्रव नष्ट हो चुके हैं इसलिए शिर रखकर वे पृथ्वी रूपी शय्यापर लेट गये। तदनन्तर जिन्होंने वस्त्र से अपना समस्त शरीर ढँक लिया था, सब परिग्रह से जिनकी बुद्धि निवृत्त हो गयी थी और जो सबके साथ मित्रभाव को प्राप्त थे ऐसे श्रीकृष्ण इस प्रकार के शुभ विचार को प्राप्त हुए।

पुत्रपौत्रकलत्राणि ते भ्रातृगुरुबान्धवाः।
अनागतविधातारो धन्या ये तपसि स्थिताः।। (60)

वे पुत्र, पोते, स्त्रियाँ, भाई, गुरु और बान्धव धन्य हैं जो भविष्यत् का विचार कर अग्नि के उपद्रव से पहले ही तपश्चरण करने लगे।

अन्तःपुरसहस्राणि सहस्राणि सुहृद्गणाः।
अविधाय तपः कष्टं कष्टं वह्निमुखे मृताः।। (61)

बड़े कष्ट की बात है कि हमारी स्त्रियाँ और हजारों मित्रगण तप का कष्ट न कर अग्नि के मुख में मृत्यु को प्राप्त हो गये।

कर्मगौरवदोषेण मयापि न कृतं तपः।
सम्यक्त्वं मेऽस्तु संसारपातहस्तावलम्बनम्।। (62)

कर्म के प्रबल भार से मैंने भी तप नहीं किया इसलिए मेरा सम्यग्दर्शन ही मुझे संसारपात से बचाने के लिए हस्तावलम्बनरूप हो।

इत्यादि शुभचिन्तात्मा भविष्यत्तीर्थकृद्धरिः।
बद्धायुष्कतया मृत्वा तृतीयां पृथिवीमितः।। (63)

इत्यादि शुभ विचार जिनकी आत्मा में उत्पन्न हो रहे थे, और जो भविष्यत् काल में तीर्थंकर होने वाले थे ऐसे श्रीकृष्ण पहले से ही बद्धायुष्क होने के कारण मरकर तीसरी पृथिवी में गये।

दक्षो दक्षिणभारतार्धविभुतामुद्भाव्य भव्यप्रजा-
बन्धुर्बन्धुजनाम्बुधेरहरहर्वृद्धिं विधाय प्रभुः।
पूर्णं वर्षसहस्त्रमेकमगमत्संजीव्य कृष्णो गतिं
भोगी स्वाचरणोचितो जिनतया यो योक्ष्यते दर्शनात्।। (64)

गौतम स्वामी कहते हैं कि जो आगे चलकर सम्यग्दर्शन के कारण तीर्थंकर पद से युक्त होंगे वे नीतिनिपुण, भव्य प्रजा के परम बन्धु, भोगी कृष्ण, दक्षिण भरतार्ध की विभुता को प्रकट कर, प्रतिदिन बन्धुजन रूपी सागर की वृद्धि को बढ़ाकर एवं एक हजार वर्ष तक जीवित रहकर अपने आचरण के अनुरूप तीसरी पृथिवी में गये।

''जो धर्म व धार्मिक सिखाता है आपस में वैर करना'' से पीड़ित होकर-

आत्मा को परमात्मा व स्वपरविश्वहित हेतु धर्म

(अधर्मी-विधर्मी-कुधर्मी से भी घृणा न करने वाले किन्तु उन्हें नवकोटि से मैत्री करते तथापि स्वीकार नहीं करने वाले सच्चे धार्मिक)

(चालः दुनिया में रहना है तो...)

तीर्थंकरों ने कहा सत्य स्वीकार करो...
असत्य को कभी भी स्वीकार न करो...
गुण-गुणी का आदर से स्वीकार करो
कुगुण त्यागो दुर्गुणी से माध्यस्थ रहो।। (1)

आत्मविश्वासज्ञान चारित्र को पालो,
मिथ्याविश्वासज्ञान चारित्र को त्यागो।
स्व हेतु जो चाहो वह अन्य प्रति भी करो,

''जीओ और जीने दो'' रूपी अहिंसा पालो।। (2)

सभी जीव प्रति मैत्री भावना भाओ,
गुणीजीव प्रति प्रमोद भावना भाओ।
दुःखी जीव प्रति करुणा भावना भाओ,
विपरीत वृत्ति (वालों) से माध्यस्थ भावना भाओ।। (3)

सभी जीव सुखी रहे ऐसी भावना मैत्री,
गुणी से आदर भाव प्रमोद वृत्ति।
दुःखी के दुःख हरण की भावना करुणा,
विपरीत मत पंथादि से साम्य भावना।। (4)

भले जो विपरीत भाव-व्यवहार से युक्त,
हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह सहित।
अन्याय अत्याचार पापाचारादि सहित,
अन्धविश्वास ज्ञान चारित्र सहित।। (5)

ऐसे व्यक्ति समाज से ले पंथमत,
शिक्षा राजनीति कानून से ले राष्ट्र।
उन्हें न मानो नवकोटि से भी अवश्य,
न करो प्रशंसा सहयोग किन्तु रहो साम्य।। (6)

खम्माणि सव्व-जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व-भूदेसु वैरं मज्झ ण केण वि।। (प्रतिक्रमण)
अण्णोण्णं खज्जंता जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
णहु तेसिं पज्जत्ति कहपावइ धम्मदि सुण्णो।। (कल्याण)
णाण जीव णाणा कम्म णाणाविह हव्वे लद्धि।
तेण वचन विवादो सगपर समयम्मि वज्जिदो।। (आ.कुन्दकुन्द)

सभी जीव को करो क्षमा व मांगो क्षमा,
सभी जीव से करो मैत्री, न करो घृणा।
किसी से भी न करो वैर विरोध,
वैर विरोध से मिलते दुःख अनन्त।। (7)

नाना जीव नाना कर्म है नाना भाव काम,
अतः स्वधर्मी अन्यधर्मी से न वचन से भी विवाद।
यह अहिंसा विश्वप्रेम विश्वमैत्री,
सभी आत्मा में परमात्मा देखने की शक्ति।। (8)

एकेन्द्रिय से असंज्ञी तक सब होते मिथ्यात्वी,
उनकी रक्षा हेतु तीर्थेश कहते सभी।
संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य तिर्यंच देव नारकी,
जो होते मिथ्यात्वी उन से भी रखो है मैत्री।। (9)

इस हेतु जलगालन रात्रिभोजन त्याग,
अभक्ष्य भक्षण व अमर्यादित भोजन त्याग।
पंचसमिति पंचव्रत क्षमादि दशधर्म,
पालन करते हैं जैनी स्व पर विश्व हितार्थ।। (10)

विश्वकल्याणमय सोलह भावना जो भाते,
वे ही तीर्थंकर बन विश्व मंगल करते।
इसलिए तो एक युग में होते चौबीस तीर्थेश,
उनके कारण खरबों जीव पाते हैं मोक्ष।। (11)

इससे होता आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र,
जिससे होता आत्मा परम पवित्र।
इससे आत्मा बनता है परमात्मा,
आत्मा से परमात्मा बनते सच्चे धर्मात्मा।। (12)

ऐसे परम पावन धर्म को माने सभी जीव,
रागद्वेषमोहकामक्रोधादि से हो मुक्त।
स्व पर विश्वहित हेतु सभी जीव हो प्रवृत्त,
इस हेतु 'सूरी कनकनन्दी' गुन्था यह काव्य।। (13)

ग.पु.कॉ. दि-20-8-2020 रात्रि 9.16 व प्रातः 8.04

संदर्भ-

पिछले 44 सालों में 60 प्रतिशत वन्य जीवों में कमी पाई गई है। हाल ही में

इस रिपोर्ट में आंकड़ें सामने आने के बाद पर्यावरणविदों ने चिंता जताई है। उनके मुताबिक आने वाले समय में मच्छरों की तादाद बढ़ सकती है। फल व सब्जियां की पैदावार भी कम होगी। लिविंग प्लैनेट रिपोर्ट 2018 के नाम से जारी रिपोर्ट में 1970 से 2014 से करीब चार हजार से ज्यादा प्रजातियों में शोध किया गया। इंडियन फॉरेस्ट सर्विस के अधिकारी संजीव चतुर्वेदी का कहना है कि इस रिपोर्ट में कीट-पंतगों के बारे में बात कही गई है। ये सबसे ज्यादा प्रभावित हुए हैं। इससे सबसे ज्यादा परागण (पॉलीनेशन) पर असर पड़ेगा। तितलियों, मधुमक्खियों, कीट पंतगों से परागण में सहूलियत होती है। इनकी कमी से फल-सब्जी के परागण में असर पड़ेगा। चीन में तो हालात ये हो गई कि लोग खुद पेड़ पर चढ़कर कणों को फेंककर परागण की क्रिया करवाते हैं। यही वजह है आने वाले समय में आम, सेब, संतरा फलों की पैदावार पर असर पड़ेगा। सब्जियों की पैदावार में भी कमी आएगी।

वही बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी के इकोलॉजिस्ट सेंटर मैनेजर सोहेल मदन ने बताया कि ड्रेगन फ्लाई की खासियत ये है कि जहां ये उड़ते है वहां मच्छर कम पनपते हैं। एक ड्रेगन फ्लाई दिन में दो सौ ज्यादा मच्छर खा सकता है। ड्रेगन फ्लाई का बच्चा दिन में ढाई मच्छरों के अंडों को खा जाता है। अब देश में इनकी तादाद 80% कम हो चुकी है। जहां ये रहेंगे वहां मच्छर कम होंगे।

संखावत्तयजोणी, कुम्मण्णयवंसपत्तजोणी य।
तत्थ य संखावत्ते, णियमा दु विवज्जदे गब्भो।। (81) गो.जी.

अर्थ-आकृति योनि के तीन भेद हैं। 1.शंखावर्त्त, 2.कूर्मोन्नत, 3.वंशपत्र। इनमें से शंखावर्त योनि में गर्भ नियम से वर्जित है।

भावार्थ-जिसके भीतर शंख के समान चक्कर पड़े हो उसको शंखावर्त योनि कहते हैं। जो-

सुद्ध-खरक-जल-ते-वा; णिच्चचदुग्गदिणिगोदथूलिदरा।
पदिट्ठिदरपंच पत्तिय, विलयति पुण्णा अपुण्णदुगा।। (1)
इगविगले इगिसीदी, असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणं।
गब्वभवे सम्मुच्छे दुतिगतिभोगथलखेचरे दो दो।। (2)

अज्जसमुच्छिगिगब्भे मलेच्छभोगतियकुणरछपणतीससये।
सुरणिरये दो दो इदि जीवसमासा, छहिय चारिसयं।। (3)

अर्थात्-शुद्ध पृथिवी, खरपृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद इनके बादर सूक्ष्म के भेद से 14 भेद, तृण वल्ली, गुल्म, वृक्ष और मूल इस तरह प्रत्येक वनस्पति के 5 भेदों के सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित के भेद से 10 भेद। विकलेन्द्रियों के द्वीन्द्रियादिक 3 भेद, इस तरह 27 भेदों का पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त गुणा करने पर 81 भेद।

कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यचों में गर्भजों के 12, सम्मूर्छनों के 18, उत्तम मध्यम, जघन्य भोग-भूमिजों के 12 इस तरह 42 भेद।

मनुष्यों में आर्यखण्डोद्भव सम्मूर्च्छन मनुष्य का 1 लब्ध्यपर्याप्तक भंग तथा कर्मभूमि का गर्भज और म्लेच्छ खण्ड; उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि एवं कुभोगभूमि के गर्भज मनुष्यों में प्रत्येक का एक 2 भेद।

देवों में भवनवासी 10, व्यन्तर 8, ज्योतिष्क 5, वैमानिक 63 और नारकियों के 49। इस तरह 141 के पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त की अपेक्षा 282 भेद हैं। इस तरह कुल मिलाकर 81+42+1+282=406 जीवसमास के भेद होते हैं।

कछुआ की पीठ की तरह उठी हुई हो उसको कूर्मोन्नत योनि कहते हैं। जो बाँस के पत्ते के समान लम्बी हो उसको वंशपत्र योनि कहते हैं। ये तीन तरह की आकार योनि है। इनमें से पहली शंखावर्त योनि में नियम से गर्भ नहीं रहता।

कुम्मुण्णजयजोणीये, तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य।
रामा वि य जांयते, सेसाए सेसगजणो दु।। (82)

अर्थ-कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री तथा बलभद्र तथा अपि शब्द की सामर्थ्य से अन्य भी महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं। तीसरी वंशपत्र योनि में साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं।

जन्म तथा उनकी आधारभूत गुणयोनि के भेद-

जम्मं खलु सम्मुच्छण, गब्भुववादा दु होदि तज्जोणी।
सच्चित्तसीदसंउडसेदर मिस्स य पत्तेयं।। (83)

अर्थ-जन्म तीन प्रकार का होता है, सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद। तथा सचित्त, शीत, संवृत्त, और इनसे उलटी अचित्त, उष्ण, विवृत तथा तीनों को मिश्र, इस तरह तीनों ही जन्मों की आधारभूत नौ गुणयोनि हैं। इनमें से यथासम्भव प्रत्येक योनि को सम्मूर्छनादि जन्म के साथ लगा लेना चाहिये।

भावार्थ-सामान्यता गुणयोनि के ये नौ भेद हैं। सचित्त, अचित्त, मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, मिश्र। और संवृत्त, विवृत, मिश्र।

आत्मप्रदेशों से युक्त पुद्गलपिंड को सचित्त और उनसे रहित पुद्गल को अचित्त कहते हैं। जन्म के आधारभूत स्थान के कुछ पुद्गल सचित्त और कुछ अचित्त हों तो उसको सचित्त अचित्त मिश्र योनि समझना चाहिये। शीत, उष्ण और उसकी मिश्र का अर्थ स्पष्ट है। संवृत का अर्थ ढका हुआ और विवृत का अर्थ खुला हुआ तथा कुछ ढका हुआ खुला हुआ हो तो उसकी संवृत विवृत को मिश्र समझना चाहिये।

किन जीवों के कौनसा जन्म होता है सो बताते हैं।

पोतजरायुजअंडज, जीवाणं गब्भ देवणिरयाणं।
उववाद सेसाणं, सम्मुच्छणयं तु णिद्दिट्ठ।। (84)

अर्थ-पोत आवरण रहित और उत्पन्न होते ही जिनमें चलने फिरने आदि की सामर्थ्य हो, जैसे सिंह, बिल्ली, हिरण आदि। जरायुज-जो जेर के साथ उत्पन्न होते हों। अण्डज-जो अण्डे से उत्पन्न हो। इन तीन प्रकार के जीवों का गर्भ जन्म ही होता है। देव नारकियों का उपपाद जन्म ही होता है, शेष जीवों का सम्मूर्छन जन्म ही होता है।

भावार्थ-आगम में इन तीन प्रकार के जन्म और उनके स्वामियों के सम्बन्ध में दो तरह से नियम बताया गया है। जीवप्रबोधिनी टीका में 'ऐषां जीवानां (जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ एव जन्म, चतुर्णिकायदेवानां नारकाणां च...उपपाद एवं जन्म, शेषाणां...सम्मूर्च्छनमेव जन्म।' इस तरह एकतरफा नियम बताया गया है। किन्तु मन्दप्रबोधिनी में 'तेषामेव गर्भः, तेषां गर्भ एवं' इस प्रकार तीनों का दुतर्फा नियम बताया है। सर्वार्थसिद्धि में भी दोनों तरफ से ही अवधारण किया गया है। राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और धवला में एकतरफा ही अवधारण बताया गया है।

(किस जन्म के साथ कौनसी योनि सम्भव)

उववादे अच्चित्त, गब्भे मिस्सं तु होदि सम्मुच्छे।

सच्चित्तं अच्चित्तं, मिस्सं च य होदि जोणी हु।। (85)

अर्थ-उपपाद जन्म की अचित्त ही योनि होती है। गर्भ जन्म की मिश्र योनि ही होती है। तथा सम्मूर्छन जन्म की सत्तिच, सचित्त, मिश्र तीनों तरह की योनि होती है।

उववादे सीदुसणं, सेसे सीदुसणमिस्स यं होदि।

उववादेयक्खेसु य, संउड वियलेसु विउलं तु।। (83)

अर्थ-उपपाद जन्म में शीत और उष्ण दो प्रकार की योनि होती है। शेष गर्भ और सम्मूर्छन जन्मों में शीत, उष्ण, मिश्र तीनों ही योनि होती है। उपपाद जन्म वालों की तथा एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत्त ही होती है। और विकलेन्द्रियों की विवृत ही होती है।

गब्भजजीवाणं पुण, मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु।

सम्ममुच्छणपंचक्खे, वियलं वा विउलजोणी हु।। (87)

अर्थ-गर्भज जीवों की योनि नियम से मिश्र-संवृत विवृत की अपेक्षा मिश्रित ही होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीवों की विकलेन्द्रियों की तरह निवृतयोनि ही होती है।

(उक्त गुणयोनि की उपसंसहारपूर्वक विशेष संख्या)

सामण्णेण य एवं, णव जोणीओ हवंति वित्थारे।

लक्खाणं चुदरसीदी, जोणीओ होंति णियमेण।। (88)

सामान्येन चैवं नव योनयो भवन्ति विस्तारे।

लक्षाणां चतुरशीतिः योनयो भवन्ति नियमेन।। (88)

अर्थ-पूर्वोक्त क्रमानुसार सामान्य से योनियों के नियम से नव ही भेद होते हैं। विस्तार की अपेक्षा इनके चौरासी लाख भेद होते हैं।

(योनिसम्बन्धी इस विस्तृत संख्या के सम्भव स्थानों को विशेषता)

णिच्चिदरधादुसत्त य, तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव।

सुरणिरयतिरियचउरो, चोद्दस मणुए सदसहस्सा।। (89)

अर्थ-नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनमें से प्रत्येक की सात सात लाख तरु अर्थात् प्रत्येक वनस्पति की दश लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय

इनमें से प्रत्येक के दो दो लाख अर्थात् विकलेन्द्रिय की सब मिलाकर छह लाख, देव, नारकी, तिर्यंच पंचेन्द्रिय प्रत्येक की चार चार लाख, मनुष्य की चौदह लाख, सब मिलाकर 84 लाख योनियाँ होती हैं।

उववादा सुरणिरया, गब्भजसम्मुच्छिमा हु णरतिरिया।
सम्मुच्छिमा मणुस्साऽपज्जत्ता एयवियलक्खा।। (90)

अर्थ-देवगति और नकरगति में उपपाद जन्म ही होता है। मनुष्य तथा तिर्यंचों में यथा सम्भव गर्भ और सम्मूर्छन दोनों ही प्रकार का जन्म होता है; किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य और एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियों का सम्मूर्छन जन्म ही होता है।

पंचक्खतिरिक्खाओ, गब्भजसम्मुच्छिमा तिरिक्खाणं।
भोगभुमा गब्भभवा, नरपुण्णा गब्भजा चेव।। (91)

अर्थ-कर्मभूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यंच गर्भज तथा सम्मूर्छन ही होते हैं। तिर्यंचों में जो भोगभूमिया तिर्यंच हैं वे गर्भज ही होते हैं और जो पर्याप्त मनुष्य हैं वे भी गर्भज ही होते हैं।

(लब्ध्यपर्याप्तकों की कहाँ कहाँ सम्भावना है और कहाँ नहीं)

उववादगब्भजेसु य लद्धिअपज्जत्तगा ण णियमेण।
णरसम्मुच्छिमजीवा, लद्धिअपज्जत्तगा चेव।। (92)

अर्थ-उपपाद और गर्भ जन्मवालों में नियम से लब्ध्यपर्याप्त नहीं होते। और सम्मूर्छन मनुष्य नियम से लब्ध्यपर्याप्त ही होते हैं।

भावार्थ-देव नारकी पर्याप्त निवृत्यपर्याप्त ही होते हैं। और चक्रवर्ती की रानी आदि को छोड़कर शेष आर्यखण्ड की स्त्रियों की योनि, काँख, स्तन, मूत्र, मल आदि में उत्पन्न होने वाले संमूर्छन मनुष्य लब्ध्यपर्याप्त ही होते हैं।

णेरइया खलु संढा, णरतिरिये तिण्णि होंति सम्मुच्छा।
संढा सुरभोगभुमा, पुरिसिच्छीवेदगा चेव।। (93)

अर्थ-नारकियों का द्रव्यवेद तथा भाववेद नपुंसक ही होता है। मनुष्य और तिर्यंचों के तीनों ही (स्त्री पुरुष नपुंसक) वेद होते हैं, सम्मूर्च्छन मनुष्य और तिर्यंच नपुंसक ही होते हैं। देव और भोगभूमियों के पुरुषवेद और स्त्रीवेद ही होता है।

भावार्थ-देव, नारकी, भोगभूमिया और सम्मूर्छन जीव इनका जो द्रव्यवेद होता है, वही भाववेद होता है, किन्तु शेष मनुष्य और तिर्यंचों में यह नियम नहीं है। उनके द्रव्यवेद और भाववेद में विपरीतता भी पाई जाती है। अंगोपांग नामकर्म के उदय से होने वाली शरीरगत चिह्न विशेष को द्रव्यवेद और मोहनीय कर्म की प्रकृति के उदय से होने वाले परिणाम विशेषों को भाववेद कहते हैं।

शरीरवगाहना की अपेक्षा जीवसमासों का निरूपण

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
अंगुलअसंखभागं, जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे।। (94)

अर्थ-उत्पन्न होने से तीसरे समय में, सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव की घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की जघन्य अवगाहना होती है और उत्कृष्ट अवगाहना मत्स्य के होती है। **भावार्थ**-ऋजुगति के द्वारा उत्पन्न होने वाले सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव की उत्पत्ति से तीसरे समय में शरीर की जघन्य अवगाहना होती है, और इसका प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। उत्कृष्ट अवगाहना स्वयम्भूरमण समुद्र के मध्य में होने वाले महामत्स्य की होती है। इसका प्रमाण हजार योजन लम्बा, पाँच सौ योजन चौड़ा, ढाई सौ योजन मोटा है। जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त एक एक प्रदेश की वृद्धि के क्रम से मध्यम अवगाहना के अनेक भेद होते हैं। अवगाहना के सम्पूर्ण विकल्प संख्यात घनांगुल प्रमाण असंख्यात होते हैं। ऋजुगति से उत्पन्न होने वाले की ही जघन्य अवगाहना होती है। यह कहने का कारण यह है कि विग्रहगति में उत्पन्न होने वाले के योगों में वृद्धि हुआ करती है और योगों की वृद्धि होने पर अवगाहना में भी वृद्धि हो जाने का प्रसंग आ जाता है।

उत्कृष्ट अवगाहना भी स्वयंभूरमण समुद्र के तटवर्ती मत्स्य में अथवा अन्यत्र पाये जाने वाले जीव में न रहकर स्वयंभूरमरण के मध्यवर्ती महामत्स्य में ही सम्भव है।

इन्द्रिय की अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण

साहियसहस्समेकं, बारं कोसूणमेकमेक्कं च।
जोयणसहस्सदीहं, पम्मे वियले महामच्छे।। (95)

अर्थ-पद्म (कमल), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, महामत्स्य इनके शरीर की अवगाहना क्रम से कुछ अधिक एक हजार योजन, बारह योजन, तीन कोश, एक

योजन, हजार योजन लम्बी समझनी चाहिये।

भावार्थ-एकेन्द्रियों में सबसे उत्कृष्ट कमल की कुछ अधिक एक हजार योजन, द्वीन्द्रियों में शंख की बारह योजन, त्रीन्द्रियों में ग्रैष्मी (चींटी) की तीन कोश, चतुरिन्द्रियों में भ्रमर की एक योजन, पंचेन्द्रियों में महामत्स्य की एक हजार योजन लम्बी शरीर की अवगाहना का प्रमाण है।

यहाँ पर महामत्स्य की एक हजार योजन की अवगाहना से जो पद्म की कुछ अधिक अवगाहना बतलाई है, और पूर्व में सर्वोत्कृष्ट अवगाहना बतलाई है, इससे पूर्वापर विरोध नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यहाँ पर केवल लम्बाई का वर्णन है, और पूर्व में जो सर्वोत्कृष्ट अवगाहना बताई थी वह घनक्षेत्रफल की अपेक्षा से थी। इसलिये पद्म की अपेक्षा मत्स्य के शरीर की अवगाहना ही उत्कृष्ट समझनी चाहिये; क्योंकि पद्म की अपेक्षा मत्स्य के शरीर की अवगाहना का क्षेत्रफल अधिक होता है।

पर्याप्तक द्वीन्द्रियादिकों की जघन्य अवगाहना का प्रमाण क्या है? और उनके धारक जीव कौन कौन हैं? यह बताते हैं।

वितिचपपुण्णजहण्णं, अणुंधरीकुंथुकाणमच्छोसु।
सिच्छयमच्छे विंदंगुलसंखं संखगुणिदकमा।। (96)

अर्थ- द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में अनुंधरी, कुन्थु, काणमक्षिका सिक्थक-मत्स्य के क्रम से जघन्य अवगाहना होती है। इसमें प्रथम की घनांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण है। और पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर की अवगाहना क्रम से संख्यातगुणी अधिक अधिक है।

भावार्थ-द्वीन्द्रियों में सबसे जघन्य अवगाहना अनुंधरी के पाई जाती है और उसका प्रमाण घनांगुल के संख्यातवें भागमात्र है। उससे संख्यातगुणी त्रीन्द्रियों की जघन्य अवगाहना है, यह कुंथु के पाई जाती है। इससे संख्यातगुणी चौइन्द्रियों में काणमक्षिका की, और इससे भी संख्यातगुणी पंचेन्द्रियों में सिक्थमत्स्य की जघन्य अवगाहना पाई जाती है। यहाँ पर आचार्यों ने द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय आदि न लिखकर ÷वि, ति, च, प,÷÷ ये शब्द जो लिखे हैं वे ''नाम का एकदेश भी सम्पूर्ण नाम का बोधक होता है''इस नियम के आश्रय से लाघव के लिए लिखे हैं। वह अवगाहना घनफलरूप है इनकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई का पृथक-पृथक् प्रमाण यहाँ नहीं बताया गया है।

पंचस्थावर व विकलत्रय जीव प्रति कृत अपराध का प्रायश्चित्त

पुढवीजलग्गिवाओ तेओवि वणफ्फदी य वियलतया।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (16) (कल्याणा.)
पद्य-पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-वनस्पति व विकलत्रय जीव प्रति।
जो-जो मुझसे हुई विराधना वे सब पाप मेरे हो मिथ्या।।

(इंसानों ने 48 साल में पशु-पक्षियों की 70% आबादी खत्म कर दी)

दुनिया पशु-पक्षियों को इंसानों से कितना खतरा है? इसका अंदाजा हाल ही में जारी वर्ल्डलाइफ फंड (डब्ल्यूडब्ल्यूएफ) की रिपोर्ट से लगाया जा सकता है। इसके मुताबिक इंसानों ने पिछले महज 48 साल में पशु-पक्षियों की करीब 60 फीसदी आबादी खत्म कर दी है। चार साल पहले तक यह आंकड़ा 52% था। इनमें कई स्तनधारी जीव, पक्षी, मछलियां और रेंगने वाले प्राणी शामिल है। रिपोर्ट के गंभीर चिंता जताते हुए कहा गया है कि वह धीरे-धीरे मानव सभ्यता के लिये खतरा बनता जा रहा है। रिपोर्ट को दुनिया भर के 59 वैज्ञानिकों मिलकर तैयार किया ने हैं। इसमें कहा गया है कि यह पता चलता है कि वैश्विक आबादी खाद्य और संसाधनों की विशाल और बढ़ती खपत के बीच अरबों वर्षों के निर्माण के बाद बने जीवन के चक्र या जाल को नष्ट कर रही है, जिस पर मानव समाज अंततः स्वच्छ हवा, पानी और अन्य सभी चीजों पर निर्भर करता है।

डब्ल्यूडब्ल्यएफमें विज्ञान और संरक्षण के कार्यकारी निदेशक माइक बैंरेट ने कहा हम धीरे-धीरे एक बड़ी चट्टान के किनारे की तरफ झुक रहे हैं और जल्द ही गिर पडेंगे। पशु-पक्षियों की आबादी में यह गिरावट उत्तरी अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका, यूरोप, चीन और ओशिनिया, को खाली करने के बराबर है और हमने यही किया है।' जूलॉजिकल सोसायटी ऑफ लंदन लिविंग प्लेनेट इंडेक्स जारी करता है। यह वन्य जीवन में गिरावट देखने के लिए 4,000 से अधिक प्रजातियों का अध्ययन करता है।

कई वैज्ञानिकों का मानना है कि दुनिया में पशु-पक्षियों ने बड़े पैमाने पर विलुप्त होना शुरू कर दिया है, जो कि मानव प्रजातियों के कारण होने वाला पहला बड़ा

नुकसान है। हाल ही में किए गए वैज्ञानिक विश्लेषणों से पता चलता है कि सभ्यता की शुरुआत से लेकर अब तक मानव जाति ने दुनियाभर में स्तनधारियों और पौधों की 83 फीसदी से ज्यादा आबादी को नष्ट कर दिया है। अगर इसे अभी से ठीक करना शुरू कर दें, तो भी इससे पूरी तरह संतुलित होने में 50 लाख से 70 लाख साल तक का वक्त लग जाएगा।

तो लुप्त हो जाएंगी कई प्रजातियां

मछली, सरीसृप, पक्षियों और स्तनधारी जीवों के लिए इंसान अब खतरा साबित हो रहा है। डब्ल्यूडब्ल्यूएफ की 'लिविंग प्लैनिट रिपोर्ट ऑफ द ग्लोबल फंड फॉर नेचर' के मुताबिक वर्ष 1970 से 2014 के बीच कशेरुकी प्राणियों की 60 फीसदी आबादी खत्म हो चुकी है। वर्ष 2010 तक ये आबादी 48 फीसदी बाकी थी। विशेषज्ञों ने 1970 से 2014 के बीच 4005 कशेरुकी प्राणियों की 16704 प्रजातियों की आबादी का विश्लेषण किया। इसके बाद चेतावनी दी है कि अगर इन्हें संरक्षित के लिए कारगर कदम नहीं उठाए गए तो जल्द ही ये विलुप्त हो जाएगी।

संसारी जीव के भेद-स्थावर एवं त्रस

पुढ़विजलतेयवाऊ वणफ्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिचदु पंचक्खा तसजीवा होंति संखादी।। (11) द्रं.सं.

The earth water, fire, air and plants are various kinds of Sthavara possessed one sence. The Trasa Jivas, conhes, etc are possessed of Two, three, four and five senses.

पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव है और ये सब एक स्पर्शन इंद्रिय के ही धारक है तथा शंख आदिक दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं।

गाथा नं 11 व 12 में संसारी जीवों का वर्णन है, इस गाथा में त्रस एवं स्थावर जीवों का संक्षिप्त वर्णन है। स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर जीव बनते हैं एवं त्रस नामकर्म के उदय से त्रस जीव बनते हैं। स्थावर जीव के समान्यतः 5 भेद हैं। यथा 1.पृथ्वीकायिक, 2.जलकायिक, 3.तेज 4.वायु, 5.वनस्पति ये पाँच प्रकार के

स्थावर हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर हैं।

आधुनिक विज्ञान में केवल वनस्पति को जीव सिद्ध किया परंतु पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक को जीव सिद्ध करने में असमर्थ हैं, क्योंकि इन जीवों का आकार अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण एवं उसके सूक्ष्म शरीर में होने वाली सूक्ष्म क्रियाओं के कारण वैज्ञानिक लोग इन्हें जीव सिद्ध करने में सक्षम नहीं हो पाये हैं। परंतु जैनधर्म केवली भगवान् द्वारा प्रतिपादित होने के कारण इसमें सूक्ष्म परमाणु से लेकर आकाश तक संपूर्ण द्रव्यों का एकेन्द्रिय से लेकर सिद्ध तक के जीवों का वर्णन है। इन पाँच स्थावर के विशेष शोध-बोध के लिए एवं आधुनिक शोध-बोध करने वाले विद्यार्थियों के मार्गदर्शन के लिए इसका विशेष वर्णन यहाँ कर रहा हूँ-

पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्ददेव ने कहा है-

पुढवी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवसंसिदा काया।
वेंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं।। (110)

पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजःकाय, वायुकाय और वनस्पितकाय ऐसे यह पुद्गल परिणाम बंधवशात् बंध के कारण जीव सहित हैं अवान्तर जातिरूप भेद करने पर वे अनेक होने पर भी सभी पुद्गल परिणाम, स्पर्शनेन्द्रियावरण के क्षयोपशम वाले जीवों को बहिरंग स्पर्शनेन्द्रिय की रचनाभूत हुए कर्मफल चेतना प्रधानपने के कारण अत्यंत मोह सहित ही स्पर्शोपलब्धि ज्ञान संप्राप्त कराते हैं।

70 अतिचार, सामायिक, क्षमाभाव में हुए दोषों का प्रायश्चित्त

मल सत्तरा जिणुत्ता वय विसये जा विराहणा विविहा।
सामइया खमइया खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (17) (कल्याणा.)
जिनेन्द्र उक्त सत्तर अतिचार व्रत विषय में उससे लगे जो दोष।
सामायिक व क्षमा भाव में जो हुए दोष वे सब हो मेरे दुष्कृत।।
शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टि प्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः।। (23)

There are 5 defects or partial transgressions अतिचार which should not be found in a man of right belief.

1. शंका Doubt, Scepticism

2. कांक्षा Desire of Sense pleasures

3. विचिकित्सा Disqust at anything e.g. with a stick or deformed

4. अन्यदृष्टिप्रशंसा Thinking admiringly of wrong believers

5. अन्यदृष्टिसंस्तव Praising wrong believers

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दृष्टि के पाँच अतिचार हैं-

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्वार्थ श्रद्धान से विचलित होना, अतिचरण होना अतिचार है। अतिचार और अतिक्रम ये एकार्थवाची है। ये शंकादि पाँच अतिचार सम्यग्दर्शन के हैं।

दर्शनविशुद्धि के प्रकरण में निःशंकित, निःकांक्षित आदि सम्यग्दर्शन के गुण कहे हैं। उनके प्रतिपक्षी शंका आदि पाँच अतिचार हैं। अर्थात् तत्त्व में शंका करना संसार के भोगों की वांछा करना, मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना, मिथ्यादृष्टियों की मन से प्रशंसा और वचन से संस्तुति करना।

प्रश्न-संस्तवन और प्रशंसा में क्या विशेषता है?

उत्तर-मन और वचन के विषयभेद से प्रशंसा और संस्तवन में भेद हैं। मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान-चारित्रादि गुणों का मन से अभिनंदन करता प्रशंसा है तथा वचनों से मिथ्यादृष्टियों के विद्यमान एवं अविद्यमान गुणों का उद्भावन-कथन करना संस्तवन है; यह इन दोनों में भेद है। यद्यपि सम्यग्दर्शन के अंग आठ बताये हैं और उनके प्रतिपक्षी दोष भी आठ हो सकते हैं, परन्तु इन पाँचों में ही सबका अंतर्भाव हो जाता है। पाँच व्रतों और सप्त शीलों के पाँच-पाँच अतिचार कहने की इच्छा वाले आचार्य ने 'प्रशंसा' और 'संस्तव' में शेष (वात्सल्य, प्रभावना और स्थितिकरण के विपरीत भाव) का अंतर्भाव होने से सम्यग्दर्शन के भी पाँच ही अतिचार कहे हैं, इसमें कोई दोष नहीं है। यद्यपि यहाँ पर अगारी का प्रकरण है और आगे भी अगारी का प्रकरण रहेगा तथापि इस सूत्र में अगारी-गृहस्थ सम्यग्दृष्टि के अतिचार नहीं बताये हैं क्योंकि यहाँ सम्यग्दृष्टि का ग्रहण उभय (गृहस्थ एवं मुनि) अर्थ के लिए है। अर्थात् पुनः सम्यग्दृष्टि पद का ग्रहण करने से सामान्य सम्यग्दृष्टि (चाहे मुनि हो, चाहे गृहस्थ) के ये अतिचार हैं।

5 व्रत और 7 शीलों के अतिचारों की व्याख्या

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्। (24)

There are 5 defects respectively in each of the 5 व्रत Vows and 7 शील Supplementary Vows-which should be avoided.

व्रतों और शीलों में पाँच-पाँच अतिचार हैं जो क्रम से इस प्रकार है-

अहिंसा आदि पाँच व्रत कहलाते हैं और दिग्विरति, देशव्रत, अनर्थदंड विरत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग ये सात शील कहलाते हैं। उन व्रतों और शीलों के पाँच-पाँच अतिचार होते हैं, व्रत का एकदेश भंग होना अतिचार है।

यद्यपि दिग्विरति आदि शील की अभिसंधि (संकल्प) पूर्वक निवृत्ति होने से व्रत ही है तथापि शील विशेष रूप से व्रतों के परिरक्षण के लिए होते हैं अतः 'शील' शब्द इस विशेष अर्थ का द्योतन करने के लिए है तथा शील के ग्रहण से दिग्विरति आदि का ग्रहण होता है अतः इनका पृथक् शील शब्द से निर्देश किया है।

सामर्थ्य से इसमें गृहस्थ के व्रतों का संप्रत्यय (ज्ञान) होता है। यद्यपि इस सूत्र में गृहस्थ और मुनि आदि विशेषण नहीं है तथा आगे कहे जाने वाले वध, बंधन छेद आदि वचन के सामर्थ्य से ज्ञात होता है कि ये अतिचार गृहस्थों के व्रतों के हैं। अतः आगे अतिचार के सामर्थ्य से यहाँ गृहस्थ के व्रतों का ग्रहण होता है क्योंकि 'बन्धवच्छेद'...ये गृहस्थों के ही व्रतों के अतिचार हो सकते है, अनगार (मुनि) के नहीं।

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।। (25)

बंध, वध, छेद, अतिचार का आरोपण और अन्नपान का निरोध ये अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

बंध-अभिमत (इच्छित) देश (स्थान) में जाने के निरोध का कारण बंध है अथवा इच्छित देश में जाने के उत्सुक के लिए उस गमन के प्रतिबंध के हेतु खूँटे आदि में रस्सी में इस प्रकार बाँध देना जिससे वह इष्ट देश में गमन न कर सके वह बंध कहलाता है।

वध-प्राणी-पीड़ा का कारण वध कहलाता है। डण्डा, कोड़ा बेंत आदि से पीटना वध है न हि प्राणीहत्या, क्योंकि प्राणीहत्या से विरक्ति तो व्रत धारण काल में ही हो चुकी है।

छेद-अंग का अपनयन करना छेद है। कर्ण, नासिका आदि अवयवों का छेदना करना-नाश करना छेद कहलाता है।

अतिभारारोपण-उचित भार से अधिक भार-लादना अतिभारारोपण है। अत्यन्त लोभ के कारण बैल, घोड़े आदि पर उचित भार से अधिक भार लादना अतिभारारोपण है।

अन्नपाननिरोध-भूख प्यास की बाधा देना अन्नपाननिरोध है। उन गाय, भैंस, बैल आदि के लिए किसी कारण से भूख-प्यास की बाधा पैदा करना, उन्हें समय पर चारा-पानी नहीं देना अन्नपाननिरोध है। ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेशरहोभ्यादयानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः। (26)

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्र भेद ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

मिथ्योपदेश-मिथ्या, अन्य प्रवर्तन या यथार्थ क्रियाओं का छिपाना मिथ्योपदेश है। अभ्युदय और निःश्रेय सार्थक क्रियाओं में अन्यथा प्रवृत्ति करा देना या उनके प्रति उलटी बात कहना मिथ्योपदेश कहलाता है।

रहोभ्याख्यान-संवृत्त (गुप्त) का प्रकाशन रहोभ्याख्यान है। स्त्री-पुरुषों के द्वारा एकांत में किये गये रहस्य (संकेत, बातचीत आदि) का उद्घाटन करना रहोभ्याख्यान है ऐसा जानना चाहिये।

कूटलेखक्रियाा-परप्रयोग से अनुक्त पद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया है। किसी के नहीं कहने पर भी किसी दूसरे की प्रेरणा से यह कहना कि 'उसने ऐसा कहा है या ऐसा अनुष्ठान किया है, इस प्रकार वचन के निमित्त (ठगने के लिए) लेख लिखना कूटलेखक्रिया है।

न्यासापहार-हिरण्य आदि निक्षेप से अल्पसंख्या का अनुज्ञा वचन न्यासापहार है। सुवर्ण आदि गहना रखने वाले द्वारा भूल से अल्पशः (कम) माँगने पर जानते

हुए भी 'जो तुम माँगते हो ले जाओ' इस प्रकार अनुज्ञा वचन कहना, उसका कम देना न्यासापहार नामक अतिचार कहलाता है।

साकारमन्त्रभेद-प्रयोजन आदि के द्वारा पर के गुप्त अभिप्राय का प्रकाशन साकारमन्त्रभेद है। प्रयोजन, प्रकरण, अंगविकार अथवा भूक्षेप आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोम्मान प्रतिरूपकव्यवहाराः।। (27)

स्तेनप्रयोग, स्तेनआहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

स्तेनप्रयोग-चोर और चौर्य कर्म में स्वयं प्रयुक्त करना, स्तेन प्रयोग है। अर्थात् चोरी करने वाले को स्वयं प्रयोग (उपाय) बतलाना व दूसरे के द्वारा उसको चोरी में प्रयुक्त-प्रवृत्त कराना और उस चोरी की वा चोर की मन से प्रशंसा करना, चोरी करना अच्छा मानना, ये सब स्तेनप्रयोग हैं, ऐसा जानना चाहिए।

तदाहृतादान-चोर के द्वारा लाये गये द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान है। अपने द्वारा जिसके उपाय नहीं बताये गये हैं और न जिसकी अनुमोदना ही की है ऐसे चोर के, चोरी करके लाए हुए द्रव्य को खरीदना तदाहृतादान है; ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न-तदाहृतादान में क्या दोष है?

उत्तर-चोरी का माल खरीदने (तदाहृतादान) से पर-पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसके विरुद्ध राज्यातिक्रम आदि भी जानना चाहिए। अर्थात् राज्य के विरुद्ध कार्य करने पर भी पर-पीड़ा राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होत हैं।

विरुद्धराज्यातिक्रम-उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना अतिक्रम है। उचित न्याय भाग से अधिक भाग दूसरे उपायों से ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। विरुद्धराज्य (राज्य के नियमों के विरुद्ध) राज्य परिवर्तन के समय अल्प मूल्य वाली वस्तुओं को अधिक मूल्य की बताना।

अर्थात् अल्प मूल्य प्राप्त वस्तु की महाकीमत में देने का प्रयत्न करना विरुद्धराज्यातिक्रम है।

प्रतिरूपक व्यवहार-कृत्रिम सुवर्ण आदि बनाना प्रतिरूपक व्यवहार है। कृत्रिम सुवर्ण आदि के द्वारा वंचनापूर्वक व्यवहार करना अर्थात् कृत्रिम वस्तुओं को असली वस्तु में मिलाकर दूसरों को ठगना प्रतिरूपक व्यवहार कहलाता है। ये अदत्तादान विरति के पाँच अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिका परिगृहीतापरिग्रहीतागमनानङ्गक्रीडा कामतीव्राभिनिवेशाः। (28)

परविवाहकरण, इत्वरिकापरिग्रहीतागमन, इत्वरिकाअपरिग्रहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1.परविवाहकरण-साता वेदनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कन्या के वरण को विवाह कहते हैं। दूसरे विवाह को परविवाह कहते हैं और पर के विवाह कराने को परविवाहकरण कहते हैं।

2.अपरिगृहीताइत्वरिका-अयनशील को इत्वरी कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त गान नृत्यादि कला और चारित्रमोह नामक स्त्री वेद के उदय से विशिष्ट अंगोपांग के लाभ से जो परपुरुषों को प्राप्त होती है, परपुरुषों को सेवन करती है; उनको अपने अधीन करती है, वह इत्वरी (व्यभिचारिणी स्त्री) कहलाती है और कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय करने से 'इत्वरिका' शब्द की निष्पत्ति होती है। अपरिग्रहीता और परिगृहीता के भेद से इत्वरिका दो प्रकार की है। जो वेश्या रूप से वा पुंश्चली रूप से परपुरुषों को सेवन करती है, जिसका कोई स्वामी नहीं है वह अपरिगृहीता इत्वरिका है।

3.परिगृहीता इत्वरिका-जो एक पुरुष के द्वारा परिणीत है अर्थात् जिसका एक स्वामी विद्यमान है, वह फिर भी परपुरुषरमणशील है, वह परगृहीता इत्वरि का है। इस प्रकार अपरिगृहीत इत्वरिकाओं से सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ आना-जाना अपरिगृहीता और परिगृहीत इत्वरिकाओं में सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ आना-जाना परिगृहीता इत्वरिकागमन अतिचार है।

4.अनङ्गक्रीडा–अनंगो से क्रीड़ा अनङ्गक्रीडा है। पुरुष का लिंग (प्रजनन) और स्त्री की योनि काम सेवन के अंग है। उन अंगों को छोड़कर अन्यत्र अंगों में क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है। अर्थात् कामसेवन के योनि आदि अंगों के सिवाय अन्य अंगों में अनेकविध लिंग और योनि के विकार से कामातिरेकवश क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है।

प्रश्न–दीक्षिता, अतिबाला, तिर्यंचिनी आदि का सेवन करना अतिचार है; उनका ग्रहण इसमें क्यों नहीं किया?

उत्तर–दीक्षिता, अतिबाला तथा पशु आदि में मैथुन प्रवृत्ति करना कामतीव्राभिनिवेश का फल है अतः कामतीव्राभिनिवेश के ग्रहण से इसकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि छोड़ने योग्य, दीक्षित; अतिबाला, तिर्यंचिनी आदि में मैथुन की वृत्ति कामतीव्राभिनिवेश से ही होती है।

प्रश्न–इन अतिचार रूप कार्य करने में क्या दोष है?

उत्तर–इन कार्यों के करने से राजभय, लोकापवाद, पापकर्मों का आगमन आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

परिग्रहपरिमाणणुव्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्य भाण्डप्रमाणातिक्रमाः। (29)

Transgressing the limit of field, houses, silver, gold. cattle, corn, female and male servants clothes pot.

क्षेत्र और वस्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दास और दासी के प्रमाण का अतिक्रम तथा कुप्य और भाण्ड के प्रमाण का अतिक्रम ये परिग्रहपरिमाण अणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1.क्षेत्र–चावल आदि धान्यों की उत्पत्ति का स्थान।

2.वास्तु–आगार, भवन, घर।

3.हिरण्य–चाँदी आदि का व्यवहार। रजत के व्यवहार तंत्र को हिरण्य कहते हैं अथवा सोने के सिक्के आदि को भी हिरण्य कहते हैं।

4.सुवर्ण–व्यवहार में आने वाला सोना प्रसिद्ध (ज्ञात) ही है।

5.धान्य–चावल, गेहूँ, मूँग, तिल आदि।

6-7 दासीदास-नौकर, स्त्री-पुरुष वर्ग।

8.कुप्य-कपास एवं कोसे आदि का वस्त्र और चन्दन आदि वस्तुएँ

9.धन-गाय, बैल, अश्व आदि चतुष्पदिपशु समूह।

10.भाण्ड-पीतल, सुवर्ण, स्टील, लोह इत्यादि निर्मित भाजन समूह।

तीव्र लोभ के वशीभूत होकर उनकी मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। 'मेरा इतना ही परिग्र है, इससे अधिक नहीं' इस प्रकार मर्यादित क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण आदि परिग्रह की अतिलोभ के कारण मर्यादा बढ़ा लेना, स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। ये परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं।

सापेक्ष दृष्टि से अशुभ-शुभ-शुद्ध ध्यान सहज-सरल

(अशुभ-शुभ-शुद्ध भाव व ध्यान कर्म सापेक्ष व कर्म निरपेक्ष भी)

(मोही के अशुभभाव-ध्यान सहज-सरल, निर्मोही के शुद्ध भाव सहज-सरल)

(सम्यक्दृष्टि से बाहरवें गुणस्थान तक शुभ भाव-शुभ ध्यान से ले वृद्धि क्रम से शुद्ध भाव व शुद्ध ध्यान संभव)

(चालः सुनो-सुनो ऐ दुनिया वालों...)

ध्यान! तू हो सहज-सरल व, दुरुह सापेक्ष दृष्टि से होए।
अशुभ-शुभ शुद्ध रूप से, परिणाम विशेष से होए।। (1)
अनादि से अन्त तक अभव्य जीवों को अशुभ रूप होय।
अनादि से अन्त तक सुदृष्टि जीवों को अशुभ रूप होय।।
अभव्य कभी सुदृष्टि न होते, अत्यन्त रागी-द्वेषी-मोही होने से।
इस के कारण अभव्य सदा, कुदृष्टि होने से अशुभध्यान करते।। (2)
रागद्वेषमोह जब उपशमादि होते, तब कुदृष्टि जीव सुदृष्टि होते।
तब से जीवों को शुभध्यान प्रारम्भ होने से कुध्यान अनादि से अंत तक होते।।
अशुभ ध्यान से आर्त-रौद्र ध्यान, जो दुःखप्रद व रौद्रपद।
इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तन, निदान रूप आर्तध्यान होय।। (3)

रौद्र ध्यान से हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द व परिग्रह संचय आनन्द।
इस प्रकार के अशुभध्यान कर्मज होने से सहज-सरल होय।।
मोहरागद्वेष के उपशमादि से, धर्मध्यान सहज-सरल होय।।
अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय, आज्ञा विचय (ध्यान) होय।। (4)
जितने अंश में रागद्वेषमोहादि का, उपशमादि अधिक से अधिक होय।
उतने अंशों में शुभध्यान भी सहज-सरल रूप अधिक से अधिक होय।।
शुभध्यान की वृद्धिक्रम से जब विभाव अभाव होते जाये।
उतने अंश में आत्मा के शुद्धभाव प्रगटे उतने अंश में शुद्धध्यान होये।। (5)
शुद्धध्यान जब होता प्रबल तब विभाव पूर्ण अभाव होये।
तब से शुद्धभाव की प्रगट रहता, सादि से अनन्त तक होये।।
शुद्धभाव परे अशुभ व शुभभाव व अशुभ-शुभध्यान न होये।
किन्तु शुद्धभाव होना दुरुह, अतः शुद्धध्यान भी दुरुह होये।। (6)
शुद्धभाव आत्म स्वभाव होने से शुद्धभाव सादि अनन्त होये।
अशुभभाव मोह जनित होने से भव्यों के अनादि से सान्त तक होये।।
मोही के अशुभ ध्यान होना सहज-सरल, निर्मोही के शुद्धध्यान सहज-सरल।
मोही के मोह जनित सहज-सरल तो निर्मोही के आत्मज सहज-सरल।। (7)
शुभभाव-शुभध्यान दोनों कर्मज, आत्म स्वभाव मिश्र से जायमान।
इसलिए दोनों सुदृष्टि से ले बारहवें गुणस्थान तक ही संभव।।
कर्म सापेक्ष-कर्म निरपेक्ष से होते तीनों भाव व तीनों ध्यान।
शुद्ध-ध्यान-शुद्धभाव हेतु शुभभाव व शुभध्यान करे 'कनक श्रमण' ।। (8)

ग.पु.कॉ. 19-8-2020 मध्याह्न-2.53

(यह कविता श्रीमती शर्मिला व टीना जैन के कारण बनी।)

अस्मिन्ननादिसंसारे दुरन्ते सारवर्जिते।
नरत्वमेव दुःप्राप्यं गुणोपेतं शरीरिभिः।।(1) ज्ञानार्णव

दुरन्त तथा सारवर्जित इस अनादि संसार में गुणसहित मनुष्यपन ही जीवों को दुष्प्राप्य है अर्थात् दुर्लभ है।

काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया।

तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्।।(2)

हे आत्मन्! यदि तूने यह मनुष्यपना काकतालीय न्याय से पाया है, तो तुझे अपने में ही अपने को निश्चय करके अपना कर्त्तव्य सफल करना चाहिए। इस मनुष्य जन्म के सिवाय अन्य किसी जन्म में अपने स्वरूप का निश्चय नहीं होता, इस कारण यह उपदेश है।

नृजन्मनः फलं कैश्चित्पुरुषार्थः प्रकीर्त्तितः।

धर्मादिकप्रभेदेन स पुनः स्याच्चतुर्विधः।।(3)

अनेक विद्वानों ने इस मनुष्य जन्म का फल पुरुषार्थ करना ही कहा है। और वह पुरुषार्थ धर्मादिक भेद से चार प्रकार का है।

धर्माश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः।

पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः।।(4)

प्राचीन महर्षियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चार प्रकार का पुरुषार्थ कहा है।

त्रिवर्ग तत्र सापायं जन्मजातङ्कदूषितम्।

ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने।।(5)

इन चारों पुरुषार्थों में से पहिले के तीन पुरुषार्थ नाशसहित और संसार के रोगों से दूषित हैं, ऐसा जानकर तत्वों के जाननेवाले ज्ञानीपुरुष अन्त के परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के साधन करने में ही यत्न करते हैं, क्योंकि मोक्ष नाशरहित अविनाशी है।

निःशेषकर्मसम्बन्धपरिविध्वंसलक्षणः।

जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तितः।।(6)

जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभागरूप समस्त कर्मों के संबंध के सर्वथा नाश रूप लक्षणवाला तथा संसार का प्रतिपक्षी है, वही मोक्ष है। यह व्यतिरेक प्रधानता से मोक्ष का स्वरूप है।

दृग्वीर्यादिगुणोपेतं जन्मक्लेशैः परिच्युतम्।

चिदानन्दमयं साक्षान्मोक्षमात्यन्तिकं विदुः।।(7)

दर्शन और वीर्यादि गुणसहित और संसार के क्लेशों से रहित, चिदानन्दमयी आत्यन्तिक अवस्था को साक्षात् मोक्ष कहते हैं। यह अन्वय प्रधानता से मोक्ष का स्वरूप कहा है।

सुख की प्रधानता से मोक्ष का स्वरूप

अत्यक्षं विषयातीतं निरौपम्यं स्वभावजम्।

अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपठ्यते।।(8)

जिसमें अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से अतिक्रान्त), विषयों से अतीत उपमारहित, और स्वाभाविक (अपने स्वभाव से ही उत्पन्न हो ऐसा) विच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो, वही मोक्ष कहा जाता है।

निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।

कृतार्थः साधुबोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिवम्।।(9)

जिसमें यह आत्मा निर्मल (द्रव्यकर्म-नोकर्मरहित), शरीररहित, क्षोभरहित, शान्तस्वरूप, निष्पन्न (सिद्धरूप), अत्यन्त अविनाशी, सुखरूप, कृतकृत्य (जिसको कुछ करना बाकी न हो ऐसा) तथा समीचीन सम्यग्ज्ञानस्वरूप हो जाता है, उस पद को (अवस्था को) शिव अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

तस्यानन्तप्रभावस्य कृते त्यक्त्वाखिलभ्रमाः।

तपश्चरन्त्यमी धीराः बन्धविध्वंसकारणम्।। (10)

धीरवीर पुरुष इस अनन्त प्रभाव वाले मोक्ष रूपी कार्य के निमित्त समस्त प्रकार के भ्रमों को छोड़कर कर्मबंध नष्ट करने के कारण रूप तप को अंगीकार करते हैं।

सांसारिक समस्त कार्य छोड़कर मुनिपद धारण करते हैं।

सम्यग्ज्ञानादिकं प्राहुर्जिना मुक्तेर्निबन्धनम्।

तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभिः स्फुटम्।।(11)

जिनेन्द्र भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मुक्ति का कारण कहते हैं, अतएव जो मुक्ति की इच्छा करते हैं वे इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही मोक्ष को प्रगटतया साधते हैं।

भावार्थ-जिस कार्य का जो कारण होता है, उसको अंगीकार करने से ही वह कार्य सिद्ध होता है।

अब कहते हैं कि, मोक्ष के साधन जो सम्यग्दर्शनादिक हैं, उनमें ही ध्यान गर्भित है इस कारण प्रगट करके ध्यान उपदेश देते हैं-

भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम्।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम्।।(12)

हे आत्मन्! तू संसार के दुःखविनाशार्थ ज्ञानरूपी सुधारस को पी और संसार रूप समुद्र के पार होने के लिए ध्यान रूपी जहाज का अवलम्बन कर। एकता का होना ध्यान है; अतः जब प्रथम ही ज्ञान को अंगीकार करेगा तब उससे एकाग्रता होने पर कर्मों को काटकर संसार का परित्याग करके मोक्ष को पावेगा।

मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः स्मृतः।
ध्यानसाध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः।।(13)

मोक्ष कर्मों के क्षय से ही होता है। कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान से होता है वह सम्यग्ज्ञान ध्यान से सिद्ध होता है अर्थात् ध्यान से ज्ञान की एकाग्रता होती है, इस कारण ध्यान ही आत्मा का हित है।

अपास्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः।
प्रशमैकपरैर्नित्यं ध्यानमेवावलम्बितम्।।(14)

आत्मा का हित ध्यान ही है। इस कारण जो कर्मों से मुक्त होने के इच्छुक मुनि हैं, उन्होंने प्रथम कषायों की मंदता के लिये तत्पर होकर कल्पना-समूहों का नाश करके नित्य ध्यान का ही अवलम्बन किया है। जब तक मुनि के चित्त की स्थिरता रहे, तब तक ध्यान करना ही प्रधान है। जब चित्त की स्थिरता नहीं रहती, तब वे शास्त्रविचारादि अन्य क्रियाओं में लगते हैं।

मोहं त्यज भज स्वास्थ्यं मुञ्च सङ्गान् स्थिरीभव।
यतस्ते ध्यानसामग्री सविकल्पा निगद्यते।।(15)

आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे आत्मन्! तू संसार के मोह को छोड़, स्वास्थ्य को भज और परिग्रहों को छोड़कर स्थिरीभूत हो। जिससे कि हम तेरे लिए ध्यान की सामग्री भेदों सहित कहें।

उत्तितीर्षर्महापङ्काज्जन्मसंज्ञाद्दुरुत्तरात्।
यदि किं न तदा धत्से धैर्यं ध्याने निरन्तरम्।।(16)

हे आत्मन्! यदि तू कष्ट से पार पाने योग्य संसार नामक महापंक (कीचड) से निकलने की इच्छा रखता है, तो ध्यान में निरन्तर धैर्य क्यों नहीं धारण करता?

भावार्थ-ध्यान में धैर्यावलंबन कर, क्योंकि संसार रूपी कर्दम से पार होने का कारण एकमात्र यही है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

चित्ते तब विवेकश्रीर्यद्यशङ्का स्थिरीभवेत्।
कीर्त्यते ते तदा ध्यानलक्षणं स्वान्तशुद्धिदम्।।(17)

हे भव्य! यदि तेरे चित्त में निःशङ्क विवेक रूप लक्ष्मी (सन्देहरहित) स्थिर होवे, तो तेरे मन को शुद्धता देने वाले ध्यान का लक्षण हम कहते हैं। जब चित्त को संदेहरहित स्थिर करके सुने, तब कहे हुए वचन का ग्रहण होता है अथवा उनकी प्रतीति होती है, इस कारण ऐसा कहा गया है।

इयं मोहमहानिद्रा जगत्त्रयविसर्पिणी।
यदि क्षीणा तदा क्षिप्रं पिब ध्यानसुधारसम्।।(18)

हे भव्य! तीन जगत् में फैलने वाली वह अज्ञान रूपी महानिद्रा यदि तेरे क्षीण हो गई हो-नष्ट हो गई हो, तो तू ध्यान रूप अमृतरस का तुरंत पान कर। क्योंकि सुषुप्त अवस्था में पीना नहीं हो सकता।

बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसङ्गमूर्च्छा क्षयं गता।
यदि तत्त्वोपदेशेन ध्याने चेतस्तदार्पय।।(19)

हे भव्य! यदि तेरे तत्त्वों के उपदेश से बाह्य और अभ्यंतर की समस्त मूर्च्छा (ममत्व परिणाम) नष्ट हो गई हो, तो तू अपने चित्त को ध्यान में ही लगा। **भावार्थ**-परिग्रह का ममत्व रहने से ध्यान में चित्त नहीं लग सकता, इस कारण ऐसा उपदेश किया गया है।

प्रमादविषयग्राहदन्तयन्त्राद्यदि च्युतः।
त्वं तदा क्लेशसङ्घातघातकं ध्यानमाश्रय।।(20)

हे भव्य! यदि तू प्रमाद और इन्द्रियों के विषय रूपी पिशाच जलजन्तुओं के दांत रूपी यन्त्र से छूट गया है, तो क्लेशों के समूह को घात तथा नष्ट करने वाले ध्यान का आश्रय कर। जब तक प्रमाद और इन्द्रियों के विषयों में चित्त की प्रवृत्ति रहती है, तब तक कोई ध्यान में नहीं लग सकता, इस कारण ऐसा उपदेश है।

इमेऽनन्तभ्रमासारप्रसरैकपरायणाः।

यदि रागादयः क्षीणस्तदा ध्यातुं विचेष्ट्यताम्।।(21)

हे भव्य! अनन्त भ्रम रूप निरन्तर वृष्टि के विस्तार करने में तत्पर ऐसे ये रागद्वेष मोहादिक भाव तेरे क्षीण हो गये हो, तो तुझे ध्यान की चेष्टा करनी चाहिए, क्योंकि रागादिक का विस्तार रहते ध्यान में प्रवर्त्तना नहीं हो सकती।

यदि संवेगनिर्वेदविवेकैर्वासितं मनः।

तदा धीर स्थिरीभूय स्वस्मिन् स्वान्तं निरूपय।।(22)

हे धीर पुरुष! यदि संवेग अर्थात् मोक्ष वा मोक्षमार्ग से अनुराग तथा निर्वेद अर्थात् संसार देह भोगों से वैराग्य और विवेक अर्थात् स्वपर का भेदविज्ञान इससे तेरा मन वासित है, तो तू स्थिर होकर आप में ही अपने मन को देख, कि कैसा है? संवेग, निर्वेद और भेदविज्ञान के बिना चित्त की वृत्ति पर में ही रहती है, अपने स्वरूप की ओर नहीं आती है।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।

निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा।।(23)

हे भव्य! यदि तू कामभोगों से विरक्त होकर तथा शरीर में स्पृहा को छोड़कर निर्ममता को प्राप्त हुआ है, तो ध्यान करने वाला ध्याता हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता; क्योंकि भोगों की इच्छा वा भोग-विलास करने में जब चित्त रहता है, तब ध्यान में चित्त कैसे लगे? तथा शरीर में अनुराग होता है, तो उसको सँवारने तथा पुष्ट करने में ही मन लगा रहता है, अथवा रोगादिक होने वा नाश होने का भय निरन्तर बना रहता है, तब ध्यान करने में चित्त कैसे लगे? इस कारण ध्याता को ध्यान करने का पात्र बनाने से ध्यान हो सकता है।

निर्विण्णोऽसि यदा भ्रातर्दुरन्ताज्जन्मसंक्रमात्।

तदा धीर परां ध्यानधुरां धैर्येण धारय।।(24)

हे धीर पुरुष! यदि तू दुरन्त संसार के भ्रमण से विरक्त है, तो उत्कृष्ट ध्यान की धुरा को धारण कर। क्योंकि संसार से विरक्त हुए विना ध्यान में चित्त नहीं ठहरता।

पुनात्याकर्णितं चेतो दत्ते शिवमनुष्ठितम्।

ध्यानतन्त्रमिदं धीर धन्ययोगीन्द्रगोचरम्।।(25)

हे धीर पुरुष! यह ध्यान का तंत्र (शास्त्र) सुनने से चित्त को पवित्र करता है, तीव्र रागादिक का अभाव करके चित्त को विशुद्ध करता है तथा आचरण किया हुआ शिव अर्थात् मोक्ष को देता है। योगीश्वरों का जाना हुआ है, इस कारण इसको तू आस्वाद धार वा सुन और ध्यान का आचरण कर।

विस्तरेणैव तुष्यन्ति केऽप्यहो विस्तरप्रियाः।

संक्षेपरुचयश्चान्ये विचित्राश्चित्तवृत्तयः।।(26)

आचार्य कहते हैं कि, अनेक पुरुष तो विस्तार से ही प्रसन्न होते हैं और अनेक संक्षेप से रुचि रखने वाले होते हैं। आश्चर्य है कि, चित्त की वृत्तियाँ भी विचित्र अर्थात् अनेक प्रकार की होती हैं।

जैसे वक्ता और श्रोता होते हैं, वैसा ही कहना और सुनना होता है, अतएव प्रथम ही प्रकरण में संक्षिप्त रुचि वाले श्रोताओं के लिए ध्यान का संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं।

संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात्।

त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा।।(27)

आत्मा का है निश्चय जिसमें ऐसे सूत्र से निरूपण करके कितने ही संक्षेप रुचि वालों ने तीन प्रकार का ही ध्यान माना है। क्योंकि जीव का आशय तीन प्रकार का ही है अर्थात् अध्यात्मशास्त्र की अपेक्षा आत्मा के उपयोग की प्रवृत्ति संक्षेप तीन प्रकार की ही मानी गई है।

तीन प्रकार के आशयों का व्याख्यान

तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशयः।

शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्त्तितः।।(28)

अर्थ-उन तीनों में प्रथम पुण्य रूप शुभ आशय है और उसका विपक्षी दूसरा पाप रूप अशुभ आशय और तीसरा शुद्धोपयोगनामा आशय है।

पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात्।

चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते।।(29)

पुण्य रूप आशय के वश से तथा शुद्ध लेश्या के अवलंबन से और वस्तु के यथार्थ स्वरूप के चिंतवन से उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त कहाता है।

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात्।

कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम्।।(30)

अर्थ-जीवों के पाप रूप आशय के वश से तथा मोह-मिथ्यात्व-कषाय और तत्वों के अयथार्थ रूप विभ्रम से अप्रशस्त अर्थात् असमीचीन ध्यान होता है।

क्षीणे रागादिसन्ताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि।

यः स्वरूपोपलम्भः स्यात्स शुद्धाख्यः प्रकीर्तितः।।(31)

रागादिक की सन्तान के क्षीण होने पर अन्तरंग आत्मा के प्रसन्न होने से जो अपने स्वरूप का उपलंभन अर्थात् प्राप्ति होती है, वह शुद्ध ध्यान है।

शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदशसंभवाम्।

निर्विशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम्।।(32)

मनुष्य शुभध्यान के फल से उत्पन्न हुई स्वर्ग की लक्ष्मी को स्वर्ग में भोगते हैं और क्रम से मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

दुर्ध्यानाद्दुर्गतेर्बीजं जायते कर्म देहिनाम्।

क्षीयते यन्न कष्टेन महतापि कथञ्चन।।(33)

दुर्ध्यान से जीवों की दुर्गति का कारणभूत अशुभ कर्म होता है, जो कि बड़े कष्ट से भी कभी क्षय नहीं होता।

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं स्वभावजमनश्वरम्।

फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम्।।(34)

जीवों के शुद्धोपयोग का फल समस्त दुःखों से रहित, स्वभाव से उत्पन्न और अविनाशी ज्ञान रूपी राज्य का पाना है। **भावार्थ**-शुद्धोपयोग से जीवों को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

इति संक्षेपतो ध्यानलक्षणं समुदाहृतम्।

बन्धमोक्षफलोपेतं संक्षेपरुचिरञ्जकम्।। (35)

इस प्रकार संक्षेप से संक्षेप रुचि पुरुषों को रंजन करने वाला बन्ध मोक्ष के फलसहित ध्यान का लक्षण कहा गया। **भावार्थ**-शुभ ध्यान से पुण्यबन्ध तथा अशुभ ध्यान से पापबन्ध होता है और शुद्ध ध्यान से पाप-पुण्यरूप बंधों का नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। अनेकों लाखों जन्मों में किये गये नाना प्रकार के उपवासादि तपों के

द्वारा जितनी संचित कर्मराशि जलाई जाती है, उतनी कर्मराशि अति निर्मलता पूर्वक किये गये ध्यान रूप हुताशन के द्वारा क्षणभर में जला दी जाती है।

निर्वाणहेतौ भवपातभीतैर्ध्याने प्रयत्नः परमो विधेयः।

यियासुभिर्मुक्तिपुरीमबाधामुपायहीना न हि साध्यसिद्धिः।। (101)

इसलिए जो संसार में पड़ने से भयभीत पुरुष हैं और बाधारहित मुक्तिपुरी को जाने के इच्छुक हैं, उन्हें निर्वाण के कारणभूत ध्यान में परम प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि उपाय के विना अभीष्ट साध्य की सिद्धि नहीं होती है।

देहात्मनोरात्मवता वियोगो मनः स्थिरीकृत्य तथा विचिन्त्यः।

हेतुर्भवानर्थपरम्परायाः स्वप्नेऽपि योगो न यथाऽस्ति भूयः।। (102)

आत्मज्ञानी पुरुष को मन स्थिर करके देह और आत्मा की विभिन्नता का इस प्रकार से चिन्तवन करना चाहिए, कि संसार के अनर्थों की परम्परा का कारणभूत इस देह का संयोग आगे फिर स्वप्न में भी कभी नहीं होवे।

निरस्तसर्वेन्द्रियकार्यजातो यो देहकार्यं न करोति किंचित्।

स्वात्मीयकायोद्यतचित्तवृत्तिः स ध्यानकार्यं विदधाति धन्यः।। (103)

जो पुरुष सर्व इन्द्रियों के विषयभूत कार्यसमूह को दूर करके देह के कुछ भी कार्य को नहीं करता है और अपने आत्मीय कार्य के करने में उद्यत चित्तवृत्ति होकर ध्यान के कार्य को करता है, वह पुरुष धन्य है।

यद्भ्रिंडमानं जगदन्तराले धर्त्तुं न शक्यं मनुजामरेन्द्रैः।

तन्मानसं यो विदधाति वश्यं ध्यानं स धीरो विदधात्यवश्यम्।। (104)

जगत् के अन्तराल में डोलता हुआ जो मन नरेन्द्र, देवेन्द्र और अहमिन्द्रों के द्वारा भी वश में करने के लिए शक्य नहीं है, उस मन को जो अपने वश में कर लेता है, वह धीर-वीर पुरुष अवश्य ध्यान को करने में समर्थ होता है।

बाणैः समं पंचभिरुवग्रवेगैर्विद्धस्त्रिलोकस्थितजीववर्गः।

न मन्मथस्तिष्ठति यस्य चित्ते विनिश्चलस्तिष्ठति तस्य योगः।। (105)

अपने उग्र पंच बाणों से जिस कामदेव ने त्रिलोक में स्थित समस्त प्राणिवर्ग को विद्ध कर रक्खा है, वह कामदेव जिनके मन में नहीं रहता है, उसका ध्यान रूप योग निश्चल रह सकता है।

न रोषो न तोषो न मोषो न दोषो न कामो न कम्पो न दामो न लोभः।
न मानो न माया न खेदो न मोहो यदीयेऽस्ति चित्ते तदीयेऽस्ति योगः।। (106)

जिसके चित्त में न द्वेष है, न राग है, न चोरी का भाव है, न माया है, न खेद है, और न मोह है, न कामभाव है, न कम्पन है, न दम्भ है, न लोभ है, न मान है, न माया है, न खेद है और न मोह है; उसी पुरुष के चित्त में ध्यान हो सकता है।

प्रवर्द्धमानोद्धतसेवनायां जीवस्य गुप्ताविव मन्यते यः।
शरीरकुट्यां वसतिं महात्मा हानाय तस्या यतते स शीघ्रम्।। (107)

जो महान् आत्मा दुःख रूप उद्धत परिणति से प्रवर्धमान इस शरीर रूपी कुटी में अवस्थित जीव को कारागार में निबद्ध पुरुष के समान मानता है, वही पुरुष उस शरीर रूप कुटी के विनाश के लिए शीघ्र प्रयत्न करता है।

समाधिविध्वंसविधौ पटिष्ठं न जातु लोकव्यवहारपाशम्।
करोति यो निस्पृहचित्तवृत्तिः प्रवर्तते ध्यानममुष्य शुद्धम्।। (108)

जो पुरुष समाधि के विध्वंस करने में अतिकुशल ऐसे लोक-व्यवहार रूप जाल को कभी भी नहीं करता है, और जिसकी चित्तवृत्ति सर्व सांसारिक कार्यों से निस्पृह है उसी पुरुष के निर्मल ध्यान होता है।

विधीयते ध्यानमवेक्षमाणैर्यद्भूतबोधरिह लोककार्यम्।
रौद्रं तदार्त्तं च वदन्ति सन्तः कर्मद्रुमच्छेदनबद्धकांक्षा।। (109)

जो बोध-रहित अज्ञानी पुरुष लौकिक कार्य की इच्छा रखते हुए ध्यान करते हैं, उसे कर्मरूप वृक्ष को छेदने में कमर बांधकर उद्यत सन्तजन रौद्र और आर्त्तध्यान कहते हैं।

सांसारिकं सौख्यमवाप्तुकामैर्ध्यानं विधेयं न विमोक्षकारि।
न कर्षणं सस्यविधायि लोके पलाललाभाय करोति कोऽपि।। (110)

मोक्ष के सुख को करने वाले ध्यान सांसारिक सुख के पाने की इच्छा से ज्ञानियों को नहीं करना चाहिए। क्योंकि लोक में धान्य को उत्पन्न करने वाला कृषि कार्य कोई भी भूसे के लाभ के लिए नहीं करता है।

अभ्यस्यमानं बहुधा स्थिरत्वं यथैति दुर्बोधमपीह शास्त्रम्।
नूनं तथा ध्यानमपीति मत्वा ध्यानं सदाऽभ्यस्यतु मोक्तु कामः।। (111)

जैसे अत्यन्त कठिन भी शास्त्र निरन्तर अनेक प्रकार से अभ्यास किये जाने पर स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार से ध्यान को भी मानकर मुक्ति पाने के इच्छुक पुरुष को निश्चय से ध्यान का सदा अभ्यास करना चाहिए।

अवाप्य मानुष्यामिदं सुदुर्लभं करोति यो ध्यानमनन्यमानसः।
भनक्ति संसारदुरंतपंजरं स्फुटं स सद्यो गुरुदुःखमन्दिरम्।। (112)

इस अति दुर्लभ मनुष्यभव को पा करके जो पुरुष एकाग्र चित्त होकर ध्यान को करता है, वह भारी दुखों के गृहरूप इस दुःखदायी संसार पिंजर को शीघ्र भेदता है।

यो जिनदृष्टं शमयमसहितं ध्यानमपाकृतसकलविकारः।
ध्यायति धन्यो मुनिजनमहितं चित्तनिवेशितपरमविचारः।। (113)

जो पुरुष सकल विकारों को दूर कर और चित्त में परम शुद्ध विचारों को अवस्थित कर जिनेन्द्रोपदिष्ट कषायों के निरोध रूप शमभाव से और पंच पापों के त्याग रूप संयमभाव से युक्त मुनिजन-पूजित ध्यान को ध्याता है वह पुरुष धन्य है।

नाकिनिकायस्तुतपदकमलोदीर्णदुरुत्तरभवभयदुःखाम्।
याति स भव्योऽमितगतिरघां मुक्तिमनश्वरनिरुपमसौख्याम्।। (114)

परम शुद्ध ध्यान को करने वाला ऐसा भव्य पुरुष अमितज्ञानी होकर और देव-समूह से पूजित चरण-कमल वाला बन कर दुरुत्तर भव-भय के दुःखों से रहित, निर्दोष, अविनश्वर, अनुपम सुख वाली मुक्ति को प्राप्त करता है।

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं मया प्रमादादिह किञ्चनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी सरस्वती केवलबोधलक्ष्मीम्।। (115)

इस ग्रन्थ में मैंने प्रमाद से यदि अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य से हीन कुछ भी कहा हो तो सरस्वती देवी उसके लिए मुझे क्षमा करके केवलज्ञान रूप लक्ष्मी को देवें।

संदर्भ-

क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की है तथा मन, वचन और काय के भेद से योग तीन प्रकार का है ऐसा जानो। **(वारसाणुपेक्खा)**

योग के शुभाशुभ भेद

असुहेदर भेदेण दु, एक्के क्कं वण्णिदं हवे दुविहं।

आहारादी सण्णा, असुहमणं इदी विजाणेहि।। (50)

प्रत्येक योग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का कहा गया है, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाएँ (इच्छाएँ) अशुभ मनोयोग हैं ऐसा जानो।

अशुभ भाव ही अशुभ मन है

किण्हादि तिण्ण लेस्सा, करणज सोक्खेसु-गिद्ध परिणामो।
ईसा विसाद भावो, असहु मणं त्तिय जिणा वेंति।। (51)

कृष्ण, नील और कपोत ये तीन लेश्याएँ, इन्द्रिय सुखों में तृष्णा रूप परिणाम, ईर्ष्या तथा विषाद (शोक) भाव अशुभ मनोयोग हैं ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं।

कषाय नोकषाय रूप परिणाम अशुभ मन है

रागो दोसो मोहो, हास्सादि-णोकसाय-परिणामो।
थूलो वा सुहुमो वा, असुहमणो त्तिय जिणावेंति।। (52)

राग, द्वेष, मोह और हास्यादि (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) नोकषाय रूप परिणाम चाहे वे स्थूल (तीव्र) हो अथवा सूक्ष्म (मन्द) हो। अशुभ मनोयोग है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं।

अशुभ वचन और अशुभ काय

भत्तित्थि राय चोर कहाओ, वयणं वियाण असुहमिदि।
बंधण छेदण मारण, किरिया सा असुह कायेत्ति।। (53)

भोजन कथा, स्त्री कथा, राज कथा और चोर कथा अशुभ वचनयोग हैं तथा बाँधने, छेदने और मारने आदि की क्रियाओं को करना अशुभ काययोग है ऐसा जानो।

व्रत समिति रूप शुभ परिणाम शुभ मन है

मोत्तूण असुहभावं पुव्वत्तं णिरवसेसदो दव्वं।
वदसमिदिसीलसंजम, परिणामं सुहमणं जाणे।। (54)

पूर्व में कहे हुए सर्व अशुभ भावों (राग द्वेषादि परिणाम) और द्रव्यों (धन-धान्यादि परिग्रह) को छोड़कर जो व्रत, समिति, शील और संयम रूप परिणमन होते हैं, उन्हें शुभ मनोयोग जानना चाहिए।

शुभ वचन और शुभ काय का कथन

संसारछेदकारण, वयणं सुह वयण मिदि जिणुद्दिट्ठं।
जिण देवादिसु पूया, सुह कायं त्ति य हवे चेट्ठा।। (55)

जो वचन जन्म-मरण रूप संसार का छेद (नाश) करने में कारण है उन वचनों को भगवान् जिनेन्द्र ने शुभ वचन कहा है तथा जिनदेव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरु की पूजा/भक्ति (शुभ प्रवृत्ति) करना शुभ काय अर्थात् शुभ काययोग है।

संसार परिभ्रमण कर्मास्रव के कारण

जम्मसमुद्दे बहुदोस, वीचिए दुक्ख जल चराकिण्णे।
जीवस्स परिब्भणं, कम्मासव कारणं होदि।। (56)

जिसमें क्षुधा-तृषादि अनेक दोष रूप तरंगे उठती हैं और जो दुःख रूप जलचरों से व्याप्त हैं, ऐसे जन्म रूप समुद्र में जीव का परिभ्रमण कर्मास्रव के कारण ही होता है।

ज्ञानपूर्वक क्रिया मोक्ष का कारण

कम्मासवेण जीवो, बूडदि संसारसायरे घोरे।
जं णाणवसं किरिया, मोक्ख णिमित्तं परंपरया।। (57)

कर्मास्रव के कारण ही संसार रूप भयानक सागर में डूब जाता है किन्तु जो क्रिया ज्ञानपूर्वक (संवरपूर्वक) होती है, वह परम्परा से मोक्ष का कारण होती है।

वर्तमान का संस्कार पर भव में

णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालिम्म।
कोहो माया माणोलोहुदओ अणियमो वापि।। (288)

नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, और देवगति में उत्पन्न हुए जीव के जन्म लेने के प्रथम समय में क्रम से क्रोध, मान, माया, और लोभ कषाय का उदय होता है, इस नियम का कथन कषाय प्राभृत द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ के व्याख्याता आचार्य यतिवृषभ के अभिप्राय को लेकर किया है। अथवा महाकर्म प्रकृति प्राभृत प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ के रचियता आचार्य भूतबली के अभिप्राय से अनियम जानना अर्थात् पूर्वोक्त नियम के बिना यथायोग्य कषाय का उदय होता है। 'अपि' शब्द समुच्चय के लिए है। इसलिए दोनों ही आचार्यों के अभिप्राय हमारे लिए विचारधीन है; दोनों में से

किसी एक को मान्य करने की शक्ति हमारे में नहीं है, क्योंकि इस भरत क्षेत्र में केवली, श्रुतकेवली का अभाव है। तथा आरातीय आचार्यों में दोनों सिद्धान्तों के रचयिताओं से अधिक ज्ञान नहीं है। यद्यपि विदेह में जाकर तीर्थंकर आदि के निकट में कोई आचार्य समस्त श्रुत के अर्थ के विषय में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को दूर करके वस्तु का निर्णय कर सकते है; तथापि सिद्धान्तद्वय के कर्त्ताओं में जो विवाद है उसके सम्बन्ध में 'यही ठीक है'; ऐसा कौन बुद्धिशील श्रद्धान करेगा। अतः दोनों मतों का कथन किया है।

अप्पपरोभयबाधणबधासजमणिमित्तकोहादी।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा।। (289)

अपने, दूसरे और दोनों के बन्धन, बाधा तथा असंयम में निमित्तभूत क्रोधादि कषाय और पुरुषवेद आदि नोकषाय जिन जीवों के नहीं है, वे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म मल से रहित सिद्धपरमेष्ठी अकषाय-कषाय रहित हैं; ऐसा जानना। यद्यपि उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती जीव भी अकषाय तथा यथायोग्य द्रव्यमल और भावमल से रहित होते हैं, तथापि उनके गुणस्थान प्ररूपणा से ही अकषायत्व की सिद्धि जानना। किसी जीव की क्रोधादि कषाय अपने ही बन्धन में हेतु होती है, अपने सिर फोड़ने आदि बाधा में हेतु होती है तथा हिंसा आदि के बन्धन, बाधा तथा असंयम में हेतु होती है। किसी कामी आदि जीव की क्रोधादि कषाय यथासम्भव अपने और दूसरों के बन्धन, बाधन और असंयम में हेतु होती है। इस प्रकार का विभाग लोकानुसार और आगमानुसार करना।

आत्मप्रेमी ही निर्वाण का पात्र

जोहउ मणु विसयहँ रमइ, तिमु जइ अप्प मुणेइ।
जोइउ भणइ हो जोइ यहु, लहु णिव्वाणु लभेइ।। (50) योग.

यथा मन विषयों में रमे, तथा यदि रमे-स्व आत्मा में।
हे योगी! मानो शीघ्र मोक्ष मिले, महायोगी ऐसा ही कहते।।
अनादिकाल से अनन्त भवों में, जीव किया भोगोपभोग बन्ध।
अतएव ये सभी सरल सहज है, आत्मा में रमण करना दुर्लभ।।

आत्म विश्वास ज्ञान चारित्र बल से, जब जीव आत्मा में रमण करे।
तब जीव मोक्ष को शीघ्र वरे, महायोगी सर्वज्ञ देव कहते।।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।। (4) समय.

इस समस्त जीवलोक को कामभोगसम्बन्धी कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यन्त विसंवाद करानेवाली है (आत्मा का अत्यन्त अनिष्ट करनेवाली है) तथापि अनन्त बार सुनने में आई है, अनन्त बार परिचय में आई है, और अनन्त अनुभव में भी आई है।

वह जीवलोक संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित है, निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनन्त परावर्तन के कारण भ्रमण को प्राप्त हुआ है, समस्त विश्व को एकछत्र राज्य के वश करने वाला महामोह रूपी भूत जिसके पास बल की भाँति भार वहन कराता है, जोर से प्रगट हुए तृष्णा रूपी रोग के दाह से अंतरंग में पीड़ा प्रगट हुई है, आकुलित हो होकर मृगजल की भांति विषयग्राम को (इन्द्रिय विषयों के समूह को) जिसने घेरा डाल रखा है, और वह परस्पर आचार्यत्व भी करता है (अर्थात् दूसरों से कहकर उसी प्रकार अंगीकार करवाता है।)

इसलिये कामभोग की कथा तो सबके लिये सुलभ है। किन्तु निर्मल भेदज्ञान रूपी प्रकाश से स्पष्ट भिन्न दिखाई देनेवाला यह मात्र भिन्न आत्मा एक एकत्व ही है- जो कि सदा प्रगट रूप से अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है, तथापि कषायचक्र (कषायसमूह) के साथ एकरूप जैसा किया जाता है, इसलिये अत्यन्त तिरोभाव को प्राप्त हुआ है (ढक रहा है) वह अपने में अनात्मज्ञता होने से (स्वयं आत्मा को न जानने से) और अन्य आत्मा को जानने वालों की संगति-सेवा न करने से, न तो पहले कभी सुना है, न परिचय में आया है और न कभी अनुभव में आया है, इसलिये भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है।

भावार्थः-इस लोक में समस्त जीव संसार रूपी चक्र पर चढ़कर पंच परावर्तन रूप भ्रमण करते हैं। वहाँ उन्हें मोहकर्मोदय रूपी पिशाच के द्वारा जीता जाता है, इसलिये वे विषयों की तृष्णा रूपी दाह से पीड़ित होते है; और उस दाह का इलाज (उपाय) इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जानकर उनकी ओर दौड़ते है; तथा

परस्पर भी विषयों का ही उपदेश करते हैं। इस प्रकार काम तथा भोग की कथा तो अनन्तबार सुनी, परिचय में प्राप्त की और उसी का अनुभव किया इसलिये वह सुलभ है। किन्तु सर्व परद्रव्यों से भिन्न एक चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने आत्मा की कथा का ज्ञान अपने को अपने से कभी नहीं हुआ, और जिन्हें वह ज्ञान हुआ है उनकी कभी सेवा नहीं की; इसलिये उसकी कथा न तो कभी सुनी, न परिचय किया और न अनुभव किया इसलिये उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं, दुर्लभ है।

वैभाविक चेतना की परतंत्रता

ज्ञान, कर्म एवं कर्मफल चेतना

परिणमदि चेदणाए, आदा पुण चेदणा तिथाभिमदा।
सा पुण णाणो कम्मे, फलाम्मि वा कम्मणो भणिदा।। (123)

हर एक आत्मा चेतना से परिणमन करता रहता है। अर्थात् जो कोई आत्मा का शुद्ध या अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतना को नहीं छोड़ता है वह चेतना जब ज्ञान को विषय करती है अर्थात् ज्ञान की परिणति में वर्तन करती है तब उसको ज्ञान चेतना कहते हैं।

जब वह चेतना किसी कर्म के करने में उपर्युक्त है तब उसे कर्म चेतना और जब वह कर्मों के फल की तरह परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफल चेतना कहते हैं। इस तरह चेतना तीन प्रकार की होती है।

अशुद्ध चेतना द्वेधा तद्यथा कर्म चेतना।
चेतनत्वाफलस्यास्य स्यातकर्मफल चेतना।। (195)

अशुद्ध चेतना दो प्रकार की है। एक कर्म चेतना, दूसरी कर्मफल चेतना। कर्मफल चेतना में फल भोगने की मुख्यता है। सामान्यतया जीव की जो अनुभूति, अनुभव, उपलब्धि, वेदना की शक्ति है उसे चेतना कहते हैं। यह चेतना कर्म से युक्त एवं कर्म से रहित होने के कारण विभिन्न रूप परिणमन कर लेती है। जिस प्रकार आकाश एक होते हुए भी लोकाकाश, अलोकाकाश, घटाकाश, पटाकाश आदि रूप में बाह्य निमित्त के कारण भेद पड़ जाता है उसी प्रकार चेतना भी अनेक रूप में परिणमन करती है।

परन्तु यहाँ मुख्यतः चेतना के तीन भेद किये हैं। (1) ज्ञान चेतना (2) कर्म चेतना (3) कर्मफल चेतना। मुख्य रूप से सिद्ध भगवान् शुद्ध ज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण स्थावर जीव अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव कर्मफल चेतना का अनुभव करते हैं। द्वीन्द्रियादि त्रस जीव कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना का अनुभव करते हैं। कुन्दकुन्द देव ने पंचास्तिकाय में कहा भी है-

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण।। (38)

कोई चेतयिता अर्थात् आत्मा तो जो अति प्रकष्ट मोह से मलिन है और जिसका प्रभाव (शक्ति) अति प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुंद गया है ऐसे चेतक स्वभाव द्वारा सुख-दुःख रूप कर्मफल को ही प्रधानतः चेतते हैं क्योंकि उनका अति प्रकष्ट वीर्यान्तराय से कार्य करने का (कर्म चेतना) रूप परिणमित होने का सामर्थ्य नष्ट हो गया है। अन्य चेतयिता अर्थात् आत्मा, जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन है और जिसका प्रभाव प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुंद गया है ऐसे चेतक स्वभाव द्वारा भले ही सुख-दुःख रूप कर्मफल के अनुभव से मिश्रित रूप से भी-कार्य कर्म चेतना को ही प्रधानतः चेतते हैं क्योंकि उन्होंने अल्पवीर्यान्तराय के क्षयोपशम से कार्य करने का सामर्थ्य प्राप्त किया है।

अन्य चेतयिता अर्थात् आत्मा जो समस्त वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्त वीर्य को प्राप्त है। सकल मोहकलंक धुल जाने के तथा समस्त ज्ञानावरण के विनाश के कारण समस्त प्रभाव अत्यन्त विकसित हो जाने से चेतक स्वभाव के द्वारा कर्मफल निर्जरित हो जाने के और अत्यन्त कृतकृत्यपना हो जाने के कारण अपने से अभिन्न स्वाभाविक सुख रूप ज्ञान को ही चेतते हैं (अनुभव करते हैं।)

निर्मल शुद्ध आत्मा की अनुभूति को न पाकर अशुद्ध भावों से बांधा जो गाढ़ मोहनीय कर्म उसके उदय प्राप्त जो अत्यन्त मलिन चेतना उसी से जिनके आत्मा की शक्ति ढक रही है ऐसा एक जीव समुदाय कर्मों के फलों को ही अनुभव करता है। दूसरी एक जीवराशि उसी ही मलिन चेतना से कुछ शक्ति को पाकर इच्छा पूर्वक इष्ट या अनिष्ट के भेद रूप कर्म या कार्य का अनुभव करती है तथा एक जीव समुदाय

विशुद्ध शुद्धात्मा की अनुभूति रूप भावना से कर्म कलंक को नाश करते हुए अपने चेतना के भाव से केवलज्ञान को अनुभव करता है। इस तरह यह चेतना तीन प्रकार की है-(1) कर्मफल चेतना (2) कर्मचेतना (3) ज्ञान चेतना।

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कतां णाणं विन्दन्ति ते जीवा।। (39)

चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध कराता है और वेदता है-ये एकार्थ हैं क्योंकि चेतना, अनुभूति उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है। वहाँ स्थावर कर्मफल को चेतते है, त्रस काय कर्म चेतना को चेतते है, केवलज्ञानी ज्ञान को चेतते हैं।

सर्व ही प्रसिद्ध पृथ्वीकायिक, अपकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावर एकेन्द्रिय जीव अप्रगट सुख-दुःख का अनुभव रूप शुभ या अशुभ कर्म के फल को अनुभव करते हैं और द्वीन्द्रियादि त्रस जीव निर्विकार पर आनन्दमयी एक स्वभावधारी आत्मा के सुख को नहीं अनुभव करते हुए उस कर्म फल को भी अनुभव करते हैं। साथ में विशेष राग द्वेष रूप कार्य की चेतना भी रखते हैं तथा जो जीव विशेष शुद्धात्मानुभव की भावना से उत्पन्न जो परमानन्दमयी एक सुखामृत रूप समरसी भाव उसके बल से इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छवास इन दश प्राणों का उल्लंघन कर गये हैं; ऐसे सिद्ध परमात्मा सो मात्र केवलज्ञान को अनुभव करते हैं।

स्थावरकाय जीव की चेतना शक्ति अल्प विकसित होने के कारण, वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम कम होने के कारण शक्ति की कमी होने से, ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्रोदय होने के कारण ज्ञान कम होने से तथा स्पर्शन इन्द्रिय होने से वे पूर्वोपार्जित कर्म को केवल विवश होकर भोगने के लिए बाध्य होते हैं। इसलिए स्थावर जीव बाह्य सुख-दुःख से, प्रतिकूल वातावरण से स्वयं को बचाने के लिए अधिक सक्रिय नहीं हो पाता है। इसलिए इनमें केवल पूर्वोपार्जित कर्म को भोगने रूप प्रधानतः (मुख्यतः) कर्मफल चेतना है। अमृतचन्द्र सूरी ने पंचास्तिकाय की 38 नम्बर गाथा की टीका में जो स्थावर जीवों के सुख दुःख रूप कर्मफलमेव प्रधान्येनं चेतयते यह विशेषण दिया है। वह विचारणीय है। भले स्थावर जीव शक्ति की कमी से सुख दुःख

को विवश होकर भोगता है तथापि कुछ प्रतिक्रिया भी करता है।

जैसे जिधर पानी होता है उधर वृक्ष की जड़ फैलती है, जिधर प्रकाश होता है उधर वृक्ष की शाखाऐं बढ़ती हैं। लाजवन्ती को छूने पर लाजवन्ती मुरझा जाता है। योग्य जलवायु से वृक्ष पल्लवित होता है और विपरीत वातावरण से वृक्ष मुरझा जाता है। मौलश्री वृक्ष सुन्दर स्त्री को देखकर काम चेतना से युक्त हो जाता है। अभी वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि कोई वृक्ष को मारने के लिए जाता है वह भयभीत हो जाता है, पत्ते कान्ति रहित हो मुरझाने लगते हैं और यदि कोई पानी देने जाता है तो वृक्ष प्रसन्न हो जाते हैं। संगीत सुनने पर वृक्ष अधिक पुष्प-फलादि देते हैं और प्रदूषित वातावरण में वृक्ष कम विकसित होते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थावर जीवों में भी कुछ प्रतिक्रियायें होती हैं। इसलिए स्थावर जीव में मुख्यतः कर्मफल चेतना होते हुऐ भी गौणरूप से कर्म चेतना भी है।

त्रस जीवों के वीर्यान्तराय कर्म के कुछ क्षयोपशम से स्थावर जीव की अपेक्षा कुछ शक्ति अधिक होने से इनके कर्मफल चेतना के साथ-साथ कर्म चेतना भी पाया जाती है। इसलिये त्रस जीव में स्थावर जीव की अपेक्षा सक्रियता कुछ अधिक है।

त्रसनामकर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय के कुछ क्षयोपशम से स्थावर जीवों से इनमें कुछ अधिक ज्ञान रहता है। आत्मरक्षा के लिये इधर-उधर भाग सकते हैं इसलिये ये कर्मफल चेतना (अनुभव) के साथ-साथ कर्म चेतना से भी युक्त होते है।

जिन्होंने समस्त वीर्यान्तरायकर्म के क्षय से अनन्तवीर्य को प्राप्त कर लिया है तथा समस्त ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्म एवं अघाती कर्म के क्षय से सिद्ध भगवान् बन गये हैं ऐसे जीव ज्ञान चेतना का वेदन करते हैं।

पंचास्तिकाय की 38 न. गाथा में जो पाणितमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा का अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन स्वामी ने कहा है **''दशविध प्राणत्वमतिक्रांता णाणं विदन्ति ते जीवा''** अर्थात् जो पाँच इन्द्रिय, तीनबल, आयु, श्वासोच्छवास प्राण को अतिक्रांत (उल्लघंन) कर गये हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा केवलज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं। पंचाध्यायी में सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञान चेतना का स्वामी कहा गया है।

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम्।

सचेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञान चेतना।। (196)

यहाँ पर ज्ञान शब्द से आत्मा समझना चाहिए। क्योंकि आत्मा ज्ञान रूप ही स्वयं है। वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जानी जावे उसी का नाम ज्ञान चेतना है।

अथाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा।

आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञान चेतना।। (197)

अर्थात् जिस समय आत्मा का ज्ञानगुण सम्यक् अवस्था को प्राप्त हो जाता है, केवल शुद्धात्मा का अनुभव करता है उसी समय उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः।

न स्यामिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तद्सम्भवात्।। (198)

वह ज्ञान चेतना निश्चय से सम्यग्दृष्टि के ही होती है। मिथ्यादृष्टि के कही भी नहीं हो सकती, क्योंकि मिथ्यादर्शन के होने पर उसका होना असम्भव ही है।

अस्ति चैकादशांगानां ज्ञानं मिथ्यादृशोऽपि यत्।

नात्मोलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम्।। (199)

मिथ्यादृष्टि को ग्यारह अंग तक का ज्ञान हो जाता है, परन्तु आत्मा का शुद्ध अनुभव उसको नहीं होता है। यह केवल मिथ्यादर्शन के उदय का ही महात्म्य है।

तीनों चेतना का लक्षण एवं फल

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।

तमणेगविदं भणिदं फलं त्ति सोक्खं व दुक्खं वा।। (124)

ज्ञान को अर्थ का विकल्प कहते हैं-जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और पर के आकार को झलकाने वाला दर्पण के समान स्व-पर पदार्थों को जानने में समर्थ है। वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनन्त ज्ञान सुखादि रूप मैं परमात्मा पदार्थ हूँ तथा रागादि आस्रव को आदि लेकर सर्व पुद्गलादि द्रव्य मुझ से भिन्न हैं। इसी अर्थ विकल्प को ज्ञान चेतना कहते हैं। इस जीव ने अपनी बुद्धिपूर्वक मन-वचन-काय के व्यापार रूप से जो कुछ करना प्रारम्भ किया हो उसको कर्म कहते हैं। यही कर्म चेतना है। सो कर्म चेतना शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार की कही गई है।

सुख तथा दुःख को कर्म का फल कहते हैं इसको अनुभव करना सो कर्म फल चेतना है। विषयानुराग रूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल अति आकुलता को पैदा करने वाला नारक आदि का दुःख है। धर्मानुराग रूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है इसका फल चक्रवर्ती आदि के पंचेन्द्रियों के भोगों का भोगना है। यद्यपि इसको अशुद्ध निश्चय नय से सुख कहते हैं। तथापि यह आकुलता को उत्पन्न करने वाला होने से शुद्ध निश्चय नय से दुःख ही है और जो रागादि रहित शुद्धोपयोग में परिणमन रूप कर्म है उसका फल अनाकुलता को पैदा करने वाला परमानंदमई एक रूप सुखामृत का स्वाद है।

समीक्षा–इस गाथा में आचार्यश्री ने तीनों चेतना की परिभाषा दी है। पूर्व गाथा में सामान्य रूप से चेतना का वर्णन किया था। मतिज्ञानादि आठ प्रकार के ज्ञान या पदार्थ को जानने में जो विकल्प रूप ज्ञान है, उसको ज्ञान चेतना कहते हैं। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से भेद विज्ञान को ज्ञान चेतना कहते हैं। बुद्धि पूर्वक मन, वचन, काय से जो जीव करता है या उसे कर्म या कर्म चेतना कहते हैं। यह कर्म चेतना-अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार की हैं। अशुभ भाव सहित जो उपयोग है उसको अशुभोपयोग कहते हैं। शुभभाव से युक्त शुभोपयोग है और शुद्ध भाव से युक्त शुद्धोपयोग है। पूर्वोपार्जित पुण्य या पाप के कारण सुख तथा दुःख प्राप्त होता है। अशुभोपयोग से केवल दुःख ही दुःख मिलता है और शुभोपयोग से इन्द्रिय जनित सांसारिक सुख मिलता है तथापि आध्यात्मिक दृष्टि से वह इन्द्रिय जनित सुख दुःख स्वरूप हैं क्योंकि यह इन्द्रिय जनित सुख कर्मोदय से प्राप्त होने के कारण, भोग करते समय-आसक्ति व अतृप्ति के कारण नवीन कर्म बन्ध में कारण होने से (इन्द्रिय जनित सुख-) दुःख रूप ही है। पंचाध्यायी में कहा भी है-

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम्।
स धर्मो यत्र ना धर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभम्।। (244)

शंकाकार का उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिसको वह सुख-समझता वह सुख नहीं है। वास्तव में सुख वही है जहाँ पर कभी थोड़ा भी दुःख-नहीं है, वही धर्म है जहाँ पर अधर्म का लेश नहीं है और वही शुभ है जहाँ पर अशुभ नहीं है।

इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधा पुरस्सरम्।

व्युच्छिन्नं बंध हेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः।। (245)

यह इन्द्रियों से होने वाला सुख पराधीन है, कर्म के परतंत्र है, बाधा पूर्वक है। इसमें अनेक विघ्न आते हैं, बीच-बीच में इसमें दुःख होता जाता है, यह दुःख बंध का कारण है तथा विषम है। वास्तव में इन्द्रियों से होने वाला सुख-दुःख रूप ही है। इसी बात को दूसरे ग्रन्थकार भी कहते हैं।

सपरं बाधा सहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विषमं।

जं इंदिए हि लद्धं तं सुक्खं दुःखमेव तहा।।

जो सुख इन्द्रियों से मिलता है वह अपने शरीर और पर को बाधा-पहुँचाने वाला है। हमेशा ठहरता भी नहीं है, बीच-बीच में नष्ट हो जाता है, बंध का कारण है और विषम है इसलिए वह दुःख ही है।

संज्ञा की परतंत्रता

संज्ञा का लक्षण व भेद

इह जाहि वाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।

सेवंतावि य उभये ताओ चत्तारि सण्णओ।। (134)

जिनसे बाधित होकर जीव इस लोक में दारुण दुःख प्राप्त करते हैं और जिनका सेवन करने पर भी जीव दोनों ही भवों में दारुण दुःख को प्राप्त होते हैं वे चार संज्ञाएँ हैं। आहारादि की वांछा से बाधित होकर, संक्लेशित होकर, पीड़ित होकर जीव इस भव में दारुण अर्थात् तीव्र दुःख पाता है। वांछित पदार्थ का सेवन करने से जीव इस भव में और परभव में अर्थात् दोनों भवों में तीव्र दुःखों को प्राप्त होता है। वे संज्ञाए (वांछाएँ) चार हैं-आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। यहाँ वांछा को संज्ञा कहा गया है। वांछा ही इस लोक और परलोक से महान् दुःख का कारण है।

भव्यत्वं च मनुष्यत्वं सुभूजन्मकुलस्थितिः।

क्रमात्ते दुर्लभं चात्मन् समवायस्तु दुर्लभः।।

समवायोऽपि ते व्यर्थो न चेद्धर्मे मतिः परा।

किं केदाराधिगुण्येन कणिशोद्गमता न चेत्।।

पुनस्तु दुर्लभो धर्मः श्राद्धानां योगिनां पुनः।
लब्धे योगीन्द्रधर्मेऽपि दुर्लभ स्वात्मबोधनम्।।
स्वात्मबोधिः कदाचिच्चेल्लब्धा योगीन्द्रगोचरा।
चिन्तनीया भृशं नष्टा वित्तमर्षणवत्सदा।।
नात्मलाभात्परं ज्ञानं नात्मलाभात्परं सुखम्।
नात्मलाभात्परं ध्यानं नात्मलाभात्परं पदम्।।
लब्ध्वात्मबोधनं धीमान्मतिं नान्यत्र संभजेत्।
प्राप्य चिन्तामणिं काचे को रतिं कुरुते पुमान्।।

हे आत्मन् भव्यत्व-रत्नत्रय प्राप्ति की योग्यता, मनुष्यपना, उत्तम क्षेत्र में-आर्यखण्ड में जन्म, उत्तम कुल में पैदा होना, ये बातें क्रम से दुर्लभ हैं। फिर समवाय-इन भव्यत्वादिकों का समूह तो दुर्लभ है ही। हे आत्मन्, यदि तुझे धर्म में बुद्धि प्राप्त नहीं होगी, तो इनका समवाय समुदाय का पाना व्यर्थ होगा। यदि धान्य की उत्पत्ति न होगी तो खेत के उत्तम गुणों का क्या उपयोग है? श्रावकों का धर्म दुर्लभ है उससे भी योगियों का धर्म पुनः अधिक दुर्लभ है। मुनीश्वर का धर्म प्राप्त होने पर भी अपने स्वरूप का ज्ञान होना दुर्लभ है। योगीन्द्रों को जिसका अनुभव आता है ऐसी आत्मबोधि (आत्मलाभ) कदाचित् प्राप्त हुई तो उसका पुनः पुनः अतिशय चिन्तन, मनन, निदिध्यास करना चाहिये।

जैसे कोई धनिक धन नष्ट नहीं होवे इस हेतु से उसका रक्षण, अर्जन और संवर्धन करता है। आत्मलाभ से दूसरा ज्ञान नहीं है, यही श्रेष्ठ ज्ञान है। आत्मलाभ से दूसरा सुख नहीं है, यही सर्वश्रेष्ठ सुख है। आत्मलाभ से दूसरा ध्यान नहीं है, यही सर्वश्रेष्ठ ध्यान और आत्मलाभ से दूसरा पद नहीं है अर्थात् यही सर्वश्रेष्ठ पद है। आत्मबोध होने पर बुद्धिमान् अपनी मति अन्य वस्तु में नहीं लगावें। चिन्तामणि प्राप्त होने पर कौन मनुष्य काच में प्रेम करेगा।

धर्मस्तु दशधा प्रोक्तो दुर्लभो योगिगोचरः।
त्रयोदशसुवृत्ताख्यः स्याद्धर्मो मुक्तिदायकः।।
संसाराशर्मतो यस्तु समुद्धत्य शिवे पदे।

नरं धत्ते सुधाधाम्नि स धर्मः परमो मतः।।
मोहोद्भूतविकल्पेन त्यक्ता वागङ्गचेष्टितैः।
शुद्धचिद्रूपसद्बुद्धिर्गीयते धर्मसंज्ञया।।
धर्मः पुंसो विशुद्धिः स्यात्स मुक्तिपददायकः।
शुद्धिं विना न जीवानां हेयापादेयवेत्तृत्ता।।
स्वात्मध्यानं परं धर्मः स्वात्मध्यानं परं तपः।
स्वात्मध्यानं परं ज्ञानं स्वात्मध्यानं परं सुखम्।।
स्वात्मज्ञानं न लभ्येत स्वात्मरूपं न दृश्यते।
अतः सर्वे परित्यज्यात्मन्स्वरूपे स्थिरीभव।।

जिनधर्म की सदा उपासना करना चाहिये। इसके प्रभाव कुत्ता भी देवता होता है। मनुष्य इस धर्म के सेवन से सर्व जगत् का नाथ अर्थात् जिनेश्वर तीर्थंकर होता है। मुनियों को विषयभूत-मुनियों को आचरण योग्य धर्म क्षमादिरूप है। उसके क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ऐसे दस भेद हैं। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति इसको चारित्रधर्म कहते हैं, यह मुक्ति का दाता है।

संसार दुःख से छुड़ाकर जो मनुष्य को उत्तमसुख के स्थान-मोक्ष में स्थापन करता है, अमृतधाम में स्थापन करता है वह उत्कृष्ट धर्म माना है। मोह से उत्पन्न हुए रागद्वेष जिसमें नहीं है, तथा वचनव्यापार और शरीर व्यापार भी जिसमें नहीं है ऐसी जो शुद्ध चैतन्यरूप-बुद्धि उसे धर्मसंज्ञा से विद्वान वर्णन करते हैं। आत्मा की जो निर्मलता-परिणामों की अत्यंत शुद्धता वह धर्म है और उससे मुक्तिपद प्राप्त होता है। इस शुद्धि के बिना जीवों को हेय क्या है और उपादेय ग्राह्य क्या है? समझ में नहीं आता है। उत्तम आत्मध्यान ही धर्म है। स्वरूप का चिन्तन ही उत्तम तप है। स्वरूप में तत्पर रहना उत्कृष्ट ज्ञान है और आत्मा में एकाग्र चित्त होना ही उत्तम सुख है। यदि अपनी आत्मा का ज्ञान नहीं होगा तो अपना स्वरूप नहीं प्राप्त होगा। इसलिये अन्य सर्व कार्य छोड़कर आत्मस्वरूप में स्थिर होना चाहिये।

धार्मिक-वैज्ञानिक दृष्टि से-

प्रार्थना की शक्ति (प्रार्थना व फेथ थेरेपी)

(अशुभ-शुभ-शुद्ध भावानुसार मिलते फल)

(''स्व-पर-विश्व सुखी बने'' इस हेतु नवकोटि से प्रवृत्ति होना-प्रार्थना)

(चालः 1.आत्मशक्ति... 2.क्या मिलिए...)

आत्मा की पवित्रता होती प्रार्थना जो स्वपरविश्व हित हेतु होती।
रागद्वेषमोह काम क्रोध से रिक्त, पावन गुण-गुणी स्तुति होती।।
इससे होता भाव विशुद्ध जिससे मन होता केन्द्रित।
आत्मिक शक्तियाँ होती विकसित पाप नाश व पुण्य सम्पादित।।
जिससे होते तन-मन स्वस्थ अवचेतनमन व आत्म बलिष्ठ।
श्रद्धा प्रज्ञा चर्या होती उत्कृष्ट उदार पावन श्रेष्ठ जेष्ठ।। (1)
शंका कुशंका दुराशा होती दूर भय कुंठा द्वन्द्वादि होते दूर।
ईर्ष्या तृष्णा घृणादि होती क्षीण धैर्य साहस उत्साह बढ़ते अपार।।
शान्ति समता आत्मविशुद्धि बढ़ती वैश्विक कुटुम्ब की भावना होती।
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ क्षमा, सरल सहज मृदु नम्रता में वृद्धि।। (2)
दया दान सेवा परोपकार में वृद्धि ज्ञान वैराग्य अनुभव सम्वृद्धि।
प्रभामण्डल या ओरा होता स्वच्छ सबल जिससे होता स्व-पर उपकार।।
इसके उत्कृष्ट उदाहरण तीर्थंकर बुद्ध ऋषि मुनि गणधर सूरी पाठक।
ईसा मदर टेरेसा फ्लूरेन्सनाइटेंगल समाज सुधारक क्राान्तिकारी लेखक।। (3)
ऐसे महापुरुषों से होता स्वपर उपकार विश्वकल्याण भावना से बनते तीर्थंकर।
भक्त ही क्रमशः बनते भगवान् पूजक (सेवक) ही क्रमशः बनते पूज्य।।
विज्ञान भी अभी शोध-बोध रत प्रेयर व फेथ थेरेपि सहित।
अवचेतनमन की शक्ति समन्वित आकर्षण शक्ति टेलिपेथि सहित।। (4)
जोसेफमर्फी, राण्डा बर्न प्रसिद्ध फ्रायड से ले एटन मेस्मर।
मंत्र चिकित्सा होलि वाटरथेरेपि पूजा विधान यज्ञ (होम) तीर्थयात्रादि।
इससे गुडहारमोनों का होता स्राव भावात्मक शुभ तंरगों का प्रभाव।

अष्ट सहस्र कोटि न्यूरोन भी होते सक्रिय दशलाख सम्पर्क करता दिमाग।। (5)
अन्य के हित हेतु चिन्तन करना सेवा सुश्रुषा व सहयोग करना।
सान्त्वना देना व दृढ़ता बन्धाना मन वच काय से अनुकूल होना।।
अभयदान वैयावृत्यादि करना आहार-औषधि-ज्ञानदान करना।
तीर्थंकर प्रकृति जैसे पुण्य बन्धता स्वस्थ सबल निरोग शरीर मिलता।। (6)
यदि भाव होता उपरोक्त से विपरीत रागद्वेषमोहादि से आसक्त।
न मिलते उपरोक्त उत्तमफल भावानुसार शुभाशुभ मिलते फल।।
आगम में वर्णित मिले प्रचुर निदान कुभाव से मिले कुफल।
रावण कंस जरासंध आदि दृष्टान्त हिन्दु धर्म के वर प्राप्त राक्षस।। (7)
शक्ति का होता यथा सही गलत प्रयोग, सही से विकास अन्यथा विनाश।
तथाहि जानने योग्य हर क्षेत्र में अशुभ-शुभ-शुद्ध भाव में।
द्वीपायन के क्रोध से द्वारिका नाश ऋद्धिधारी गणधर से विकास।
तीर्थंकर से सौ योजन में सुभिक्ष शुभ से शुद्ध भाव चाहे 'कनक'।। (8)

ग.पु.कॉ. दि. 18-8-2020 रात्रि 9.06 व प्रातः 7.44

संदर्भ-

गुणों के स्मरण से उनमें रूचि होती है। रूचि बढ़ने पर सम्यग्दर्शन का वात्सल्य नामक गुण होता है।

सड्ढाए वड्ढियाए वच्छल्ल भावदो उक्कमदि।
तो तिव्वधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ।। (318)

श्रद्धा के बढ़ने पर मुनि से वात्सल्य करते हैं। उनमें धर्म में तीव्र राग होता है। धर्म में तीव्र राग समस्त जगत् में जो इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुख है उसे लाता है। अथवा धर्म में तीव्र राग रखने वाला यति सब सुख को प्राप्त होता है। इस गाथा से वात्सल्य का कथन किया।

वैयावृत्य भी भक्ति

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य।
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य।। (319) भग.आरा.

इस भव से पूर्व तीसरे भव में दर्शनविशुद्धि आदि परिणाम विशेष से जिसने तीर्थंकरत्व नामक अतिशयशाली कर्म का बंध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पाँच महाकल्याण का भागी है, जो कल्याण किसी अन्य को प्राप्त नहीं होते, घातीकर्मों के विनाश से जिसने त्रिकालवर्ती सब द्रव्यों के स्वरूप को प्रकाशित करने में पटु निरतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शनमोह के क्षय से जिन्हें वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्र मोह के क्षय से जिसने वीतरागता प्राप्त की है, वीर्यान्तराय कर्म के प्रक्षय से जिनमें अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके संसार का अन्त आ गया है उन भव्य जीवों का उद्धार करने की प्रतिज्ञा से जो बद्ध हैं, जो आठ महाप्रतिहार्य और 34 अतिशय विशेष से युक्त हैं वे अर्हन्त हैं। मिथ्यात्व आदि से परिणामों में आये आठ कर्मों के बन्धन से छूट चुके हैं, जो अजर, अमर, अव्याबाधगुण से युक्त हैं, अनुपम अनन्त सुख से शोभित हैं। जिसके सदा प्रज्ज्वलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर हैं, जो पुरुषाकार हैं और जिन्होंने परमात्मा को पा लिया हैं वे सिद्ध हैं। इन अर्हन्तों और सिद्धों की भक्ति अरिहन्त सिद्ध भक्ति है। गुरु शब्द से यहाँ आचार्य, उपाध्याय का ग्रहण किया है। इनकी भक्ति गुरु भक्ति है और सर्वसाधुओं की भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रय में सम्पूर्ण निर्मल भक्ति। इन अर्हन्त आदि की ऊपर कहे अनुसार वैयावृत्य करने से उनकी भक्ति की गई जानना। रत्नत्रय के धारकों का उपकार करने से उनका आदर ही उनकी भक्ति है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्य से अर्हन्त आदि में भी भक्ति होती है।

वैयावृत्य का एक गुण पात्र लाभ

पंचमहव्वयगुत्तो णिग्गाहिदकसायवेदणो दंतो।
लब्भदि दु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो।। (321)

वैयावृत्य करने वाला पाँच महाव्रतों के द्वारा कर्मों के आस्रव को रोकने वाला, कषाय वेदना का निग्रह करने वाला होता है। कषाय आत्मा को संतप्त करता है इसे वेदना कहा है। दान्त अर्थात् जिसके रागजन्य दोष शान्त हो गये हैं, वस्तु तत्त्व को जानने से वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावना से राग शान्त होता है। इससे दान्त कहा है तथा जो नाना प्रकार के शास्त्रों रूपी रत्नों का निधि है, नाना शास्त्रों का ज्ञाता है ऐसा पात्र प्राप्त होता है अर्थात् वैयावृत्य करने वाले को

वैयावृत्य के लिए ऐसे सत्पात्र मुनि प्राप्त होते हैं यह एक महान् लाभ है।

दंसणणाणे तव संजमे य संधाणदा कदा होइ।
तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव।। (322)

किसी निमित्त से सम्यग्दर्शन आदि में कोई त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र में पुनः नियुक्ति हो जाती है। अतः उसी वैयावृत्यकारी के द्वारा स्वयं आत्मा का तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसकी रत्नत्रय में पुनः स्थिति होती है। इससे दोनों का ही लाभ है। इस गाथा के द्वारा संधान पद का व्याख्यान किया गया है।

वेज्जवच्चकरोपुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढ़ो।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं।। (323)

वैयावृत्य करने वाला मुनि उत्कष्ट वैयावृत्य नामक तप में एकाग्र होकर अनेक भवों में कष्ट देने वाले कर्मो की निर्जरा करता हुआ विहार करता है।

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण।
जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य अवगूहिया होदि।। (327)

श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान,तप,पूजा तीर्थं की अव्युच्छिति इत्यादि गुणों का उत्कष्ट क्रम के साथ आचरण करने वाले मुनि को जो सिद्धि सुख में एकाग्रता है वह भी प्राप्त होती है क्योंकि कार्य में समाधान हुए बिना कारण में आदर नहीं होता। यदि चित्त में घट बनाने की भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण हैं उनमें मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता। यहाँ गुण परिणाम आदि सिद्ध सुख के उपाय हैं। सिद्धिसुख में एकाग्रता के बिना उपाय नहीं हो सकते। यह अभिप्राय है।

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होंति।
णिग्गहियाणि कसायिंदियाणि साखिल्लदा स कदा।। (328)

जो वैयावृत्य करता है तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन करता है। इस कथन में गाथा के ''आणा'' पद का व्याख्यान किया गया है। संयम योग का पालन होता हैं। इस कथन में संयम पद का व्याख्यान किया गया है, क्योंकि आचार्य आदि का संयम के साथ सम्बन्ध है। जो आचार्य आधि-व्याधि से पीड़ित होते हैं और बिना

संक्लेश के रोग परीषह को सहने में असमर्थ होते हैं उनकी वैयावृत्य करने से संयम की रक्षा होती है। अथवा 'संयम योग' अर्थात् अनशन आदि तप के भेदों की रक्षा होती है। अपने भी और दूसरों के तप की भी रक्षा होती है। दूसरों से वैयावृत्य कराकर अथवा वैयावृत्य करने की अनुमोदना करके स्वास्थ्य को प्राप्त कर अपने तप की रक्षा करता है तथा दूसरों की आपत्ति को दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करने पर उनकी संयम की रक्षा होती है। दूसरों की सहायता का कथन गाथा के उत्तरार्द्ध से करते हैं। उसमें 'जम्हा' पद का अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है- अतः वैयावृत्य करने वाला कषाय और इन्द्रियों के दोष बतलाकर कषाय और इन्द्रिय का निग्रह करता है। अतः वह दूसरों को सहायता प्रदान करता है।

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिंच्छा दरिसिदा होइ।
पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकज्जं च।। (329)

वैयावृत्य करने वाला उक्त प्रकार से दूसरे साधुओं को रत्नत्रय का दान करता है इसलिए वह सातिशय दान का ज्ञाता होता है। तथा वैयावृत्य से सम्यग्दर्शन का निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है। शरीर का मल-मूत्रादि बिना ग्लानि के उठाने से द्रव्य विचिकित्सा दूर होती है। आगम में कहे हुए धर्म का पालन करने से प्रवचन की प्रभावना भी होती है और संघ का जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है। इन गाथा में ''कज्जपुण्णाणि'' पद का व्याख्यान किया है।

गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि।
तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं।। (330)

वैयावृत्य में तत्पर साधु गुण परिणाम आदि कारणों के द्वारा उस तीर्थंकर नामक पुण्यकर्म का बंध करता है जो तीनों लोकों में हलचल पैदा करता है।

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य।
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो।। (331)

वैयावृत्य में तत्पर साधु में बहुत से गुण होते हैं। जो केवल स्वाध्याय ही करता है वह तो अपने ही प्रयोजन में लगा रहता है किन्तु वैयावृत्य करने वाला

अपना और दूसरों का उपकार करता है अर्थात् केवल स्वाध्याय करने वाले साधु से वैयावृत्य करने वाला विशिष्ट होता है। स्वाध्याय करने वाले साधु पर यदि विपत्ति आये तो उसे वैयावृत्य करने वाले साधु का ही मुँह ताकना पड़ता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जो कोई अपने शरीर की पुष्टि के लिए शिष्यादिकों के मोह में पड़कर उनके लिए पाप कर्म या हिंसाकर्म की इच्छा नहीं रखता है उसके वह व्याख्यान शोभनीय है। परन्तु यदि वह अपने व दूसरों के लिए पापकर्म की इच्छा करता है, वैयावृत्य आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्म को कार्य की अपेक्षा से ही नहीं चाहता है उसके तब से सम्यग्दर्शन ही नहीं है। मुनि व श्रावकपना तो दूर ही रहा।

यहाँ पर आचार्यश्री ने संसारी भोगवादी, आलसी व्यक्तियों के सम्बन्धी मनोविज्ञान का नग्न जीवन्त रूप प्रकट किया है। अधिकांश संसारी मोही जीव उपरोक्त सिद्धान्त को मनसा वचसा प्रयोग में लाते हैं। अर्थात् वे राग-भोग, धनोपार्जन, स्वार्थसिद्धि के समय में अनर्गल रूप से हिंसा करता है, पाप करता है परन्तु जब धर्मकार्य का अवसर आता है तब वह हिंसा का बहाना लेकर उस धर्मकार्य से विमुख हो जाता है।

एवं मए अभित्थुआ विहुय-रय-मला पहीण-जर-मरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु।। (6)

घातिया कर्म रूपी रजोमल से रहित, जरा और मरण के नाशक, मेरे द्वारा स्तुति किये गये, ऐसे चौबीसों तीर्थंकर जिनेन्द्र भगवान् मुझ स्तुति करने वाले पर प्रसन्न होवें।

कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्ग-णाण-लाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं।। (7)

मैं, लोक में वचन से कीर्तन किये गये, मन में वन्दना किये गये तथा काय से पूजा किये गये उत्तम अरहंत-सिद्ध भगवन्तों की मन से वन्दना करता हूँ, वचन से कीर्तन करता हूँ तथा काय से पूजा करता हूँ, वे मेरे लिए निर्मल केवलज्ञान, बोधि व समाधि को प्रदान करें। बोधि अर्थात् रत्नत्रय और समाधि अर्थात् जीव के अन्त तक रत्नत्रय पालने की शक्ति प्रदान करें।

चंदेहि णिम्मल-यरा, आइच्चेहिं अहिय-पया-संता।
सायर-मिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।। (8)

जो सिद्ध भगवान् चन्द्रमा से भी निमर्ल हैं, सूर्य से भी अधिक प्रभा से युक्त है तथा सागर के समान गंभीर है, वे मुझे भी सिद्धि को प्रदान करें।

सम्मत्त णाण दंसण वीरियसुहुमं तहेव अवग्गहणं।
अगुरुलघुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।। (1)
तव-सिद्धे णय-सिद्धे संजम सिद्धे चरित्त-सिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमस्सामि।। (2)

यद्यपि सभी सिद्ध यथाख्यातचरित्र व केवलज्ञान पूर्वक ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं अतः सभी सिद्धों में गुण अपेक्षा कोई भेद नहीं है, तथापि भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा ही ये तपसिद्ध, नयसिद्ध, संयमसिद्ध आदि भेद हैं अर्थात् यथाख्यातचारित्र के पहले किस-किस चारित्र को प्राप्त किया, तथा केवलज्ञान के पूर्व किस-किस ज्ञान को प्राप्त किया उस अपेक्षा सिद्ध भगवन्तों में भेद पाया जाता है।

इच्छामि भंते! सिद्धभक्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाण सम्मदंसण-सम्मचरित्त-जुत्ताणं, अट्ठविह-कम्म-विप्प-मुक्काण, अट्ठगुण-संपण्णाणं, उड्ढलोय-मत्थयम्मि पयट्ठियाणं, तव-सिद्धाणं, णय-सिद्धाणं, संजम-सिद्धाणं चरित्त-सिद्धाणं अतीताणागद-वट्टमाण-कालत्तय-सिद्धांण, सव्व सिद्धांण सया णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वदामि णमस्सामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोलिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिन-गुण संपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन्! मैंने सिद्धभक्ति का कायोत्सर्ग किया, उस कायोत्सर्ग में जितने दोष लगे हो उनकी इच्छापूर्वक आलोचना करता हूँ। रत्नत्रय से युक्त, अष्टकर्मों से मुक्त, अष्टगुणों से मंडित लोक के मस्तक पर सिद्ध, त्रिकाल सम्बन्धी तपसिद्ध, नयसिद्ध, संयमसिद्ध व चारित्रसिद्ध, सब सिद्धों की मैं सर्वदा अर्चा, पूजा, वन्दना करता हूँ। मेरे दुखों का, कर्मों का क्षय हो, बोधि लाभ हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनगुण रूप सम्पत्ति की मुझे प्राप्ति हो।

अथेष्ट प्रार्थना

प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः

प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग को नमस्कार हो।

शास्त्राभ्यासो जिनपति-नुतिः संगतिः सर्वदार्यैः,
सद्-वृत्तानां गुण-गण-कथा दोष-वादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रिय-हित-वचो भावनाचात्म-तत्त्वे,
सम्पद्यन्तां मम भव-भवे यावदेतेऽपवर्गः।। (1)

हे प्रभो! जब तक मुझे उत्तम मुक्ति पद की प्राप्ति नहीं हो तब तक इन इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति प्रत्येक जन्म में होती रहे-जिनागम का अभ्यास, पंचपरमेष्ठी नमन, आर्यजन संगति, सज्जनों की गुणकथा, दूसरों के दोष व विवाद में मौन, हित-मित प्रियवचन और आत्मतत्त्व की भावना।

तव पादौ हृदये, मम हृदयं तव पद-द्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावद्-यावन्-निर्वाण-सम्प्राप्तिः।। (2)

हे जिनदेव! जब तक मुझे निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक आपके दोनों चरण-कमल मेरे हृदय में रहें और मेरा हृदय आपके चरणों में लीन रहे जिससे हमारे मन में अशुभ विचारों का चिन्तन नहीं होगा एवं पाप-कर्मों का क्षय होगा।

अक्खर-पयत्थ-हीणं, मत्ता-हीणं च जं मए भणियम्।
तं खमउ णाण-देव! य मज्झवि दुक्खक्खयं कुणउ।। (3)

अन्वयार्थ-(णाणदेव!) हे कैवल्यज्योतिमयी ज्ञानदेव! (मए) मेरे द्वारा (जं) जो भी (अक्खरपयत्थहीणम्) अक्षर-पद-अर्थ रहित (च) और (मत्ताहीणं) मात्रा रहित (भणियं) कहा गया (तं) उसको (खमउ) क्षमा कीजिये (य) और (मज्झवि) मेरे भी (दुक्खक्खयं) दुःखों का क्षय (कुणउ) कीजिये।

जिन-सिद्ध-सूरि-देशक-साधु-वरानमल गुण गणोपेतान्।
पञ्चनमस्कार-पदै-स्त्रि-सन्ध्य-मभिनौमि मोक्ष-लाभाय।। (6)

जो अनन्त निर्मल गुणों से शोभायमान हैं ऐसे अरहन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय तथा उत्तम साधु इन पञ्च परमेष्ठियों को मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिये णमोकार

मन्त्र रूप पाँच पदों के द्वारा तीनों सन्ध्याओं में नमस्कार करता हूँ। अर्थात् अनन्त गुणों के समुद्र पञ्चपरमेष्ठी की आराधना मुक्ति की प्राप्ति के लिये एकमात्र अमोघ कारण है।

एषः पञ्चनमस्कारः, सर्वपापप्रणाशनः।
मंगलानां च सर्वेषां, प्रथमं मंगल भवेत्।। (7)

परमेष्ठी वाचक, अनादि निधन यह पञ्च नमस्कार मन्त्र सब पापों को नाश करने वाला, लोक में सब मंगलों में श्रेष्ठ प्रथम मंगल है।

अर्हत्सिद्धाचार्यो-पाध्यायाः सर्वसाधवः।
कुर्वन्तु मंगलाः सर्वे, निर्वाण परमश्रियम्।। (8)

तीनों लोकों में मंङ्गलरूप-पापों के नाशक, सुख के प्रदायक, अर्हन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधु ये पञ्चपरमेष्ठी मेरे लिये उत्कृष्ट मुक्ति लक्ष्मी प्रदान करें।

सर्वान् जिनेन्द्र चंद्रान्, सिद्धानाचार्य पाठकान् साधून्।
रत्नत्रयं च वंदे, रत्नत्रयसिद्धये भक्त्या।। (9)

मैं भक्तिपूर्वक समस्त अरहन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय व साधुओं की तथा रत्नत्रय की वन्दना करता हूँ, मुझे रत्नत्रय की सिद्धि हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो।

जिनके चरण-कमल सौ इन्द्रों से वन्दनीय है, पञ्चकल्याणक की मंगल बेला में जो विविध आभूषणों के धारक देवों, इन्द्रों आदि के द्वारा पूजित हुए हैं, वे उत्तम वंश में उत्पन्न त्रिजगत् को प्रकाशित करने वाले ऐसे तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान मेरे लिये निरन्तर शान्ति प्रदान करें।

सम्पूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्र-सामान्य-तपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शान्तिं भगवन्-जिनेन्द्रः।। (14)

हे जिनेन्द्रदेव! श्रद्धा से आपकी आराधना करने वाले आराधकों को, धर्म के आयतन-देव, शास्त्र, गुरु और तीर्थों की रक्षा करने वालों को, आचार्यों, सामान्य तपस्वियों, मुनियों आदि सर्व संयमियों को, देश, राष्ट्र, नगर, प्रजा सभी को शान्ति प्रदान कीजिये।

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु, बलवान् धार्मिको भूमिपालः।
काले काले च सम्यग्वितरतु मघवा, व्याधयो यान्तु नाशम्।।
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां, मास्मभूज्जीव-लोके।

जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं, सर्व-सौख्य-प्रदायि।। (15)

हे प्रभो! लोक में समस्त प्रजा का कल्याण हो, राजा बलवान् और धार्मिक हो, सर्व दिग्दिगन्त में समय-समय पर मेघ यथायोग्य जलवृष्टि करते रहें, कहीं भी, कभी अतिवृष्टि रूप प्रकोप न हो, मानसिक-शारीरिक बीमारियों का नाश हो, तथा लोक में जीवों को कभी भी क्षण-मात्र के लिये भी दुष्काल, चोरी, मारी रोग, हैजा, मिरगी आदि न हों। वीतराग जिनेन्द्रदेव का धर्मचक्र जो प्राणीमात्र के लिये सुखप्रदायक है, सदा प्रभावशाली बना रहे। हे विभो! आपका जिनशासन सर्वलोक में विस्तृत हो, लोकव्यापी जिनधर्म कल्याणकारी हो।

तद्द्रव्यमव्ययमुदेतु शुभः स देशः, संतन्यतां प्रतपतां सततं सकालः।
भावः स नन्दतु सदा यदनुग्रहेण, रत्नत्रयं प्रतपतीह मुमुक्षुवर्गे।। (26)

जिनके अनुग्रह से मोक्ष के इच्छुक मुनिजनों का निर्दोष रत्नत्रय प्रकाशमान हो वह द्रव्य उत्पन्न हो। अर्थात् निर्दोष आहार, औषध आदि व संयम के उपकरण पिच्छी-कमंडलु आदि ऐसा वह शुभ द्रव्य है तथा मुनियों को यह निर्दोष रत्नत्रय की वृद्धि करने वाला द्रव्य जिस क्षेत्र में प्राप्त हो वह शुभ देश/क्षेत्र है। दिगम्बर मुनियों के सदा उत्तम रत्नत्रय की वृद्धि जिस काल में हो वह शुभ काल है तथा उन मुनियों के सदा आत्मानन्द की प्राप्ति निर्मल परिणाम का होना शुभ भाव है। अर्थात् जिनके योग से मुनियों का रत्नत्रय उन्नतिशील बने वही शुभद्रव्य, शुभक्षेत्र, शुभकाल व शुभभाव है ऐसा जानना चाहिये।

प्रध्वस्त घाति कर्माणः, केवलज्ञान भास्कराः।
कुर्वन्तु जगतां शान्तिं, वृषभाद्या जिनेश्वरः।। (27)

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का जिन्होंने समूल क्षय कर दिया है तथा तो केवलज्ञानरूपी सूर्य से सर्वजगत् को प्रकाशित करते हुए शोभा को प्राप्त हैं ऐसे वृषभनाथ को आदि लेकर तीर्थंकर महावीर पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकर जगत् के समस्त प्राणियों को शान्ति, सुख, क्षेम, कुशल प्रदान करें।

शांति शिरोधृत जिनेश्वर शासनानां,
शान्तिः निरन्तर तपोभव भावितानां।

शान्तिः कषाय जय जृम्भित वैभवानां,

शान्तिः स्वभाव महिमानमुपागतानाम्।। (1)

हे शान्तिनाथ भगवान्! जिनशासन की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाले भव्यजीवों को शान्ति/सुख की प्राप्ति हो। अखंडरूप से तप में लीन मोक्ष के इच्छुक मुनियों को शान्तरस रूप शुक्लध्यान की प्राप्ति हो। कषायों को जीतकर आत्मानन्द को प्राप्त करने वालों को समतारसरूप शान्ति प्राप्त हो तथा जो आत्मस्वभाव की महिमा को प्राप्त कर चुके हैं ऐसे यतियों को शाश्वतशान्तिरूप सिद्धपद की प्राप्ति हो।

जीवन्तु संयम सुधारस पान तृप्ता,

नंदंतु शुद्धं सहसोदय सुप्रसन्नाः।

सिद्ध्यंतु सिद्धि सुख संगकृताभियोगाः,

तीव्रं तपन्तु जगतां त्रितयेऽर्हदाज्ञा।। (2)

हे शान्तिनाथ भगवान्! संयम रूपी अमृत का पान करने से पूर्ण तृप्त ऐसा मुनिसमूह सदा जीवन्त रहे अर्थात् पृथ्वी पर सदा मुनिजनों का विचरण होता रहे। आत्मानन्द के उदय से सदा प्रसन्न रहने वाले यतिगण शाश्वत आनन्द को प्राप्त हो। मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये उपसर्ग, परिषहों को सहनकर घोर तपश्चरण का उद्योग करने में तत्पर मुनिराज सिद्धिसुख को प्राप्त हो, तथा अर्हन्त देव का शासन तीन लोक में सम्पूर्ण पृथ्वीमंडल पर विशेष प्रभावना को प्राप्त हो।

शान्तिः शं तनुतां समस्त जगतः, संगच्छतां धार्मिकैः।

श्रेयः श्री परिवर्धतां नयधरा, धुर्यो धरित्रीपतिः।।

सद्विद्यारसमुद्गिरन्तु कवयो, नामाप्यधस्यास्तु मां।

प्रार्थ्यं वा कियदेक एव, शिवकृद्धर्मो जयत्वर्हताम्।। (3)

हे शान्तिनाथ प्रभो! तीन लोक के समस्त प्राणी सुखी हो, धर्मात्मा जीवों को कल्याणकारी स्वर्ग-मुक्त लक्ष्मी प्राप्त हो, नीति न्याय का घर-घर में प्रचार हो, पृथ्वी का राजा शूर-वीर हो। विद्वान् लोग उत्तम शिक्षा का प्रसार करें जिससे कोष में पाप का नाम भी न रहे/पृथ्वी पर पाप का नाम भी न रहे और अन्त में क्या माँगू, बस एक ही माँगता हूँ, वह यह कि ''वीतराग जिनदेव/अर्हन्त भगवन्त का मोक्षदायक जिनधर्म सदा पृथ्वी-मंडल पर जयवन्त रहे।''

आधुनिक युग में मानसिक उपचार

वह कौन सी चीज़ है जो उपचार करती है? यह उपचारक शक्ति कहाँ रहती है और इसका लाभ कैसे लिया जा सकता है? ये सभी सवाल हमारे लिए बहुत अहम है। इन सभी का एक ही जवाब हैः उपचारक शक्ति हर व्यक्ति के अवचेतन मन में निवास करती है और रोगी के बदले हुए मानसिक नज़रिए से यह सक्रिय हो जाती है।

किसी भी मानसिक या धार्मिक वैज्ञानिक उपचारक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषक या डॉक्टर ने कभी किसी मरीज़ को ठीक नहीं किया है। एक पुरानी कहावत है ''डॉक्टर घाव पर पट्टी बाँधता है, ईश्वर उसे ठीक करता है।'' मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषक मरीज के मानसिक अवरोध हटाकर प्रभावी परिवर्तन लाता है, ताकि उपचारक सिद्धांत सक्रिय हो सके और रोगी दोबारा स्वस्थ हो सके। इसी तरह सर्जन शारीरिक अवरोध हटाता है, ताकि उपचारक प्रवाह सामान्य ढंग से काम कर सके। कोई भी डॉक्टर या सर्जन या मानसिक-विज्ञान का प्रयोग करने वाला पूरी तरह से यह दावा नहीं कर सकता कि उसने ''मरीज को ठीक कर दिया।'' उपचारक शक्ति एक ही है, हालाँकि इसे अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है-प्रकृति, जीवन, ईश्वर, रचनात्मक ज्ञान-लेकिन वास्तविकता में ये सभी अवचेतन शक्ति की ओर इशारा करने के भिन्न-भिन्न तरीके हैं।

जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, हम स्वयं में मौजूद उपचारक जीवन-सिद्धांत के प्रवाह के मानसिक, भावनात्मक और शारीरिक अवरोधों को कई तरीकों से हटा सकते हैं। आपके अवचेतन मन में रहने वाला यह उपचारक सिद्धांत आपको सभी मानसिक तथा शारीरिक रोगों से मुक्त कर सकता है और करेगा, बशर्ते आप या कोई दूसरा व्यक्ति इसे सही दिशा दे। यह उपचारक सिद्धांत सभी लोगों में काम करता है भले ही उनका पंथ, रंग या जाति कोई भी हो।

इसका प्रयोग करने और इस उपचारक प्रक्रिया का लाभ लेने के लिए आपको किसी विशेष चर्च का सदस्य बनने की ज़रूरत नहीं है। आपका अवचेतन आपको हाथ के जले हुए या कटे हुए हिस्से को ठीक कर देगा, भले ही आप नास्तिक या संशयवादी हो। आधुनिक मानसिक चिकित्सा इस सच्चाई पर आधारित है कि जैसी

आपकी आस्था होगी, आपके अवचेतन मन की असीमित बुद्धिमत्ता और शक्ति की प्रतिक्रिया भी वैसी ही होगी। मानसिक-विज्ञान का प्रयोग करने वाले या पादरी बाइबल के आदेश का पालन करते हैं। यानी वे अपने कमरे में जाकर दरवाजा बंद कर लेते हैं, जिसका मतलब है कि वे अपने मस्तिष्क को स्थिर कर लेते हैं, शिथिल कर लेते हैं और असीमित उपचारक शक्ति के बारे सोचने लगते हैं। अपने भीतर मौजूद वे अपने मस्तिष्क का द्वार सभी बाहरी व्यवधानों तथा वस्तुओं के लिए बंद कर लेते हैं। फिर वे अपना आग्रह या इच्छा अपने अवचेतन मन को इस विश्वास के साथ बताते हैं कि उनके मस्तिष्क का ज्ञान उन्हें सही जवाब देगा।

जानने की सबसे अद्भुत बात यह है: इच्छित परिणाम की कल्पना करें और इसकी वास्तविकता को महसूस करें; असीमित जीवन-सिद्धांत आपके चेतन चुनाव और आपके चेतन आग्रह पर प्रतिक्रिया करेगा। यही इस वाक्य का अर्थ है कि विश्वास रखें कि आपको मिल गया है और आपको मिल जाएगा। प्रार्थना चिकित्सा का प्रयोग करते समय आधुनिक मानसिक वैज्ञानिक यही काम करता है।

उपचार की एक प्रक्रिया

दुनिया की हर चीज़ में सिर्फ एक ही शाश्वत उपचारक काम कर रहा है, चाहे वह बिल्ली, कुत्ता, पेड़, घास, हवा, धरती हो-क्योंकि हर चीज सजीव है यह जीवन-सिद्धांत प्राणी, वनस्पति और खनिज साम्राज्यों में सहज-बोध और विकास के नियम के रूप में काम करता है। चूँकि मनुष्य इस जीवन-सिद्धांत के बारे में चेतन रूप से जागरूक होता है, इसलिए हम खुद को अनगिनत तरीक़ों से लाभ पहुँचाने के लिए इसका सचेतन प्रयोग कर सकते हैं।

इस शाश्वत सिद्धांत का प्रयोग करने के कई भिन्न तरीके, तकनीकें और विधियाँ हैं, लेकिन उपचार की सिर्फ़ एक ही प्रक्रिया है, वह है आस्था, क्योंकि आपकी आस्था के अनुरूप ही आपको परिणाम मिलेगा।

विश्वास का नियम

दुनिया के सभी धर्म विश्वास के रूप हैं और ये विश्वास कई तरीक़ों से स्पष्ट किए जाते हैं। जीवन का नियम विश्वास है। अपने, जीवन और ब्रह्मांड के बारे में आपके विश्वास क्या हैं? जैसा आपको विश्वास होगा, वैसा ही आपको मिलेगा।

विश्वास आपके मस्तिष्क का एक विचार है, जिस कारण अवचेतन की शक्ति आदतन सोच के अनुसार जीवन के सभी क्षेत्रों में उतरती है। आपको एहसास करना चाहिए कि जब बाइबल आस्था का ज़िक्र करती है, तो यह किसी अनुष्ठान, समारोह, रूप, संस्था या फ़ॉमूर्ले में विश्वास के बारे में नहीं बोल रही है। तो यह तो स्वयं के विश्वास के बारे में बोल रही है। आपके मस्तिष्क का विश्वास आपके मस्तिष्क का विचार है।

अगर आप विश्वास कर सकें, तो उसके लिए हर चीज़ संभव है, जो विश्वास करता है।

किसी ऐसी चीज़ में विश्वास करना मूर्खता है, जो चोट या नुक़सान पहुँचाए। याद रखें, जिस चीज़ में आप विश्वास करते हैं, वह आपको नुकसान या चोट नहीं पहुँचाती है। यह तो आपके मस्तिष्क का विश्वास या विचार है, जो परिणाम उत्पन्न करता है। आपके सभी अनुभव, सभी कार्य तथा जीवन की सभी घटनाएँ व परिस्थितियाँ आपके ही विचार की प्रतिक्रियाएँ और प्रतिबिंब हैं।

प्रार्थना चिकित्सा चेतन और अवचेतन मन का संयुक्त कार्य है जिसे वैज्ञानिक तरीक़े से निर्देशित किया जाता है

प्रार्थना चिकित्सा (Prayer therapy) मस्तिष्क के चेतन और अवचेतन स्तरों का क्रमबद्ध, सामंजस्यपूर्ण और बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य है, जिसे किसी निश्चित उद्देश्य के लिए विशेष रूप से निर्देशित किया जाता है। वैज्ञानिक प्रार्थना या प्रार्थना चिकित्सा के लिए आपको पता होना चाहिए कि आप क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं। आप उपचार के नियम में विश्वास करते हैं। प्रार्थना चिकित्सा को कई बार मानसिक उपचार या वैज्ञानिक प्रार्थना भी कहा जाता है।

प्रार्थना चिकित्सा में आप किसी निश्चित विचार, मानसिक तस्वीर या योजना को चुनते हैं, जिसे आप अनुभव करना चाहते हैं। आप इस विचार मानसिक छवि को अपने अवचेतन तक पहुँचा देते हैं और काल्पनिक अवस्था की वास्तविकता अनुभव करते हैं। जब आप अपने मानसिक नज़रिए में पूर्ण आस्था रखेंगे, तो आपको अपनी प्रार्थना का जवाब मिल जाएगा। प्रार्थना चिकित्सा किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए मानसिक कर्म है।

मान लें, आप प्रार्थना चिकित्सा से किसी समस्या के उपचार का फैसले करते हैं। आप जातते हैं कि आपकी समस्या या बीमारी, चाहे वह जो भी हो, आपके अवचेतन मन में रहने वाले भयाक्रांत नकारात्मक विचारों के कारण उत्पन्न हुई है। आपको एहसास है कि अगर आप अपने मस्तिष्क से इन विचारों की सफाई कर दें, तो आप ठीक हो जाएँगे।

इसलिए आप अपने अवचेतन मन की उपचारक शक्ति की ओर मुड़ते हैं। आप खुद को इसकी असीमित शक्ति और बुद्धिमत्ता याद दिलाते हैं। आप खुद को यह भी याद दिलाते हैं कि यह हर बीमारी का उपचार करने में सक्षम है। जब आप इन सच्चाइयों पर लगातार सोचते हैं, तो आपका डर धीरे-धीरे कम होने लगता है। इन सच्चाइयों की याद ग़लत विश्वासों से जूझती है और अंततः उन्हें परास्त कर देती है। आप उस उपचार के लिए धन्यवाद देते हैं, जो आप जानते हैं कि अवश्य होगा। फिर आप अपने मस्तिष्क को उस समस्या से तब तक दूर रखते है जब तक कि कुछ समय बाद आपके मन में दोबारा प्रार्थना करने की इच्छा प्रबलता से महसूस नहीं होती है। प्रार्थना करते समय आप नकारात्मक स्थितियों को जरा सी भी शक्ति नहीं देते हैं या पल भर के लिए भी यह नहीं सोचते हैं कि उपचार नहीं होगा। इस तरह के मानसिक नज़रिए से चेतन और अवचेतन मन का सामंजस्यपूर्ण मेल बनता है, जो उपचारक शक्ति को सक्रिय कर देता है।

आस्था-उपचार का क्या मतलब है और अंधी आस्था किस तरह काम करती है

जिसे लोग आस्था-उपचार (Faith healing) के नाम से जानते हैं, वह दरअसल बाइबल में बताई गई आस्था नहीं है, जिसका मतलब चेतन और अवचेतन मन के आपसी संबंधों का ज्ञान होता है। आस्था-उपचारक वह व्यक्ति होता है, जो उपचार में शामिल शक्तियों की वैज्ञानिक समझ के बिना उपचार करता है। हो सकता है कि वह उपचार की विशेष क्षमता का दावा करे और उसमें या उसकी शक्तियों में रोगी की अंधी आस्था (blind faith) उसे ठीक कर दे।

दुनिया के कई हिस्सों में पारंपारिक उपचारक अपने रोगियों को नृत्य, मंत्रों और आत्माओं को बुलाकर ठीक करते हैं। हो सकता है, कोई व्यक्ति किसी संत के

स्मृतिचिन्ह छूकर, खास गंड बाँधकर, अगरबत्ती या धूप जलाकर या विशेष जड़ियों के काढ़े को पीकर स्वस्थ हो गया हो। जो भी चीज़ रोगी को उस तरीक़े या प्रक्रिया में सच्चा विश्वा दिलाएगी, वह उपचार को अधिक संभव बना देगी।

जो भी चीज़ आपको डर और चिंता से हटाकर आस्था और आशा की ओर ले जाएगी, आपका इलाज कर देगी। कई लोग दावा करते हैं कि चूँकि उनके सिद्धांत परिणाम देते हैं, इसलिए वे सही और सच हैं। जैसा हम पहले देख चुके हैं यह सच नहीं हो सकता।

अंधी आस्था किस तरह काम करती है, इसके लिए स्विस उपचारक फ्रैंज़ एटन मेस्मर के बारे में सोचें, जिनका ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं। 1776 में उन्होंने अपने मरीजों के शरीर से चुंबक छूकर इलाज करने का दावा किया था। बाद में उन्होंने चुंबक छोड़कर मरीज़ से कुछ दूरी पर अपने हाथ घुमाकर इलाज किया। यह तरीक़ा भी कारगर हुआ। इस नई तकनीक की सफलता को समझाने के लिए मेस्मर ने प्राणी चुंबकीयता का सिद्धांत दिया। उसका मानना था कि वह द्रव वैसे तो पूरे ब्रह्मांड में फैला हुआ है, लेकिन इंसान के शरीर में सबसे सक्रिय है। उनका दावा था कि यह चुंबकीय द्रव उनके हाथों से बीमार शरीर की ओर संप्रेषित होता है और प्राणी चुंबकीयता का यह स्थानांतरण उनका उपचार कर देता है। इसके बाद हजारों-लाखों लोग उनके पास आने लगे और कई अद्‌भुत उपचारों का दावा किया गया।

मेस्मर पेरिस आ गए। वहाँ की सरकार ने उनके इलाजों की जाँच के लिए एक आयोग गठित किया। इस आयोग में प्रख्यात चिकित्सक और अकडेमी ऑफ़ साइंस के सदस्य थे, जिनमें बेंजामिन फ्रैंकलिन भी शामिल थे। सघन जाँच-पड़ताल के बाद आयोग ने स्वीकार किया कि मेस्मर ने बीमारों को सचमुच ठीक किया था। हालाँकि यह भी कहा गया कि उनके चुंबकीय द्रव सिद्धांत को सही साबित करने वाला एक भी प्रमाण नहीं है। यह अनुमान लगाया गया है कि इलाज मरीज़ों की कल्पना की वजह से हुआ था।

इसके ठीक बाद मेस्मर को निर्वासित कर दिया गया। 1815 में उनकी मृत्यु हो गई। इसके कुछ समय बाद इंग्लैण्ड में मैनचेस्टर के डॉ. जेम्स ब्रैड ने यह साबित करने का बीड़ा उठाया कि चुंबकीय द्रव का डॉ. मेस्मर के उपचारों से कोई

लेना-देना नहीं था। डॉ. ब्रैड ने पाया कि रोगी को सुझाव देकर सम्मोहित तंद्रा या निद्रा में भेजा जा सकता था। रोगियों के सम्मोहित तंद्रा में रहते समय वे कई अद्‌भुत परिणाम उत्पन्न करने में सफल हुए, जिनका श्रेय मेस्मर ने प्राणी चुंबकीयता को दिया था।

आप देख सकते हैं कि ये सभी उपचार निस्संदेह रोगियों की सक्रिय कल्पना और अवचेतन मन को दिए गए स्वास्थ्य के सशक्त सुझावों द्वारा संभव हुए थे। इसे अंधी आस्था कहना अनुचित नहीं होगा, क्योंकि न तो मरीज, न ही उपचारक को यह समझ थी कि ये उपचार कैसे हुए।

कल्पनावादी आस्था और इसका अर्थ

किसी व्यक्ति का कल्पनावादी (Subjective) अवचेतन मन उसके चेतन या यथार्थवादी (Objective) मन के नियंत्रण के अधीन रहता है। यह दूसरों के सुझावों के प्रति भी अति संवेदनशील होता है। इसका मतलब यह है कि जो भी आपका यथार्थवादी विश्वास है, अगर आप उसमें सक्रियता या निष्क्रियता से आस्था रखेंगे, तो आपका अवचेतन मन उस सुझाव द्वारा नियंत्रित होगा और आपकी इच्छा पूरी हो जाएगी।

मानसिक उपचारों के लिए विशुद्ध कल्पनावादी आस्था की ज़रूरत होती है। इसे हासिल करने का तरीक़ा यथार्थवादी या चेतन मन के सक्रिय विरोध का अंत करना है।

ज़ाहिर है, शरीर के प्रभावी उपचार के लिए सबसे अच्छा तो यह रहेगा कि चेतन और अवचेतन दोनों ही मन आस्था को पूरी तरह स्वीकार करने की अवस्था में हो। बहरहाल, यह हमेशा जरूरी नहीं होता है। आप अपने मन और शरीर को शिथिल करके उनींदी अवस्था में पहुंच सकते हैं और निष्क्रियता तथा ग्रहणशीलता की स्थिति में दाखिल हो सकते हैं। इस उनींदी अवस्था में आपकी निष्क्रियता कल्पनावादी छाप के प्रति ग्रहणशील बन जाती है।

एक व्यक्ति ने मुझसे एक बार पूछा, ''ऐसा कैसा हो गया कि उस पादरी ने मुझे ठीक कर दिया? जब उसने मुझे बताया कि रोग जैसी कोई चीज़ नहीं होती है और इसका कोई अस्तित्व ही नहीं होता है, तो मैंने एक भी शब्द पर यक़ीन नहीं

किया। मुझे लगा कि वह मेरी बुद्धि का अपमान कर रहा है। लेकिन इसके बावजूद मैं ठीक हो गया। ऐसे कैसे हो सकता है?''

जैसा मैंने इस व्यक्ति को बताया, इसका स्पष्टीकरण आसान है। वह पादरी के शांतिदायक शब्दों से शांत हो गया। फिर पादरी ने उसे कुछ समय के लिए पूर्णतः निष्क्रिय अवस्था में जाने, कुछ न बोलने या सोचने की सलाह दी। पादरी भी निष्क्रिय बन गए। उन्होंने आधे घंटे तक शांति से, धीरे-धीरे तथा दृढ़ता से लगातार कहा कि इस व्यक्ति को संपूर्ण स्वास्थ्य, शांति, सद्भाव और पूर्णता मिल जाए।

आधे घंटे बाद उस व्यक्ति को असीम राहत महसूस हुई और वह दोबारा स्वस्थ हो गया।

यह देखना आसान है कि उपचार के समय निष्क्रियता के कारण उसकी कल्पनावादी आस्था प्रकट हो गई थी और पादरी द्वारा दिए गए संपूर्ण स्वास्थ्य के सुझाव उसके अवचेतन मन तक पहुँच गए थे। दोनों कल्पनावादी मन तालमेल में थे।

अगर इस व्यक्ति ने उपचारक की शक्ति और उसके सिद्धांत के सही होने के बारे में अपनी शंकाओं को उस वक़्त उभरने दिया होता, तो यह विरोधी आत्म-सुझाव के रूप में काम करता। उस स्थिति में पादरी के सुझाव बहुत कम असर दिखाते या बिलकुल असफल हो जाते। बहरहाल, उनींदी, निष्क्रिय अवस्था में चेतन मन का विरोध न्यूनतम हो गया था। रोगी का अवचेतन मन पादरी के सुझावों के प्रति ग्रहणशील था। इसने उन सुझावों के अनुरूप कार्य किया और उपचार हो गया।

अनुपस्थित उपचार का अर्थ

मान लें, आप लॉस एंजेलिस में रहते हैं और आपको यह ख़बर मिलती है कि आपकी माँ न्यूयॉर्क सिटी में बहुत बीमार हैं। आपकी पहली इच्छा तो यह होती है कि आप घर-परिवार और नौकरी छोड़कर उनके पास पहुँच जाएँ। लेकिन अगर यह संभव न हो तो? क्या आप अपनी माँ के ठीक होने की प्रक्रिया में अपनी आस्था की शक्ति का प्रयोग नहीं कर पाएँगे?

ऐसा नहीं है। भले ही आप शारीरिक रूप से मौजूद न हों, लेकिन आपकी प्रार्थनाएँ उन तक अवश्य पहुँच सकती हैं। परमपिता सबके भीतर रहते हैं।

रचनात्मक मस्तिष्क एक ही है। मस्तिष्क का रचनात्मक नियम आपको लाभ

पहुँचाता है। आपको तो बस अपने मन में स्वास्थ्य और सामंजस्य का आंतरिक एहसास भरना है। इसकी प्रतिक्रिया स्वतः होती है। आपके अवचेतन मन का यह आंतरिक एहसास आपकी माँ के अवचेतन मन पर काम करता है। सेहत, स्फूर्ति और पूर्णता के आपके विचार एक ही शाश्वत कल्पनावादी मन में काम करते हैं। वे जीवन के कल्पनावादी पहलू के नियम को गतिमान कर देते हैं, जो उनके शरीर में उपचार के रूप में प्रकट होता है।

मस्तिष्क सिद्धांत में समय या स्थान का कोई महत्व नहीं होता है। व मस्तिष्क आपकी माँ और आपमें काम करता है-चाहे आप कहीं भी रहे। वास्तव में कोई भी अनुपस्थित उपचार नहीं होता है, जो उपस्थित उपचार का विरोधी हो, क्योंकि शाश्वत मस्तिष्क हर जगह है। आप विचार भेजने या पकड़ने की कोशिश नहीं करते हैं। आपका उपचार विचार की चेतन गति है। जब आप स्वास्थ्य, कल्याण और आराम के लक्षणों के प्रति जागरूक बन जाते हैं, तो ये लक्षण आपकी माँ में प्रकट होंगे। उसके बाद परिणाम अवश्य मिलेंगे।

यहाँ असल ज़िंदगी का एक उदाहरण दिया जा रहा है, जिसे गलती से अनुपस्थित' उपचार (Absent treatment) मान लिया गया। लॉस एंजेलिस की एक महिला को पता चला कि न्यूयॉर्क में रहने वाली उसकी माँ को कोरोनरी थ्रॉम्बोसिस हो गया है। वह अपनी माँ के पास नहीं जा सकती थी, उसने यह प्रार्थना कीः

उपचारक शक्ति मेरी माँ के पास है। उनके शशीर की स्थिति उनके विचार-जीवन का वैसा ही प्रतिबिंब है, जिस तरह छायाएँ पर्दे पर पड़ती हैं। मैं जानती हूँ कि उस पर्दे की छवियों को बदलने के लिए मुझे उन चीज़ों को बदलना होगा, जिनका वे प्रतिबिंब दिखाती हैं। मैं अब अपने मस्तिष्क में अपनी माँ के लिए पूर्णता, सामंजस्य और संपूर्ण स्वास्थ्य की छवि बना रही हूँ।

जिस असीमित उपचारक शक्ति ने मेरी माँ का शरीर और उनके अंग बनाए हैं, वह उनके अस्तित्व के हर परमाणु में भर रही है और उनके शरीर की हर कोशिका से शांति की धारा प्रवाहित हो रही है। डॉक्टरों को दैवी मार्गदर्शन मिल रहा है। जो भी मेरी माँ को छू रहा है, उसे सही काम करने का मार्गदर्शन मिल रहा है।

मैं जानती हूँ कि रोग अंतिम सच नहीं है; अगर ऐसा होता, तो किसी का उपचार नहीं हो पाता। मैं प्रेम और जीवन के असीमित सिद्धांत की समर्थक हूँ। मैं जानती हूँ और यही आदेश देती हूँ कि मेरी माँ के शरीर में सामंजस्य, सेहत और शांति व्यक्त हो रही है।

उसने दिन में कई बार यह प्रार्थना दोहराई। कुछ दिन बाद उसकी माँ की हालत में उल्लेखनीय सुधार हुआ। उनका हृदयरोग चिकित्सक हैरान था और उसने ईश्वर में प्रबल आस्था के लिए उन्हें बधाई दी।

बेटी के मस्तिष्क के पूर्ण आस्था के साथ स्वीकार किए गए निष्कर्ष ने शाश्वत अवचेतन मन में व्याप्त रचनात्मक ऊर्जा को सक्रिय कर दिया। यह उसकी माँ के शरीर में संपूर्ण स्वास्थ्य और सामंजस्य के रूप में प्रकट हुई। बेटी ने अपनी माँ के बारे में जो सोचा, वह उसकी माँ के अनुभव में अभिव्यक्त हुआ।

अवचेतन मन के गतिशील कर्म को सक्रिय करना

मेरी एक मनोवैज्ञानिक मित्र ने मुझे बताया कि एक महत्वपूर्ण अंग की बायोप्सी में कैंसर की कोशिकाएँ मिलीं। डॉक्टर ने पीड़ादायक और खतरनाक उपचार का सुझाव दिया। इसके लिए हाँ करने से पहले मेरी मित्र ने एक और तकनीक आजमाई। हर रात में सोने से पहले वह शांति से यह विश्वास जताती थी, ''हर कोशिका, नस, तंत्रिका और अंग अब पूर्ण, दोषरहित और आदर्श बन रहा है। मेरे पूरे शरीर में स्वास्थ्य और सामंजस्य दौबारा लौट रहा है।''

लगभग एक महीने में पूर्ण उपचार हो गया। बाद के परीक्षणों में पता चला कि कैंसर की कोशिकाएँ अब नहीं बची थीं।

मैं इससे बहुत प्रभावित हुआ, लेकिन मेरी जिज्ञासा जाग गई। मैंने उससे पूछा कि वह सोने से पहले अपना निश्चय क्यों दोहराती थी। उसने बताया, ''एक बार किसी दिशा में सक्रिय होने पर अवचेतन मन का काम नींद के दौरान भी चलता रहता है। इसीलिए यह बहुत ज़रूरी है कि आप सोने से पहले अवचेतन मन को कोई लाभकारी काम सौंप दें।''

यह बहुत समझदारी भरा जवाब था। यह भी ध्यान दें कि सामंजस्य और पूर्ण स्वास्थ्य के बारे में सोचते समय उसने एक बार भी अपनी बीमारी का नाम नहीं लिया।

मैं प्रबलता से सुझाव देता हूँ कि आप अपनी बीमारियों के बारे में बोलना बंद कर दें या उनका नाम न लें, ख़ास तौर पर सोने से ठीक पहले के घंटों में। उन्हें जिस एकमात्र स्तोत्र से जीवन मिलता है, वह है आपका ध्यान और डर। ऊपर जिस मनोवैज्ञानिक का जिक्र किया गया है, उसकी तरह मानसिक सर्जन बनें। फिर आपकी मुश्किलें भी उसी तरह दूर हो जाएँगी, जिस तरह निर्जीव शाखाएँ किसी पेड़ से टूट जाती हैं।

इसके विपरीत, यदि आप लगातार अपने दर्द और लक्षणों की रट लगाए रहते हैं तथा उनके बारे में बात करते हैं, तो आप उनकी शक्ति बढ़ा देते हैं। आप उस गतिशील कर्म को रोकते हैं, जो आपके अवचेतन मन की उपचारक शक्ति और ऊर्जा को सक्रिय करता है। यही नहीं, आपके ही मस्तिष्क के नियम द्वारा ये कल्पनाएँ आकार लेने लगती हैंः वहीं चीज़ हो गई जिसका मुझे बड़ा डर था। अपने मस्तिष्क में जीवन की महान सच्चाइयाँ भरें और प्रेम की रोशनी की ओर बढ़ें।

आपकी सेहत बढ़ाने के सूत्र

1. पता लगाएँ कि वह कौन सी चीज़ है, जो आपका उपचार करती है। विश्वास करें कि अवचेतन मन को दिए गए सही निर्देश आपके मस्तिष्क और शरीर का उपचार कर देंगे।

2. अवचेतन मन को अपने आग्रह या इच्छाएँ बताने की एक निश्चित योजना बना लें।

3. इच्छित परिणाम की कल्पना करें और इसकी वास्तविकता महसूस करें। इसे लगातार करें; आपको निश्चित रूप से परिणाम मिलेंगे।

4. फैसला करें कि विश्वास क्या है। जान लें कि विश्वास आपके मन का एक विचार है और आप जो सोचते हैं, आप उसकी रचना करते हैं।

5. बीमारी या नुक़सान या चोट पहुँचाने वाली किसी चीज़ में विश्वास करना मूर्खता है। संपूर्ण स्वास्थ्य, समृद्धि, शांति, दौलत और दैवी मार्गदर्शन में विश्वास करें।

6. आप जिन महान् और उदात्त विचारों के बारे में आदतन सोचते. हैं, वे महान् कर्म बन जाते हैं।

7. अपने जीवन में प्रार्थना उपचार की शक्ति लागू करें। निश्चित योजना, विचार या मानसिक तस्वीर चुन लें। उस विचार के साथ मानसिक और भावनात्मक तालमेल बनाएँ। अब आप अपने मानसिक नज़रिए के प्रति आस्थावान रहेंगे, तो आपकी प्रार्थना का जवाब मिल जाएगा।

8. हमेशा याद रखें, अगर आप सचमुच उपचार की शक्ति पाना चाहते हैं, तो आप इसे आस्था के ज़रिये पा सकते हैं, जिसका मतलब है अपने चेतन और अवचेतन मन की कार्यविधि का ज्ञान। आस्था समझ से आती है।

9. अंधी आस्था का मतलब है कि उपचारक शक्तियों की वैज्ञानिक समझ के बिना भी सफल उपचार हो सकता है।

10. अपने बीमार प्रियजनों के लिए प्रार्थना करना सीखें। अपने मन को शांत कर लें। सेहत, स्फूर्ति और पूर्णता के आपके विचार शाश्वत कल्पनावादी मस्तिष्क के माध्यम से आपके प्रियजन के मस्तिष्क में महसूस किए जाएँगे और प्रकट होंगे।

(आपके अवचेतन मन की शक्ति डॉ. जोसेफ़ मर्फ़ी)

मम आंशिक मुक्त के अनुभव जो पूर्ण मुक्ति हेतु प्रेरक

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.देहाची तिजोरी... 2.आत्मशक्ति...)

तीव्र है भाव त्वरा मुक्त बनूँ, राग-द्वेष-मोह से मुक्त बनूँ मैं।
अक्षय अनन्त आत्मसुख पाऊँ, काम-क्रोध-मद से मुक्त बनूँ मैं।।
ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा मुक्त बनूँ, समता-शान्ति-शुचि पाऊँ मैं।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश हनूँ, निश्चल-निच्छल-निर्मल बनँ मैं।। (1)
ख्यातिपूजालाभ से रिक्त बनूँ, शुद्ध-बुद्ध-आनन्द बनूँ।
प्रसिद्धि-वर्चस्व को क्षय करूँ मैं, आत्मलाभ से प्रभु-विभु बनूँ।।
परनिन्दा प्रपञ्च को नाश करूँ मैं, आत्मा से आत्मा में रमण करूँ।
परकर्ता-धर्त्ता-भोक्ता नाशूँ मैं, स्वयं का कर्त्ता-धर्ता-भोक्ता बनूँ।। (2)
मुक्ति का आंशिक सुख सभी पाऊँ मैं, पूर्ण मुक्ति की कल्पना करूँ।
अलौकिक गणित से मान करूँ मैं परिणाम-प्रमाण से ज्ञान करूँ।।

मुणि जो लहई अणंत सुह णिय अप्पा झायन्तुँ।

तं सुह इन्दविणविलहदि देवी वि कोडि रमन्तु।। (परमात्म प्र.)

मुनि जो सुख पाते आत्मध्यान से, वह सुख इन्द्र भी न पाते भोग से।
कोटि देवियों में रमण द्वारा, मुनि के अनन्तवां सुख न पाते भोग से।। (3)
आगम अनुभव विज्ञान द्वारा, करोड़ों अरबों के अनुभव द्वारा।
नेता-अभिनेता खिलाड़ी धनी से, अनुभव करूँ प्रसिद्धि पाने वालों से।।
निस्पृह वीतराग साम्य शान्ति से, ध्यान-अध्ययन होता श्रेष्ठ से।
शोध-बोध-अध्यापन द्वारा, मूल्यांकन करूँ मोक्ष-सुख करण द्वारा।। (4)
ये है मेरे साक्षात् प्रमुख फल, भक्त-शिष्य भी पाते मुक्ति का फल।
तन-मन-आत्मा की शान्ति उन्नति पाते, आहारऔषधिज्ञानउपकरणादि देते।।
हरधर्मपंथमतजाति के भक्त बनते, स्वेच्छा से तन-मन-धन देते।
देश-विदेशों में ज्ञान प्रचार करते, मुझसे धनमानादि नहीं चाहते।। (5)
तीर्थंकरो की सेवा यथा देवादि करते, तीर्थंकर नवकोटि से निस्पृह होते।
तथाहि आंशिक रूप से शिष्य मम करते, गुप्तरूप से भी सेवा-दान करते।।
इससे मेरे अनुभव बढ़ रहे हैं, आध्यात्मिक गुण मेरे बढ़ रहे हैं।
आकिञ्चन्य से त्रैलोक्याधिपति बनूँ, ''कनक श्रमण'' समता साध रहे हैं।। (6)

ग.पु.कॉ. दि-18-8-2020, मध्याह्न-1.33

(यह कविता क्षु. परागश्री व श्रीमती शर्मिला यशवन्त के कारण बनी)

आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता

(आत्मा को ही अपना मानने वाला ही आत्मज्ञानी)

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि।

पर अप्पा जइ मुणहि तुहुं तहु संसार भमेहि।।(12) यो.सा.

पद्य- आत्मा को ही जो आत्मा माने, वे ही निर्वाण को पाते।

पर को जो आत्मा माने है, तो तू संसार में भ्रमण करे।।

समीक्षा-स्व को ही स्व पर को ही पर मानना होता है सम्यक्त्व व सही ज्ञान।

यही भेद विज्ञान या वीतराग ज्ञान, अन्यथा मिथ्यात्व व कुज्ञान।।

इस हेतु ही देव शास्त्र गुरु श्रद्धान, ध्यान अध्ययन व तप त्याग।
इससे होता आत्मा का क्रम विकास, गुणस्थान आरोहण से मिले निर्वाण।।
अन्यथा होता मिथ्या श्रद्धान ज्ञान, जिससे श्रावक साधु धर्म होता कुधर्म।
तप त्याग संयमादि होते हैं मिथ्या, जिससे संसार में होता भ्रमण।।

सन्दर्भ- हे अन्तरात्मन्! तुमने अनन्त दुःख के कारण मूलभूत बहिरात्मपना को त्यागकर परमात्मपना के साधकस्वरूप परम पवित्र, सर्वश्रेष्ठ, समतारूप, सत्य-अहिंसा-अपरिग्रह-ब्रह्मचर्य-रत्नत्रय दस धर्म के जीवन्त/प्रायोगिक रूप जो साधु को प्राप्त किया है उसमें मनसा-वचसा-कर्मणा एकनिष्ठ होकर समस्त कल्याण के मूलभूत आत्मकल्याण में सतत, समग्रता से प्रयत्न करो क्योंकि ये ही एक कार्य है जो कि तुमने अनन्त काल से अनन्त जन्म में भी नहीं किया है। इसके अतिरिक्त और समस्त कार्य यथा-जन्म, मरण, भोग-उपभोग, शत्रुता, मित्रता, युद्ध-कलह, मान-अपमान, मरन-मारना, सत्ता-सम्पत्ति, प्रसिद्धि-बुद्धि, वैभव, राज-पाट, अमीरी-गरीबी, रोग-शोक, भय-उद्वेग, क्लेश-संक्लेश, तनाव-उदास, आदि समस्त कार्य अवस्थाओं को तुमने किया, करवाया, अनुभव किया है। इन सब कार्यों से तुमने अनन्तज दुःख भी भोगे हैं अतः एव हे सुखेच्छु, संवेग-वैराग्य युक्त आत्मन्! अभी तो कम से कम एक बार भी स्वयं के लिए मरकर भी देखो कि स्वयं के लिए मरण से तुम कैसे अमृत बन जाते हो, अजर-अमर, शाश्वतिक, ''सच्चिदानंद'' ''सत्यं शिवं सुदरम्'' बन जाते हो। यथाः-**अयि कथमपि मृत्वा तत्वाकौतूहली सन् अनुभव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्। पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।। अमृत कलश**

हे शान्ति के इच्छुक आत्मन्! तत्त्व कौतुहल आदि किसी भी प्रकार से मरकर भी स्व-विज्ञानघनस्वरूप आत्म तत्त्व को मोह, माया, शोक-दुःख से मुहूर्तमात्र के लिए अलग अनुभव करो और जब ऐसा अनुभव करो तो तत्काल स्वशुद्धात्मा से भिन्न भौतिक/अनात्म/विकारभूत मोहादि को हठात् त्याग कर दो। इससे तुम निर्मल/पवित्र आनन्द घनस्वरूप हो जाओगे।

विरम किमपरेणकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्। हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भायाति किं चोपलब्धि।।

हे आत्मन्! संसार के अकार्य कोलाहल से विराम लो। स्वयं ही समस्त संकल्प-विकल्पों से अवकाश प्राप्त करके स्व-आत्मस्वरूप का अवलोकन/अनुभव करो। तब स्वयं को अनुभव हो जाएगा कि तुम्हारा चैतन्य शुद्ध-स्वरूप समस्त भौतिक स्वरूप से भिन्न है या नहीं? अर्थात् निश्चय से भिन्न है।

अतएव हे आत्मन्! आत्मविश्वास, आत्मज्ञान, आत्म अनुसंधान, आत्म परीक्षण-निरीक्षण, आत्मविश्लेषण, आत्मानुचरण से ही स्वात्मोपलब्धि रूप सुख-शान्ति, संवर, निर्जरा, मोक्ष प्राप्त किया जाता है। अन्य सब धार्मिक क्रिया-कण्ड, व्रत-नियम-उपनियम, तप-त्याग, परीषह-उपसर्ग सहन, पूजा-पाठ, जप-तप, मंत्र-ध्यान आदि इसके लिए साधन/निमित्त/कारण/उपाय हैं।

हे साधकात्मन्! तुम्हारा निज आत्म वैभव अक्षय अनन्त है। वर्तमान पंचमकाल के समस्त देश-विदेश के सामान्य जन से लेकर उद्योगपति, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, वैज्ञानिक, साधु-संत के वैभव सीमित हैं, क्षायोपशमिक, कर्म सापेक्ष हैं। अतएव आत्म वैभव की अपेक्षा वर्तमान के स्व-पर के वैभव अत्यन्त तुच्छ हैं/हेय हैं, इसलिए वर्तमान के स्व-पर वैभव से न राग करो, न ईर्ष्या करो, न अहंभाव करो, न दीनभाव करो। जो कुछ तुम्हारी वर्तमान की उपलब्धि है उसका सतत सदुपयोग निज आत्म वैभव की उपलब्धि के लिए ही करो। वर्तमान की उपलब्धि का उपयोग ख्याति, पूजा, लाभ, प्रसिद्धि, संक्लेश-तनाव, ईर्ष्या-द्वेष, लन्द-फन्द में करके इह-परलोक में दुःखी मत हो। शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है कि प्राचीनकाल के तीर्थंकर, गणधर आदि चार ज्ञान एवं चौसठ ऋद्धियों के स्वामी होते हुए भी उन सब का उपयोग ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि या यहाँ तक कि उनके ऊपर उपसर्ग-परीषह करने वालों के निवारण के लिए नहीं किया क्योंकि ऐसा करने से उपलब्धि का (1) सम्यक् सदुपयोग नहीं होता (2) प्राप्त उपलब्धि में मन्दता आती है (3) आत्मोत्थ अक्षय उपलब्धि में बाधा होती है। अतः हे आत्मन्! ''वन्दे तद्गुण लब्धये'' के अनुसार तुम्हारी पंचपरमेष्ठी में जो पूजा/भक्ति/प्रार्थना तब यथार्थ होगी जब तुम उनके गुणों को स्वीकार करोगे क्योंकि गुणानुस्मरण, गुणानुवादन तथा गुणानुकरण ही यथार्थ भक्ति है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र है। हे आत्मन् ''आदहिदं कादव्वं यदि चेत् परहिदं कादवं, आदहिदं परहिदादं

आदहिदं सुट्ठू कादव्वं। उत्तमा स्वात्मचिंतास्यान्मोहाचिन्ता च मध्यमा, अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिंताऽधमाधमा।।'' अर्थात् जिस प्रकार दीपक स्वयं पहले प्रकाशित होकर दूसरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तुम स्वयं स्वउपकार करते हुए परोपकार करो। इसके बिना अन्य समस्त प्रपंच, ढ़ोंग-पाखण्ड, संक्लेश त्याग करो।

सिद्धि एवं श्रेय मार्ग

कुबोध रागादि विचेष्टितैः फलं, त्वयाऽपि भूयोजननादि लक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतीलोम वर्तिभि, ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणनम्।। आत्मानुशासनम्

हे भव्य! तूने बार-बार मिथ्यात्व, अज्ञान एवं राग द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म-मरणादि रूप फल प्राप्त किया है उसके विरूद्ध प्रवृत्तियों सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर-अमर पद को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर।

दयादमत्याग समाधि संततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामनगोचर, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ।।(10)

हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इन्द्रिय दमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित हैं।

दया-दम-त्याग-समाधि निष्ठम् नय प्रमाण प्रकृताऽञ्ज्साऽर्थम्।
अधृत्यमन्यैरखिलैः प्रवादैः, जिन! त्वदियं मतद्वितीयम्।।(6) युक्त्यानुशासनम्

हे वीर जिन! आपका यह अनेकान्त रूप शासन अद्वितीय है। यह दया, दम, त्याग और समाधि में तपाता है। नयों एवं प्रमाणों द्वारा इसमें द्रव्य पर्याय स्वरूप जीवादिक तत्त्वों का अविरोध रूप से, सुनिश्चित असंभव बोधकरूप से निर्णय किया गया है एवं इसमें समस्त एकान्त प्रवादों दर्शनमोहनीय के उदय से सर्वथा एकान्तवादियों की कल्पित मान्यताओं द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती है।

हे आत्मन्! मोक्ष प्राप्ति का पूर्ण अद्वितीय मार्ग रत्नत्रय ही है। अनन्त अनंतदर्शियों ने इस मार्ग पर चलते हुए मोक्ष को प्राप्त किया है। उन्होंने अनंतज्ञान को प्राप्त करके पूर्णरूप प्रत्यक्ष से अनुभव करके रत्नत्रयात्मक मार्ग को ही यथार्थ मार्ग और इससे

अतिरिक्त कुमार्ग, दुःख का मार्ग एवं संसार का मार्ग कहा है। आचार्यप्रवर समंतभद्र स्वामी ने कहा भी हैः-

सदृष्टिज्ञान वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।

यदिय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति।।(3)

सद्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र ही धर्म है, मोक्ष का मार्ग है, इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं कुचारित्र ही कुधर्म है, दुःख का मार्ग है, संसार का मार्ग है, ऐसा धर्म के ज्ञाता धर्म के प्रभु ने बताया है। आचार्य उमास्वामी भी मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र का प्रतिपादन करते हुए प्रथम पंक्ति में बताते हैं कि :-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः।। ''तत्त्वार्थ सूत्र''

Right belief, Right knowledge, Right conduct, these (Together contribute) the path to liberation

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों का सम्यक्, संयोग रूप त्रयात्मक मोक्ष का मार्ग है।

"Self reverence, self knowledge and self control, these three alone lead life to sovereign power".

हे मुनेः! आध्यात्मिक दर्शन के समर्थ प्रचार प्रसारक कुन्दकुन्दस्वामी आध्यात्मिक जगत् की अद्वितीय कृति समयसार में भी विमुक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैंः-

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।

रागादीपरिहरणं चरणं ऐसा दु मोक्खपहो।।(162) समयसार

एसो दु मोक्ख पहो इत्येव व्यवहार मोक्ष मार्गः।।

यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

रागादि परिहरणं चरणं - तेषामेव सम्बन्धित्वेन रागादि परिहारश्चरित्रं।

रागादि परिहरणं चरणं और उन्हीं के सम्बन्ध से होने वाले जो रागादिक विभाव होते हैं उनको दूर हटा देना सो सम्यक्चारित्र कहलाता है। हाँ, भूतार्थनय के द्वारा जाने हुए उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में ठीक-ठीक अवलोकन करना निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है और उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी

शुद्धात्मा से पृथक् रूप में जानना सो निश्चयसम्यग्ज्ञान है और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादिक रूप विकल्प से रहित होते हुए अपनी शुद्धात्मा में अवस्थित होकर रहना, निश्चय सम्यक् चारित्र है, इस प्रकार यह निश्चय मोक्ष मार्ग है।

हे भव्य! नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव द्रव्यसंग्रह में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए निम्न प्रकार बताते हैं :-

सम्मद्दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहार णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा।।(39)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण मानो तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र स्वरूप जो निज आत्मा है, उनको मोक्ष का कारण मानो।

रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग है। निश्चय से रत्नत्रय रूप परिणित आत्मा ही मोक्षमार्ग है। स्वयं आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग किस प्रकार का होता है? इसका प्रति उत्तर देते हुए आचार्य श्री ने कहा है-

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवि यम्हि।
तम्हा तत्तियमइयो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।।(40)

आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है, वही निश्चय से मोक्ष का कारण है।

कुन्दकुन्दस्वामी भी यह भेदा-भेदात्मक निश्चय-व्यवहारात्मक मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :-

दंसण णाण चरित्ताणी सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।(5)

साधु को रत्नत्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न-भिन्न समझकर नित्य-सदा ही इनकी उपासना करनी चाहिए, अपने उपयोग में लाना चाहिए, किन्तु शुद्ध निश्चयनय से वे तीनों एक शुद्धात्मस्वरूप हैं, उससे भिन्न हैं ऐसा समझ लेना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पंचेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों होते हैं।

णिज्जावगो ये णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि।

भवसागरं तु भविया तरंति तिहि सण्णिवायेण।।(900)

खेवटिया ज्ञान है, वायु ध्यान है, और नौका चारित्र है। इनके संयोग से ही भव्य जीव भवसागर से तिर जाते हैं।

णाणं पयासओ तओ सोधयो संजयो य गुत्तियरो।

तिण्हंपि य संपजोगे होदि हु जिण सासणे मोक्खे।।(901)

ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और संयम रक्षक है इन तीनों के संयोग से ही अर्थात् मिलने पर ही जिनशासन में मोक्ष प्राप्त होती है।

तवेण थीरा विधुणंति पावं अज्झप्पजोगेण खावंति मोहं।

संखीण छुदरागा दोसा उत्तम सिद्धगदिं पयांति।।(903)

धीर मुनि तप से पाप नष्ट करते हैं, अध्यात्म योग से मोह का क्षय करते हैं अतः वे उत्तम पुरुष मोह रहित और राग-द्वेष रहित होते हुए सिद्ध गति प्राप्त कर लेते हैं।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।

क्षमार्ज्जवदयातोषं सत्यं वियूषवद् भज। सू. 2 अष्टावक्रगीता

हे प्रिय! यदि तू मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।

एको विशुद्ध बोधव्योऽहमिति निश्चयवह्निना।

प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव।। सूत्र 9

'मैं एक विशुद्ध बोध हूँ' ऐसी निश्चयनयी अग्नि से गहन अज्ञान को जलाकर तू शोकरहित हुआ सुखी हो।

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।

अगाधबुद्धिरब्धो भव चिन्मात्रवासनः।। सूत्र 17

''तू निरपेक्ष है, निर्विकार है, स्व निर्भर है, शान्ति और मुक्ति का स्थान है, अगाध बुद्धिरूप है, क्षोभ-शून्य है। अतः चैतन्य मात्र में निष्ठा वाला हो।''

समदुःखसुखपूर्ण आशानैराश्ययोः समः।

समजीवित मृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज।। सूत्र 4

''दुःख और सुख जिसके लिए समान हैं, जो पूर्ण है, जो आशा और निराशा

में समान है, जीवन और मृत्यु में समान है, ऐसा होकर तू मोक्ष को प्राप्त हो।''

इच्छा रहित तप ही निर्वाण का कारण

इच्छा रहियउ तव करहि अप्पा अप्प मुणेहि।
तउ लहु पावइ परमगइ पुण संसार ण एहि।।(13)

पद्य- इच्छा रहित तप करो हे! आत्मन्, आत्मा का ही अनुभव करो।
तब पाओगे शीघ्र परमगति, पुनः संसार भ्रमण न करोगे।।

समीक्षा-इच्छा निरोध होता सही तप, इह पर लोक भोगाकांक्षा से रहित।
ख्याति पूजा लाभ सत्कार पुरस्कार, धन जनमान वर्चस्व से रहित।
केवल स्व शुद्धात्मा उपलब्धि हेतु, जो होते तप त्याग संयम।
ज्ञान ध्यान उपवास रसत्यागादि, वे ही यथार्थ अन्यथा पतन।।
इच्छा निरोध तप के बिना तो, होते आर्त्त तथा रौद्र ध्यान।
निदान आर्त्त ध्यान परिग्रहानन्द ध्यान, ये कुतप व मिथ्याध्यान।।

जो शुद्ध भाव का ही अनुभव करता है, वह एकाग्र मन हो स्वयं दर्शन ज्ञानमय होकर आत्मा को या मोक्ष को पा लेता है।

श्री गुणभद्राचार्य **आत्मानुशासन** में कहते हैं :-

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्।।(174)
मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान् मूलांकुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा।।(182)
अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो,
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम्।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः,
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम्।।(189)

भावार्थ : आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है। उस स्वभाव की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं, इसलिए मोक्ष के वांछक को ज्ञान की भावना भानी चाहिए जैसे बीज से

मूल व अंकुर होते हैं वैसे मोह के बीज से रागद्वेष पैदा होते हैं। इसलिए जो इन रागद्वेषों को जलाना चाहे उसे ज्ञान की आग जलाकर उनको भस्म कर देना चाहिए। हे भव्य! तू सर्व शास्त्रों को पढ़कर व चिरकाल तक घोर तप तपकर यदि इन दोनों का फल सांसारिक लाभ या पूजा प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो तू जड़बुद्धि होकर सुन्दर तपरूपी वृक्ष की जड़ को ही काट रहा है, किस तरह तू रसीले पक्के फल को अर्थात् मोक्ष के फल को पा सकेगा?

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड में कहते हैं-

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो झाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं।।(89)

श्रुत-परिचित-अनुभुतः समस्त काम-भोग बंध कथा
(सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा)

आस्तिक हो या नास्तिक, कर्तावादी हो या अकर्तावादी, धार्मिक हो या अधार्मिक देशी हो या विदेशी, कीट-पंतग पशु-पक्षी हो या स्वर्ग के देवता, गृहस्थ हो या साधु चार्वाक दर्शन/सांसारिक सुख, भोग का प्रायोगिक जीवन में जीते हैं। भले वे किसी भी परंपरा, दिखावा, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, संत-ग्रंथ, पंथ-मत, महापुरुष-धर्म संस्थापक, धर्म प्रचारक, मूर्तिपूजक आदि के अनुयायी क्यों न हो। क्योंकि जीव का स्वभाव अनंत सुख स्वरूप होने से प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दुःख से भयभीत होता है।

सुख की उपलब्धि के लिए अनेक उपायों का शोध-बोध-अविष्कार-प्रायोगिकरण अनादि अनंत काल से लेकर आधुनिक काल तक हो रहा है। अतएव ''यतोऽभ्युदयानिः श्रेयससिद्धिस्सः धर्मः'' अर्थात् ''जिससे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होकर लौकिक/सांसारिक सुख एवं समस्त दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति स्वरूप स्वात्मोपलब्धि रूप मोक्ष की प्राप्ति हो सके उसे धर्म कहते हैं'' रूपी महान् सूत्र/सिद्धान्त/प्रणाली का निर्माण हुआ। परंतु यथार्थ विश्वास, विवेक, आचरण के बिना जीव अनादि काल से सांसारिक सुख स्वरूप इंद्रिय जनित काम-भोग, विषय-वासना रूप देह सुख को ही सुख मान रहा हैं, जान रहा हैं, भोग रहा है और उसके लिए सतत प्रयत्नशील है।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा।
एयत्तसुवलंभो णवरि ण सुलह विहतस्स।। (4) समयसार

अनादि काल से जीव ने समस्त काम-भोग-बन्ध कथा को सुना, परिचित हुआ, अनुभव किया, अतएव यह सब काम-भोगादि सुलभ है, उस के प्रति अत्याधिक आकर्षण/लोलुपता/तृष्णा है। इस कार्य में संसार के प्रत्येक जीव न केवल शिष्य/प्रशिक्षु/प्रशिक्षणाधीन है परंतु दक्ष/कुशल/मास्टर/आचार्य है। अर्थात् स्वयं आचरण करता है और दूसरों को भी आचरित/प्रेरित/प्रशिक्षित करता है, इसीलिए तो निम्न श्रेणीय एककोशीय जीव से लेकर वनस्पति, कीट-पतंग, पशु-पक्षी, मनुष्य, स्वर्ग के देव तक स्वेच्छा से स्व-प्रकृति से सांसारिक सुख के लिए प्रवृत्त होते हैं।

एकेन्द्रिय जीव से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक अनन्तानन्त जीव केवल सांसारिक सुख को ही जानते हैं, मानते हैं, भोगते हैं। क्योंकि इनके मन नहीं होने के कारण वे सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकते हैं। जिसके कारण वे सम्यग्ज्ञानी तथा सम्यक् आचरण वाले नहीं बन सकते हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव यथा-पशु-पक्षी, मनुष्य, नारकी, देव में तो मन होता है परंतु वस्तुस्वरूप का यथार्थ विश्वास/श्रद्धान जिस को नहीं होता है वे भी उपुर्यक्त जीव के समान ही सांसारिक सुख भोगी होते हैं। उनमें जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे श्रद्धा रूप से तो आत्मसुख को मानते हैं परंतु आचरण रूप से भी वे सांसारिक सुख को भोगते हैं। जो सम्यग्दृष्टि के साथ-साथ अणुव्रती-सागार/पंचमगुणस्थानवर्ती होते हैं वे भी श्रद्धा के साथ-साथ कुछ अंश में सांसारिक सुख को त्याग करते हैं तो कुछ अंश में सांसारिक सुख को भोगते हैं।

अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुः संज्ञाज्वरातुराः।
शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागारा विषयोन्मुखा।। (2)

अनादिकालीन अविद्यारूपी दोषों से उत्पन्न होने वाली, चारों संज्ञा रूपी ज्वर से पीड़ित, निरंतर आत्म ज्ञान से विमुख, विषयों के सन्मुख गृहस्थ होते हैं।

जिस प्रकार वात, पित्त और कफ की विषमता से साध्यप्राकृत, असाध्यप्राकृत, साध्यवैकृत असाध्यवैकृत के भेद से चारप्रकार के ज्वर उत्पन्न होते हैं। उन ज्वरों से पीड़ित होने के कारण मनुष्य हिताहित के विवेक से शून्य हो जाते है और अपथ्यसेवी

बन जाते हैं, उसी प्रकार अनित्य पदार्थों में नित्य, अपवित्र पदार्थों में पवित्र, दुःख को सुख, हेय पदार्थों को उपादेय, अपने से पृथक् स्त्री, पुत्र, मित्रादिक बाह्य पदार्थों को अपना मानना यही एक अनादिकालीन अविद्या है। इस अविद्यारूप वात, पित्त, कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाली आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रह संज्ञारूपी ज्वर से पीड़ित होकर यह प्राणी हिताहित के विवेक से शून्य होकर अपथ्यसेवी बन रहा है अतः अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहा।

अनाद्यविद्यानुस्यूतां ग्रंथसंज्ञामपासितुम्।

अपारयन्तः सागराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः।। (3) सा.धर्मा.

अनादिकालीन अज्ञान के कारण परम्परा से आने वाली परिग्रहसंज्ञा को छोड़ने के लिए असमर्थ प्रायः करके गृहस्थ होते हैं।

जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है, उसी प्रकार अनादिकालीन अज्ञानभाव से परिग्रहादि संज्ञा से अज्ञानभाव (अर्थात् द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म) इस प्रकार अनादि (जिसका प्रारंभ नहीं है) अविद्या से उत्पन्न हुई ग्रंथ संज्ञा अर्थात् परिग्रह में वह मेरा है इस प्रकार के परिणामों को छोड़ने में असमर्थ होकर प्रायः गृहस्थ स्त्री आदिक में मैं इनका भोक्ता हूँ, मैं इनका स्वामी हूँ, यह मेरी योग्य वस्तु है इस प्रकार के ममकार, अहंकाररूप विकल्प जाल की परतंत्र से वशीभूत होकर विषयों में मूर्च्छित हो जाता है। इस श्लोक में प्रायः यह शब्द दिया है इससे यह सूचित होता है कि प्रायः सम्यग्दृष्टि भी चारित्रमोहनीय के वशीभूत होकर विषयों में मूर्च्छित हो जाते हैं, परंतु कोई विरले सम्यग्दृष्टि जन्मान्तर में किए हुए रत्नत्रय के अभ्यास से भरत चक्रवर्ती आदि के सामन चक्रवर्ती, इंद्रपद आदि का अनुभव करते हुए भी ''असतीनाथोपभोगन्याय'' से तत्त्वज्ञान, दशेसंयम आदि की तत्परता होने से नहीं भोगने वाले के समान है। इस विशेषता को बताने के लिए प्रायः शब्द दिया गया है। सप्तम प्रतिमा से सांसारिक सुख का त्याग अधिक होता है जिससे आत्मिक सुख उस अंश से अधिक होता जाता है। यह हानि एवं वृद्धि क्रम आगे अंश-अंशी भाव से बढ़ता जाता है। क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका/साध्वी तक पंचमगुणस्थान/आध्यात्मिक सोपान की उत्कृष्ट स्थिति है। इस गुणस्थान की इस अवस्था में स्थूल सांसारिक

विषय-भोग स्वरूप सुख भोग तो नहीं होता है परन्तु सुख का भी सद्भाव है। सर्व सांसारिक भौतिक परिग्रह/साधन त्यागरूप षष्ठम गुणस्थानवर्ती साधु/अनागार को पूर्ववर्ती उत्कृष्ट पंचमगुणस्थान से भी अधिक आध्यात्मिक सुख का अनुभव होता है जिससे उसे सांसारिक सुख का वेदन और भी सूक्ष्म हो जाता है। क्योंकि-

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।

तथा तथा च रोचन्ते, विषया सुलभा अपि।। इष्टो.

जैसे-जैसे विशुद्ध आत्मस्वरूप के अभिमुख योगीजन गमन करते हैं अर्थात् आत्मस्वरूप में लीन होकर उसकी अनुभूति करते हैं वैसे-वैसे सुलभ भी रमणीय इंद्रिय जनित भोग में वृद्धि उत्पन्न नहीं होती है। महासुख की उपलब्ध होने पर अल्पसुख के कारण का अनादर लोक में भी दिखाई देता है।

यथा यथा न रोचन्ते, विषया सुलभा अपि।

तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।। इष्टो.

विषय विरक्ति ही योगी की स्व-आत्म-संवित्ति की सूचना देने वाली है उसके अभाव से अर्थात् विषय विरक्ति के अभाव से आत्म संवित्ति भी नहीं तो सकती है। विषय विरक्ति से आत्म-संवित्ति भी वृद्धि को प्राप्त हो जाती है।

निशामयति निश्शेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।

स्पृहयत्याम्यलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते।। इष्टो.

जो आत्म-संवित्ति का रसिक/ध्याता है वह संपूर्ण चराचर बाह्य वस्तु को उपेक्षा रूप से देखता है। उसे हेय, उपादेय, ग्रहणीय, एवं त्यजनीय का ज्ञान होने के कारण इन्द्रजालियाँ (जादूगर) के द्वारा प्रदर्शित सर्प व हार के समान समस्त सांसारिक वस्तु प्रतिभाषित होती है इसलिए वह संसार को इंद्रजाल के समान अवास्तविक मानकर चिदानन्द स्वरूप स्व-आत्म संवित्ति को चाहता है तथापि स्व-आत्मा से अतिरिक्त किसी वस्तु में स्व-चित्त की प्रवृत्ति पूर्व संस्कार वश हो जाती है, तब वह पश्चाताप करता है। वह दुःखी होकर सोचता है कि हाय! मेरे से यह अनात्मक कार्य कैसे हो गया। परंतु संज्वलन एवं नोकषाय के यथायोग्य तीव्र, मध्यम, मन्दता के कारण तदनुकूल सांसारिक सुख का सद्भाव है परंतु उसकी मंदता के कारण एवं आध्यात्मिक सुख की तीव्रता के कारण वह सुख अकिंचित्कर हो जाता है। यथा-

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिः स्थिते।

जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः।।

देहादि से निवृत्त होकर जो स्व-आत्मा में लीन होकर प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार से दूर होकर ध्यान करता है ऐसे योगी के स्व-आत्म ध्यान से एक अनिर्वचनीय परमानंद उत्पन्न होता है जो आनंद अन्य में असंभव है।परंतु यह वर्णन यथार्थ से जो अन्तरंग में चतुर्थ, पंचम, षष्ट्म गुणस्थानवर्ती यथा क्रम से जैनी, श्रावक/सागार, साधु/अनगार है उनके लिए न केवल बाह्य से जो जैनी, श्रावक, साधु है उनके लिए है। वे बाह्य आचरण वाले पूर्णतः सांसारिक सुख के भोगी ही होते हैं। क्योंकि मोही/मिथ्यादृष्टि जो कुछ सांसारिक काम या अध्यात्मिक काम करता है वह सब भोग निमित्त है न कि कर्मक्षय निमित्त है। (मिच्छादिट्ठि जं कुणइ तं सव्व भोग णिमित्तं ण हु कम्मक्खय णिमितं)।

धर्मः शब्द मात्रेण बहुशः प्राणिऽधमा।

अधर्ममेव सेवन्ते विचार जड चेतसाः।।पद्मपु.

अधिकांशतः विचारहीन अधर्मी प्राणी धर्म शब्द को लेकर अधर्म ही सेवन करते हैं। आदि शंकराचार्य कहते हैं कि-

जटिलो मुण्डी लुंचित केशः कषायाम्बरः बहुकृतवेषं।

पश्यन्नपि न च पश्यति मूढः उदर निमित्तं बहुकृत वेषः।।

जटा बढ़ाने वाले, सिर मुंडन करने वाले, कषायाम्बरादि अनेक धार्मिक वेषों को धारण करने वाले मूढ़ लोग जो कि आत्मधर्म से रहित होने के कारण आत्मा के सत्य धर्म को नहीं देखते हैं वे मूर्ख केवल उदरपोषण के लिए अनेक प्रकार बाह्य वेष को धारण करते हैं। वे केवल स्वार्थ सिद्धि के लिए, यश, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, अर्थशोषण के लिए बाह्य वेष बनाकर धर्मोपदेश करते हैं परंतु अन्तरंग से बगुला भक्त होते हैं। जैसे कि बक पक्षी बाह्य में शुक्ल होता है एवं जलाशय में एक पैर पर खड़ा रहकर ध्यानी के समान ध्यान करता है परंतु जब जलाशय के ऊपर मछली आती है तब मछली को ओम् स्वाहा करता है। इसी प्रकार कुछ पाखंडी साधु बाह्य से धार्मिक वेष-भूषा धारण करते हैं और भोले प्राणियों को अपने चंगुल में फँसाने के लिए अनेक धार्मिक मायाजाल फैलाते है और संयोग मिलने पर बक पक्षी के समान

धन, जन, जीवन तक का अपहरण कर लेते हैं। किसी नीतिकार ने कहा भी है-

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।

धर्मे स्वयंमनुष्ठानं कस्यचित् महात्मनः।।

दूसरों को सदाचार का, धर्म का उपेदश देना सरल है किंतु उस उपदेशानुसार स्वयं आचरण करने वाले जगत् में कोई विरले ही सज्जन है। कुछ जिव्हा, लालची, स्वार्थी, कामूक व्यक्ति धर्म के ठेकेदार बनकर धर्म के नामपर मद्य-मांस आदि का प्रचार प्रसार करते हैं।

मद्य मांस च मीन मुद्रा मैथुनमैव च।

एते पंचम मकारास्युर्मोक्ष दाहि युगे-युगे।। कालीतंत्र

मद्य-मांस-मछली-मुद्रा (पूरी, कचोरी, बडे) और मैथुन ये पांच मकार युग-युग में मोक्ष देने वाले हैं।

पीत्वा-पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।

उत्थाय च पुनः पीत्वा भूयो जन्म न विद्यते।।

जो सुरा को बार-बार पीता है जिसके कारण वह जमीन में गिर जाता है पुनः खड़े होकर पीता है इस प्रकार व्यक्ति संसार में बार-बार जन्म ग्रहण नहीं करता है। निष्कर्ष रूप से मेरा (आ. कनकनन्दी) जो विभिन्न विधा के लाखों व्यक्तियों का दीर्घ अनुभव है उसके आधार पर मैं इस समीकरण पर पहुँचा हूँ कि समान्य प्राणी से लेकर हर संप्रदाय से अनेक साधु-संत तक पंचेन्द्रियों के भोगोपभोग, चार संज्ञा (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह), चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), पांच पाप (अहिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह) रूपी सांसारिक सुख/आवेश/विवशता/परतत्रंता से प्रभावित होकर ही सोचते हैं, जानते हैं, मानते हैं, बोलते हैं, करते हैं किंतु सत्य, समता, आध्यात्मिक, मोक्षसुख, व्यापकता, उदारता, सहिष्णुता, पवित्रता, वीतरागता आदि का प्रायः अभाव रहता है।

क्या आय ही हमारी खुशी का पैमाना है

-हीलेन ओलेन

कहावत है, पैसा खुशी नहीं खरीद सकता, हममें से बहुत से लोग इस बात

को मानते भी हैं। इस बारे में मैंने दो किताबें लिखी है। लोग मुझे एक दशक पुराने अध्ययन का हवाला देते हैं, जिसमें पाया गया कि सालाना 75 हजार डॉलर से अधिक की कमाई भी लोगों की मनोदशा पर ज्यादा प्रभाव डालती। कुछ लोग रिसर्च की इस बात में सहमत नहीं है कि जिनके पास अधिक धन है, वे जीवन में ज्यादा संतुष्ट रहते हैं। वे उस अध्ययन से भी सहमत नहीं है, जिसमें कहा गया कि जिनके पास 80 लाख डॉलर की धनराशि वाले इससे कम रखने वालों की तुलना में ज्यादा खुश रहते हैं। पिछले माह आया एक और दिलचस्प अध्ययन हमें धन और खुशी के मामले में विचार का एक नया दृष्टिकोण प्रदान करता है। यह काफी संभव है कि असमानता का युग हमारी खुशी के लिए आया है। पिछले महीने एक जर्नल में प्रकाशित इस अध्ययन में शोधकर्ता जीन ट्वेंग और ए. बेल कूपर ने एक सामाजिक सर्वे में खुशी पर सवालों के जवाबों का अध्ययन किया। दशकों से लोगों के सवालों के जबाव ढूंढे कि क्या कोई बहुत खुश था। उन्होंने पाया कि पैसा और प्रतिष्ठा का इस्तेमाल खुशी खरीदने के लिए किया गया, लेकिन यह स्थिर खोज नहीं है। जीवन की आवश्यकताओं में अंतर के लिए कीमतों में कमी आने की बजाय और बढ़ गई। अध्ययनों में सामने आया है कि पैसे से प्रसन्नता की एक वजह यह भी है कि पैसे के उपयोग से हम उन हालातों से निकल सकते हैं, जो हमें अप्रिय लगते हैं। या उन कार्यों को कर सकते हैं जो हमें खुशी देते हैं। जैसे हाउसकीपिंग या खाना बनाना। ये पैसे बचाने के साथ ही खुशी के स्तर को भी बढ़ा सकता है।

एक बड़ा वर्ग आज भी यही मानता है कि खुशी धन और आय से जुड़ी है, लेकिन इस थ्योरी को नकारने के आधार कई हैं। यदि धन से खुशी आती तो दुनिया में कई धनी लोग कुंठा और हताशा में कभी जीवन नहीं जीते। खुशी, पैसा नहीं संतुष्ठि का भाव है। यह पैसा, नहीं हमारे परिश्रम और प्रयासों से आती हैं।

नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं
प्रेष्यः सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहास्यलं बृहयन्।।
नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसुज्यात्मवा-
नात्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिमिनिर्वृतः।। (64)

हे भव्यप्राणी! तू नेत्रादि इन्द्रियोंरूप स्वामी से अथवा नेत्रादि इन्द्रियों के स्वामीस्वरूप मन से प्रेरित दास के समान होकर संक्लेशयुक्त होता हुआ रूपादि समस्त विषयों को प्राप्त करने के लिये हीनाचरणों के द्वारा क्यों अतिशय पापों को बढ़ाता है और खेदखिन्न होता है? तू उन इन्द्रियों को ही अपना दास बनाकर संक्लेश से रहित होता हुआ रूपादि समस्त विषयों को छोड़ दे और जितेन्द्रिय होकर अपनी आत्मा को प्रसन्न कर। इससे तू सदाचरणों के द्वारा पाप से रहित होकर मुक्ति को प्राप्त करता हुआ समीचीन सुख का अनुभव कर सकता है। **विशेषार्थ**-यह प्राणी जबतक इन्द्रियों का दास बनकर उनको सन्तुष्ट करने के लिये अनेक प्रकार से अयोग्य आचरण करता है तब तक उसके अशुभ कर्मों का बन्ध होता रहता है जिससे कि उसे कभी शान्ति प्राप्त नहीं होती। परन्तु जब वह जितेन्द्रिय होकर उन इन्द्रियों को स्वयं दास बना लेता है जब उसकी वह दुराचारमय प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है-बढ़ती हुई विषयाकांक्षा नष्ट हो जाती है। इससे वह शुभ ध्यान (धर्म व शुक्ल) में प्रवृत्त होकर रत्नत्रय की पूर्ण करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और वहां निरन्तर अव्याबाध सुख का अनुभव करता है।

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तितः।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेकः सुखी सुखी।। (65)
परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्तं केवलं वरम्।
अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः।। (66)

धनाभिलाषी निर्धन मनुष्य तो धन को न पाकर दुखी होते हैं और धनवान् मनुष्य सन्तोष के न रहने से दुःखी होते हैं। इस प्रकार खेद है कि सब ही (धनी और निर्धन भी) प्राणी दुःख का अनुभव करते हैं। यदि कोई सुखी है तो केवल एक सन्तोषी (तृष्णा से रहित) मुनि ही सुखी है। धनवानों का सुख पराधीन है। उस पराधीन सुख की अपेक्षा तो आत्माधीन दुःख अर्थात् अपनी इच्छानुसार किये गये अनशन आदि के द्वारा होनेवाला दुख ही अच्छा है। कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर तपश्चरण करनेवाले साधुजन 'सुखी' इस नाम से युक्त कैसे हो सकते थे? अर्थात् नहीं हो सकते थे। **विशेषार्थ**-यदि विचार कर देखा जाय तो संसार में कोई भी प्राणी सुखी नहीं है-प्रायः सब ही दुखी है। उनमें निर्धन जन तो इसलिये दुःखी है

कि विना धन के वे अपनी आश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाते हैं। इसलिये वे उनकी पूर्ति के योग्य धन को प्राप्त करने के लिये निरन्तर चिन्तातुर रहते हैं, परन्तु वह उन्हें प्राप्त होता नहीं है। इसके अतिरिक्त वे जब अपने सामने धनवानों के ठाट-बाट (रहन-सहन) को देखते हैं तो इससे उन्हें ईर्ष्या होती है, इस कारण भी वे सदा संतप्त रहते हैं। इससे यदि कोई यह सोचे कि धनवान् मनुष्य सुखी रहते होंगे, सो भी बात नहीं है-वे भी दुःखी ही रहते हैं। उनके दुःख का कारण असन्तोष-उत्तरोत्तर बढ़नेवाली तृष्णा है। उन्हें इच्छानुसार कितनी भी अधिक धन-सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो जावे फिर भी उन्हें उतने से सन्तोष नहीं प्राप्त होता-उससे भी अधिक की चाह उन्हें निरन्तर बनी रहती है। इससे ज्ञात होता है कि जिस प्रकार धन सुख का कारण नहीं है उसी प्रकार निर्धनता दुःख की भी कारण नहीं है। सुख का कारण वास्तव में सन्तोष और दुःख का कारण असन्तोष (तृष्णा) है। यही कारण है जो साधु जन सर्व प्रकार के धन से रहित होकर भी एक मात्र उसी सन्तोष-धन से अतिशय सुखी, तथा चिन्ताकुल धनवान् भी मनुष्य अतिशय दुःखी देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त वह जो विषयजनित सुख है वह पराधनी है-वह उसके योग्य पुण्य एवं धन आदि की अपेक्षा रखता है। जब ऐसे पुण्य आदि का संयोग होगा तब ही सुख प्राणी को प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त पराधीन होने से वह चिरस्थायी भी नहीं है-थोड़े ही समय तक रहनेवाला है। अतएव जहां पराधीनता नहीं है उसे ही वास्तविक सुख समझना चाहिये। उस पराधीन सुख की अपेक्षा तो स्वन्तत्रता से आचरित अनशनादि तपों से उत्पन्न होनेवाला दुःख भी कहीं अच्छा है, क्योंकि, उससे भविष्य में स्वाधीन सुख प्राप्त होनेवाला है। परन्तु वह पराधीन क्षणिक सुख उत्तरोत्तर दुःख का कारण होने से वास्तव में दुःख ही है।

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम्।।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरायाति विमृशन्।
न जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः।। (67)

साधु जनों का जो यह स्वतन्त्रतापूर्वक विहार (गमना-गमन प्रवृत्ति), दीनता (याचना) से रहित भोजन गुणीजनों की संगति, शास्त्रस्वाध्यायजनित परिश्रम के

फलस्वरूप रागादि की उपशान्ति, तथा बाह्य पर पदार्थों में मन्द प्रवृत्तिवाला मन है; वह सब कौन-से महान् तप का परिणाम है, इसे मैं बहुत काल से अतिशय विचार करने पर भी नहीं जानता हूँ।

विशेषार्थ–यहाँ गृहस्थों की अपेक्षा साधु जनों को किस प्रकार का सुख प्राप्त होता है, इसका विचार करते हुए सबसे पहिले यह बतलाया है कि उनका गमनागमन व्यवहार स्वतन्त्रता से होता है वे अज्ञानी प्राणियों को सम्बोधित करने के लिये जहाँ भी जाना चाहते हैं निर्भयतापूर्वक जाते हैं। परन्तु गृहस्थों का जाना-आना व्यापारादि को परतन्त्रता के कारण से ही होता है। इसलिये उन्हें उससे सुख नहीं प्राप्त होता। इसके अतिरिक्त उनके पास कुछ न कुछ परिग्रह भी रहता है, इसलिये वे उन निर्ग्रन्थ साधुओं के समान यत्र तत्र स्वतन्त्रता से जा-आ भी नहीं सकते हैं-उन्हें चोर एवं हिंस्त्र जन्तुओं आदि का भय भी पीड़ित करता है। इसके अलावा मुनियों का भोजन किस प्रकार याचना से रहित होता है उस प्रकार का भोजन गृहस्थों का नहीं होता। कारण यह कि उन गृहस्थों में जो दरिद्र हैं वे तो प्रत्यक्ष में याचना करके की उदरपूर्ति करते हैं। किन्तु जो धनवान् हैं वे भी जिव्हा लम्पटता के कारण घर में तैयार किये गये अनेक प्रकार के पदार्थों में इच्छानुसार स्वादिष्ट पदार्थों की याचना किया ही करते हैं। फिर भी उन्हें जिव्हा इन्द्रियपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले उन मुनियों के समान सुख नहीं प्राप्त होता जो कि केवल शरीर को स्थिर रखने के लिये विधिपूर्वक अयाचकवृत्ति से ही आहार ग्रहण करते हैं, न कि स्वादपरतासे। तथा जिस प्रकार मुनियों का सहवास गुणवान् अन्य मुनिजनों के साथ और योग्य सद्गृहस्थों के साथ ही होता है उस प्रकार गृहस्थों का नहीं होता है-वे स्वार्थवश योग्यायोग्य का विचार न करके जिस किसी के भी साथ सहवास करते हैं। मुनि जहाँ अपने समय की राग-द्वेषादि को दूर करनेवाले शास्त्र-स्वाध्यायादि कार्यों में बिताते हैं वहाँ गृहस्थ का सब समय प्रायः विषयों के संग्रह में ही बीतता है, जिससे कि वह सदा राग-द्वेष से कलुषित और व्याकुल रहता है। मुनियों का मन जहाँ कदाचित् ही बाह्य पदार्थों की ओर जाता है वहां गृहस्थों का मन प्रायः निरन्तर बाह्य पदार्थों में ही प्रवृत रहता है। इस प्रकार वह साधुओं की प्रवृत्ति अवश्य ही किसी महा् तप के फलस्वरूप है जो कि सर्वसाधारण को दुर्लभ ही है। इससे निश्चित है कि जो सुख स्वतन्त्रता में है वह

पराधीनता में कभी नहीं प्राप्त हो सकता है।

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदिनी।
अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्तविधानतो
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः।। (68)

इसके अतिरिक्त विषयों का अनुपम त्याग, श्रुत का अभ्यास, उत्कृष्ट दया, निरन्तर एकान्तरूप अन्धकार के विस्तार को नष्ट करनेवाली बुद्धि, तथा अन्त में आगमोक्त विधि से अनशन तप का आचरण अर्थात् आहार के परित्याग पूर्वक समाधिमरण; यह सब महात्माओं की प्रवृत्ति किसी थोड़े-से तप के अनुष्ठान का फल नहीं है, किन्तु महान् तप का ही वह फल है।

उपकारी महापुरुष के अनादर का दुष्परिणाम- कृतघ्नता व उपहास का दुष्परिणाम

(भीम द्वारा श्रीकृष्ण का उपहास से कृष्ण द्वारा पाण्डवों का बहिष्कार)

(चालः सुनो-सुनो ऐ दुनियाँ वालो.../क्या मिलिए...)

सुनो! सुनाता हूँ कृतघ्नता व पर-परिवाद का दुष्परिणाम।
द्रौपदी के उद्धार अनन्तर, कृष्ण के उपहास से हुआ परिणाम।।
नारद जब पहुँचे अन्तःपुर में, द्रौपदी व्यस्त थी स्वशृंगार में।
जिसे अनादर माना नारद, द्रौपदी के विनय अभाव से।। (1)
जिससे नारद कुद्ध होकर, द्रौपदी-अपहरण कराया शीघ्र।
धातकीखण्ड के भरतक्षेत्र के, राजा पद्मनाम को उत्तेजित कर।।
द्रौपदी उद्धार करने हेतु, गये पाण्डव श्रीकृष्ण के साथ।
दोलाखयोजन समुद्र पारकर, श्रीकृष्ण की सहायता पाकर।। (2)
अमरकंक के नगर में जाकर, पादघात से कृष्ण ने किया किला ध्वंस।
युद्ध में परास्त होकर पद्मनाम ने, द्रौपदी को लौटाया ससम्मान।।
समुद्र पारकर जम्बूद्वीप आए, पूर्व के सम रथों पर।
श्रीकृष्ण बोले करो तुम यमुना पार, मैं आ रहा हूँ देव-विसर्जनकर।। (3)

नौका से उन्होंने किया यमुना पार, भीम ने नौका छिपाया तटपर।
कृष्ण आकर पूछते पाण्डुवीर, कैसे किया तुमने यमुना पार।।
तैरकर हमने किया यमुना पार, कृष्ण ने भी किया तैरकर नदी पार।
पाण्डवों ने किया अट्टहास्य उन पर, श्रीकृष्ण पूछते कारण तत्पर।। (4)
वे बोले तव बल देखने हेतु, हमने ये सब किया परीक्षा हेतु।
श्रीकृष्ण हुए उनसे अतिक्रुद्ध, क्या तुमने नहीं देखा मेरा बल।।
बालकाल से किया अनेक चमत्कार, गोवर्धन पर्वत उठाया बल पर।
कालियासर्प का किया मर्दन, चाणूर कंसादि का किया संहार।। (5)
शिशुपाल वध जरासंध हनन, चक्ररत्न प्राप्ति से बना नारायण।
द्रौपदी का उद्धार ये देखा प्रमाण, अट्टहास से करते मम अपमान।।
इस से तुम्हें करता हूँ बहिष्कार, दक्षिणमथुरा में रहो दीर्घकाल।
इससे अपार दुःखित हो पाण्डव, सकुटुम्ब गये दक्षिणमथुरापुर।। (6)
ऐसी घटनाएँ होती बहुकार, महापुरुषों का भी होता अनादर।
महापुरुषों की श्रेष्ठता न माने पामर, अपमान-निन्दा से ले संहार।।
तीर्थंकर बुद्ध ईसा सुकरात मीराबाई, लिंकन से ले साधु-सन्त।
उनके उपकार के बदले अपकार, मच्छर जोंक सम होते नरासुर।। (7)
परोपकार न माने कृतघ्न, जो मिथ्यात्व सम घोर पाप।
अपकारी का भी उपकार करे सज्जन, उपकारी का भी अपकार करते कृतघ्न।।
भस्मासुर सम होते कृतघ्न, गुण-गुणी द्वेषी व दुष्ट-दुर्जन।
उपकारी माता-पिता से ले गुरु तक के, करते निन्दा-अपमान से ले हत्या तक।। (8)
देश-विदेशों के ग्रन्थों में पढ़ा, बाल्यकाल से अनुभव किया।
मेरे साथ भी होता ऐसा व्यवहार, माध्यस्थ भाव रखे ''कनक सन्त''।। (9)

ग.पु.कॉ., दि-15/8/2020, रात्रि-10.43 व 1.35

संदर्भ-

द्रौपदी के ऊपर नारद का क्रोध

इसी समय नारद जी आकाश से पाण्डवों की सभा में आये। महान् उत्कर्षशाली

पाण्डवों ने उठकर, हाथ जोड़कर और उच्चासनादि देकर उनका आदर किया। इसके अनंतर ब्रह्मदेव के पुत्र श्रीनारदजी ने पाण्डवों के साथ अनेक प्रकार के वार्तालाप किये। तदनंतर उत्तम चित्तवाले वे उनके साथ अन्तःपुर में आये। निष्कपटी मनुष्यवन्दित नारद ने खिड़की और सज्जनों से सम्पन्न, सुवर्णादि धन से उज्ज्वल ऐसा द्रौपदी का महल देखा। उस महल में द्रौपदी आसन पर बैठी थी। वह प्रौढ शृंगार धारण करने लगी थी। उसका मस्तक किरीट से युक्त था। अर्थात् अपने मस्तकपर उसने किरीट धारण किया था। विशाल भालपर वह तिलक धारण कर रही थी और हृदय पर उत्तम अमूल्य रत्नों का हार धारण किया था। इस प्रकार आभूषणों से अपने देह को सजाने के कार्य में तत्पर होने से घर में आये हुए नारद को उसने नहीं देखा। वह द्रौपदी अपना मुख दर्पण में आंखों से देख रही थी, इस लिये उठकर नम्रता से खड़े होना आदिक आदर के कार्य और नमस्कार न कर सकी। ऐसे अपमानादिक दोष से ब्रह्मदेवसुत नारद विरुद्ध होकर मन में रोष की वृद्धि करते हुए मस्तक को हिलाकर द्रौपदी के घर से बाहर गये। मुख से शाप के शब्द निकालनेवाले वे भ्रान्त होकर आकश में भ्रमण करने लगे। उनको कहीं भी संतोष प्राप्त नहीं हुआ। आकाशसमुद्र में प्रवेश करते हुए वे अकस्मात् ऊंचे एकान्त प्रदेश में गये। वे मन में इस प्रकार विचार करने लगे मैं नारद हूँ, मैं बिना वाद्यों के हि आनंद से नाचता हूँ, फिर वाद्य बजते हुए मैं क्यों नहीं नृत्य करूँगा। मैं चतुर हूँ। मुझे कलह करना बहुत प्रिय है। इस द्रौपदी ने आज मेरा अपमान किया है। यद्यपि इसने मुझे दुःख दिया है-दुःखी किया है ऐसा समझकर यदि मैं इसे कुछ दूषण करूँ तो यह शुद्धि को प्राप्त अपने पति के सहवास से पुनः पूर्ववत् निरंकुश होगी। यदि इसका दूसरे के द्वारा हरण कराऊँगा तो यह खेदखिन्न होगी। यदि इसका मैं घात करूँगा तो मुझे पाप लगेगा। इसलिये ऐसा विचार करना योग्य नहीं है। किसी परस्त्री लंपट को देखकर किसी उपाय से उस लंपट मनुष्य को खोजकर उसके द्वारा इसे हरवाना अच्छा होगा। मुझे श्रीकृष्ण, बलभद्र और अन्य राजा नमस्कार करते हैं। मैं सब जनों का गुरु हूँ, और विशेषतः सर्व स्त्रियों का गुरु हूँ। कष्ट देनेवाला इसका दुष्टपना और धृष्टता तो देखो। मेरा तिरस्कार करके मानो यह उन्मत्त सर्पिणी आसन पर बैठी थी। जो शृङ्गार इसे अपने पति से भी प्यारा है, वह शृंगार इसका जैसा नष्ट होगा ऐसा प्रयत्न मैं करूँगा। और तबही मेरे संपूर्ण मनोरथ निश्चय से सिद्ध

होंगे। जब मैं इसका सौभाग्य दूर करने में समर्थ होऊँगा आकाश में ठहरकर मुझे इसका हरण आंखों से देखने को मिलेगा, तब मेरे हृदय से यह अपमान दुःख नष्ट होगा अन्यथा नहीं। इस प्रकार से विचार कर वे ऋषि कोप से आकाश में चले गये। उपाययुक्त होकर परस्त्री लंपट किसी पुरुष को देखते हुए क्षीण अन्तःकरण से वे ऋषि शीघ्र संपूर्ण पृथ्वीपर भ्रमण करने लगे। जब तक उनको परस्त्रीलंपट राजा नहीं मिला तब तक वे सुखी नहीं हुए। कोई ऊँचा-ऐश्वर्यशाली परस्त्रीलंपट राजा कहां मिलेगा ऐसा चिन्तन करने वाले वे नारदर्षि अनेक पद्मवनों से समुन्नत-सुंदर ऐसे धातकीखंड को चले गये। यह धातकीखंड चार लक्ष योजन विस्तीर्ण है और आगम में प्रसिद्ध है। उनकी पूर्वदिशा में सुंदर और मनहरण करनेवाला मंदर पर्वत है, वह चौरासी हजार योजन ऊँचा और अतिशय बड़ा है। भद्रशलादि चार वनों से यह पर्वत अत्यंत शोभायुक्त है। उसके दक्षिणदिशा के भाग में पृथ्वीतल में प्रसिद्ध भरतक्षेत्र है। वह छह खंडों द्वारा शोभता है। वह कांतिसंपन्न राजा लोगों से भूषित है।

नारद का पद्मनाभसे द्रौपदीरूप-कथन

इस भरतक्षेत्र के मध्य में सुखकर और उत्तम अमरंका नामक नगरी है उसने भूमितल को शोभायुक्त बनाया है। वह सुंदर है और उत्तम घरों से युक्त है। अतिशय स्नेहवान् पद्मनाभ नाम का राजा है। जैसे उन्नतिशील कृष्ण इन्दिरामंदिरका-लक्ष्मीमंदिरा का पालन करता है वैसे हमेशा पालन करता था। अपने बाहुदण्ड से शत्रुसमूह को अथवा शत्रुओं के देश को उसने नष्ट किया था। अनेक राजा उसकी स्तुति करते थे। यह राजा पापचतुर विद्याओं से सुविध था अर्थात् पापयुक्त विद्याओं का ज्ञाता था। महान् वैभवशाली था। यह राजा विशाल और निर्मल वक्षःस्थल का धारक, पृथ्वी की रक्षा में चतुर, शत्रु के नेत्रों को अलक्ष्य और अपने रूप से मदन को जीतता था। उधर नारद ने अपने रूप से सब स्त्रीसमूह के रूप को जीतनेवाला और नानाविध विकल्प मन में उत्पन्न करनेवाला उस द्रौपदी का सौंदर्य पट्टपर लिखा। पट्टपर लिखा हुआ अतिशय आकर्षक और अपनी कांति से सूर्य को लज्जित करनेवाला रूप राजा को दिखाया। सुवर्ण के समान सुंदर, मनोहर हार से सुशोभित स्तनों को धारण करनेवाली, पट्टस्थ उस स्त्री को देखकर राजा इस प्रकार से स्पष्ट चिन्ता करने लगा। ''यह स्त्री कौन है'' क्या पवित्र इन्द्राणी स्वर्ग से यहां आई है? अथवा कमल को छोड़कर यहाँ

कमला-लक्ष्मी आई है? यह चंद्र की पत्नी रोहिणी है किंवा सूर्यपत्नी इस भूतलपर आई है? क्या वह किन्नरी, विद्याधरी, अथवा गुणस्वरूप को धारण करनेवाली मदन की पत्नी रति है? इतने प्रकार के विकल्प से यह कौन मोहनवल्ली है? ऐसा मन में वह राजा विचार करने लगा। राजा मोहयुक्त होकर मूर्च्छित हुआ। बड़े कष्ट से चेतना को प्राप्त होकर चिन्तन में तल्लीन हुआ। उस समय वहाँ हाहाकर करके अनेक राजा आये। बड़े कष्ट से चिन्तापीड़ित राजा पद्मनाभ सावध हुआ। उस समय राजा ने नारद को नमस्कार कर पूछा कि हे तात! पट्ट में वर्णयुक्त यह सुंदर स्त्री कौन है? जो सविभ्रमा-हावभावयुक्त महासौन्दर्यशालिनी है। इसका मुख विलासयुक्त भोएँ और आवर्तसे मनोहर है। हे ऋषे! आप मुझे निश्चय का कारण ऐसा सत्य कहिए आप भव्यों के स्वामी हैं कहो। उस समय ''हे राजा, यदि तुझे पट्टलिखित स्त्री-रूप को सुनने की इच्छा है तो सुन मैं कहता हूँ जिससे तेरा मन स्थिर होगा'' ऐसा नारद ने कहा। ''अनेक द्वीपों के मध्य में जम्बूनामक मनोहर और महान् द्वीप है। इस गोल द्वीपने चन्द्र को जीता है, क्योंकि चन्द्र पौर्णिमा की रातमेंही पूर्ण गोल रहता है अन्य तिथियों में नहीं। और इस द्वीपने योगिको भी जीता है क्योंकि योगी भी वृत्तयुक्त चारित्रयुक्त होते हैं, उनके चारित्र में सदा एकरूपता नहीं रहती है। हमेशा कमजादापन होता है परंतु इस द्वीप के वृत्त में-गोलाई में सदा एकरूपताही रहती है। इस जम्बूद्वीप के मध्य में सुदर्शन नामक, एक लक्ष योजन ऊँचा प्रकाशमान मन्दरपर्वत है। वह पृथ्वी को तिलक के समान सुशोभित करता है। इस मन्दरपर्वत के दक्षिण में उत्तम धनुष्याकार, कलायुक्त, षट्खण्डों से शोभित है। उसमें कुरुजांगल नाम का मनोहर देश है। वह भोगों के पदार्थ वाला होने से उत्तरकुरु, देवकुरुभोगभूमि के समान शोभनेवाला है और अनेक राजाओं से मनोहर दिखता है। उस देश में हाथियों की गर्जनाओं से सुंदर हस्तिानागपुर नामक शहर है। निश्चय से उसकी खाई गंगानदी से बनाई गई है। वहां युधिष्ठिर नामक का राजा है वह कौरववंश का अगुआ है। वह अतिशय भय को दूर करनेवाला है। वह पृथ्वी को धारण करने में समृद्ध-समर्थ है। युधिष्ठिरराजा के भ्राता का नाम 'पार्थ' है वह अन्वर्थ नामका धारक है। और इस भूतल में प्रसिद्ध है। उसकी पत्नी का नाम द्रौपदी है। वही स्वरूप-सुंदरी इस पट्ट में लिखी है। हे राजा, स्त्री के सुख की यदि तुझे इच्छा है तो तू इसे अपने हृदय में रख।

हे राजन्, इसके बिना तेरा जीवित भी अजीवित के समान है अर्थात् इसके बिना जीना मरण के समान है। हे उत्तम कर्ण को धारण करनेवाले राजन्, उसी का इस सुंदर पट्ट में बिजली के समान रूप फैला हुआ है। प्रकाशमय रूप है। अब तुझे जैसा रुचता है वैसा कर मैंने जो कहा है वह अन्यथा-असत्य नहीं है''। ऐसा बोलकर नारद आकाश में चले गये। द्रौपदी के रूप से व्याकुल चित्तवाला पद्मनाभराजा मन में उस स्त्री को स्मरण करता हुआ अतिशय दुःखी हुआ।

कामुक पद्मना की द्रौपदी से प्रार्थना

राजा वन में जाकर मंत्राराधना करने में तत्पर हो गया। उसने स्त्री का संग देनेवाले संगम नामक देव को शीघ्र साध्य कर लिया। वश किया हुआ संगमदेव प्रेमसहित राजा के पास आ गया और तुझे जो इष्ट और अनंद का कारण हो, मुझे आज्ञा दे। उस समय आनंदित हुआ राजा कहने लगा, कि-''जिसे उत्तम वैभव प्राप्त हुआ है, तथा जो रूपसंपन्न है, ऐसी द्रौपदी को यहां लाओ'' उसका भाषण सुनकर प्रेम करनेवाला, चंचल चित्तवाला, कार्यकारी देव शीघ्र जाता हुआ आकाश में चला गया। दो लक्ष योजन विस्तृत समुद्र को सत्वर उलंघकर वह देव निर्विघ्नता से सुंदर हस्तिनागपुर को प्राप्त हुआ। रात्री में देव ने उसके-द्रौपदी के महल में प्रवेश किया, सोई हुई साक्षात्लक्ष्मी मानो ऐसी अर्जुन स्त्री को देव हरकर शीघ्र ले गया। हरकर लायी गई जिसकी बुद्धि मोहित हुई है ऐसी द्रौपदी को अमरकंकानगरी के उपवन के उत्तम महल में देव छोड़कर चला गया। निद्रा के वश होने से जिसे हेयाहेय कार्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है ऐसी वह शय्या पर प्रातः कालतक सोती रही। देव ने पद्मनाभराजा को द्रौपदी के आगमन की बात कही। जागृत और चतुरबुद्धि वह राजा बड़े आदर से उसके पास आया। सुवर्णसामन उज्ज्वल, ज्योत्स्ना के समान सुंदर, गाढ निद्रायुक्त, पुष्ट स्तनवाली, सुंदर श्रोणि वाली और चंद्रसमान मुखवाली द्रौपदी को देखकर राजा हर्षित हुआ। द्रौपदी के ऊपर लुब्ध हुआ राजा कहने लगा, कि ''हे भद्रे, रात्रि समाप्त हुई और अब प्रभात काल हुआ है। हे भामिनि, जल्दी तू जागृत हो। हे सुलोचने, तू जल्दी ऊठ ऊठ। तू मुझे, सर्व कालाओं के ज्ञान में चतुर हे सुलोचन, विशेषता से मेरे साथ तू बोल।'' इस प्रकार के अमृतोपम मधुरवाक्यों से जिसको उठाया है और भययुक्त हरिण के नेत्रतुल्य आँखें जिसकी हैं ऐसी वह द्रौपदी दश दिशाओं को देखने

लगी। तथा उसके मन में ऐसी चिन्ता उत्पन्न हुई ''यह कौनसा देश है? मुझसे बोलनेवाला कौन है? यह कौन पुरुष मेरे आगे खड़ा हुआ है? यह तो निश्चय से स्वप्नही है इसमें कुछ भ्रान्ति नहीं दिखती है।'' ऐसा विचार करने पर अपना मुख ढंक कर तथा आँखें मीचकर वह सो गई। राजा ने उसका अभिप्राय जाना अर्थात् यह भामिनी भ्रान्ति में है ऐसा उसने समझ लिय। वह मदनपीड़ित होकर उससे कहने लगा, कि ''हे कमलनयने, हे हर्षयुक्ते देख, यह स्वप्न नहीं है।'' ऐसा उसका भाषण सुनकर यह निद्रा नहीं है अर्थात् स्वप्न नहीं है ऐसा उसने भी जान लिया और दश दिशाओं को वह देखने लगी। उसे अपने आगे छोटी घंटिकाओं से युक्त मनोहर आकाशविमान देखा।

पद्मनाभ की द्रौपदी से प्रार्थना

परस्त्रीलंपट, लोभी, कपटी, भयंकर और चतुर पद्मनाभ-राजा कहने लगा, कि-''हे सुंदरी मेरा वचन सुन'' अर्थात् मैं यहां की सब परस्थिति तुझे कहता हूँ। यह धातकीखंड नामक द्वीप चार लक्ष योजन विस्तीर्ण है और कालोदधि समुद्र ने इसे चारों तरफ से वेष्टित किया है। हे भामिनि, इस उत्तम नगरी को अमरकंका नाम की प्रसिद्ध नगरी समझो। यह शुभ-सुंदर सुवर्णखचित घरों से चमकती है, तथा मणि-मौक्तिकों से समृद्ध है। इस नगरी का राजा मैं हूँ, मेरा नाम पद्मनाभ है और मैं वैरिसमूह का नाश करनेवाला, पराक्रम से दशदिशाओं को व्याप्त करनेवाला और इंद्र के समान वैभववाला हूँ। हे सुंदरी, तेरे लिये-तेरी प्राप्ति के लिये भयभीत मन से मैंने कष्ट से और हठ से देव की आराधना कर उसे साधा है। हे भव्ये, तेरे बिना मधुर अन्न भी मुझे नहीं रुचता है। तेरे तीव्र विरह से मेरी मृत के तुल्य अवस्था हुई है। साधित देव के द्वारा मैं तुझे यहां लाया हूँ जिससे अब मैं सुख से रहूंगा। हे भीरु, तू मुझपर प्रसन्न हो और मेरे साथ भोगों को भोग। देश, कोश, नगर, रत्न, चामर, छत्र, घोड़ा, हाथी, महल आदिक तुझे जो पदार्थ रुचते हैं वे ग्रहण कर। हे चतुरे, मेरे शरीर में जो विरहाग्नि लग गई है उसे तू शांत कर। यह विराहाग्नि मेरे मर्मों को दग्ध कर रही है उसे तू भोगरूपी जल के वेग से शांत कर। इस कामयुद्ध में तू मुझपर अनुकूल दृष्टि डाल। हे देवि! विषाद छोड़, मेरे साथ तू सुख को भोग। कल्याण स्वभाव को धारण करनेवाली, तू पृथ्वी के पति ऐसी मेरी प्रियतमा बन। मेरे मानसिक दुःख का नाश

करनेवाली तू मुझे सुख दे। पद्मनाभ के ऐसे वचन सुनकर द्रौपदी शोकयुक्त हुई। उसका अंग कँपने लगा। उसका हृदय फूट गया। वह दुःखपीड़ित होकर रोने लगी। उसका मुख अश्रुओं से भीग गया। वह इस प्रकार से शोक करने लगी ''हे ज्येष्ठ युधिष्ठिर, आप में विशिष्ट धर्म की बुद्धि निवास करती है। हे पावने, अर्थात् हे भीम आप पवित्र और वीरों में श्रेष्ठ अगुआ है। हे नाथ, अर्जुन, आप युद्ध में समर्थ और शत्रुओं का दमन करनेवाले हैं। प्राप्त हुए इस दुःखकाल में मुझ दुःखिनी का कौन रक्षण करेगा? आपके नहीं होने से अर्थात् आपका अतिशय वियोग हो जाने से मुझे इस समय सुखप्राप्ति कैसे होगी? मेरा कौन प्रिय है जो वह वार्ता आपके प्रति पहुँचावेगा? मैं पृथ्वी में प्रसिद्ध हूँ। मैं सोई थी ऐसे समय देव ने मुझे यहां लाकर बंदिशाला में रखा है।'' इस प्रकार शोक करती हुई द्रौपदी वहां रही। पद्मनाभराजा द्रौपदी को पुनः इस प्रकार से प्रार्थना करने लगा ''हे सुश्रोणि, तू इस समय मेरा वचन सुन। तू शोक छोड़कर सुख के लिये मेरे साथ क्रीड़ा कर। अब अर्जुन की आशा छोड़कर उसे जलाञ्जलि दे। हे प्रिये, खिन्नता को छोड़ दे और शीघ्र भोगों में अनुरक्त-तत्पर हो।'' ऐसा पद्मनाभ ने महायुक्ति के साथ भाषण किया। उस समय शीलभंग करनेवाला राजा का प्रबल वचन सुनकर चिन्ताओं के समूह से पीडित द्रौपदी ने अपने मन में ऐसा विचार किया ''मनुष्यप्राणियों को शील रत्न है और वह उनका उत्तम अलंकार है। सुर, असुर और मनुष्यों के स्वामी इन्द्र, चक्रवर्ती आदि शील के प्रभाव से दास होते हैं। शील के पालने से तेजस्वी शरीर की प्राप्ति होती है और शील से कुलकी विपुलता होती है अर्थात् उच्चकुल में जन्म होता है। शील से स्वर्ग मिलता है और शील चक्रवर्तिपद का दाता है। शील से तत्काल सर्व नारीगण को शोभा उत्पन्न होती है। अतिशय तीव्र विशाल अग्नि शील के प्रभाव से सीता के समान पानी हो जाता है। इस शील के प्रभाव से जयकुमार की रानी सुलोचना गंगा नदी को तीरकर संकटमुक्त हो गई। वैसे अन्य शीलवर्ती स्त्रियों को भी शील के प्रभाव से पानी स्थल के समान हुआ है। शील के प्रभाव से मनुष्यों को समुद्र क्षण में ही गाय के खुर के समान हो जाता है। शीलयुक्त प्राणी मरने पर प्रत्येक भव में सुखी ही होता है। मृत्यु उपस्थित होने पर भी मैं शील का त्याग न करूँगी।'' तदनंतर दीर्घ श्वास छोड़कर और मन में कुछ विचार कर द्रौपदी पद्मनाभ को इस प्रकार बोलने लगीः ''हे राजा, सुन

युधिष्ठिरादिक पांच पाण्डव अन्योन्य के भाई हैं। तथा उनकी सर्वत्र प्रसिद्धि है। वे प्रचंड और अखंड कोदंड के-धनुष्य के धारक हैं। और इंद्रों को भी वे जितनेवाले हैं। इनके प्रभाव से स्थिरचित्तवालीं देवतायें डरती हैं। जब वे युद्ध में संचार करते हैं तब उन्हें निश्चय से शत्रु जीतने में असमर्थ होते हैं। शत्रु उनका निवारण नहीं कर सकते हैं। आलस्य छोड़कर वे प्रचण्ड आघात से शत्रुओं को नष्ट करते हैं। पुनः त्रिखण्ड के स्वामी श्रीकृष्ण और बलदेव ये पाण्डवों के भाई हैं। ये श्रीकृष्ण और बलदेव सुर, असुर और मनुष्यों से पूजे जाते हैं, और वे इस समय जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के अलंकार है। मेरा शील नष्ट करने के लिये कीचक ने इच्छा की थी, परंतु पाण्डवों ने सौ भ्राताओं के साथ कीचड को मार डाला। पुनः तू भी हे मानी राजा मोह से मेरी इच्छा से मन में मोहित मत हो। मैं विषयुक्त नागिनी के समान तथा विष की लता के समान हूँ। तूने मुझे यहाँ व्यर्थ लाकर रखा हैं। एक महिनातक मेरी-आशा छोड़कर हे राजा तूँ स्थिर ठहर जा। इतने काल की मर्यादा में जो कुछ होनहार है वह होगा। यदि किसी तरह से भी वे पाण्डव एक मास में नहीं आवेंगे तो तुझे जो रुचता है वह कार्य कर। ऐसा कहने पर वह पद्मनाभ राजा मन में ऐसा विचार करने लगा ''समुद्र को उलंघकर वे पाण्डव नहीं आ सकते हैं''। तदनंतर द्रौपदी ने अपने मस्तक पर वेणी बांधकर आहार और अलंकारों का त्याग किया। तब वह मानो चित्रलिखितसी दीखने लगी। इधर गजपुर में प्रातःकाल प्रचण्ड पाण्डुपुत्रों को उत्तम अभ्युदयवाली पांचाली-द्रौपदी जहां तहां अन्वेषण करने पर भी नहीं दिखी। अन्यस्थानों में उसको ढूंटने पर भी कहां से उसकी वार्ता नहीं मिली। वारंवार राजाओं से तलाश करने पर भी वह दृष्टिगत नहीं हुई। तब द्वारावतीनगर में किसी ने चक्रवर्ती को प्रणाम करके द्रौपदी की हरणवार्ता पुनः निवेदन की। श्रीकृष्ण क्षणतक दुःखी हुए अनंतर रण में भयंकर केशवने क्रुद्ध होकर युद्ध के लिये नगरा बजवाया। तब घोड़ों का समूह, गर्जना में तत्पर हाथी, जिनके चक्र चंचल है, जो चीत्कार शब्द करते हैं ऐसे रथ, युद्धसज्ज होकर चलने लगे। कोश से निकली हुई तरवारें जिनके हाथ में है, तथा जिनके हाथों में भाला और धनुष्य हैं ऐसे पैदल अपने स्थानों से शीघ्र राजा के अंगणमें जाकर खड़े हो गये। चतुरंग सैन्य के साथ श्री कृष्ण प्रयाण करने के लिये निकला। इधर नारद ने अमरकंकापुरी को जाकर वहां द्रौपदी देखी। अश्रुसमूह से द्रौपदी का मुख्य व्याप्त

अर्थात् आर्द्र-गीला हुआ था। तपे हुए सोने का सा उसका शरीरवर्ण था। उसके मस्तक के बाल बिखरे हुए थे। उसका पेट कृश हुआ था अर्थात् उसका शरीर कृश हुआ था। उसने अपने हाथ पर अपना गाल रक्खा था। स्थिर प्रतिमा के समान वह दिखती थी। मदनवियुक्त रति के समान, वा इंद्ररहित शची-इंद्राणी के समान, अथवा सौंदर्य के द्वारा लक्ष्मी को जीतकर स्थिर आसन से मानो बैठी हुई है ऐसा विचार कर दुःखदायक चिन्ता से घिरा हुआ नारद ऐसा विचार करने लगा। 'हाय! मुझ पापी ने मान से इस सती को संकट में डाला है।' तदन्तर वह शीघ्र रणोद्यत कृष्ण के पास आकर बोलने लगा। हे केशव, यह भयंकर सैन्य किस लिये इकट्ठा किया है? द्रौपदी तो धातकीखंड में अमरकङ्का नामक नगरी में मैने देखी है। वहां पद्मनाभ नामक राजा, जो कि शत्रुओं का वंश नष्ट करनेवाला है, रावण ने जैसा सीता का हरण किया, वैसे उसने देव की आराधना कर द्रौपदी का हरण किया है। वहां कोई-महाबलवान् मनुष्य भी जाने में समर्थ नहीं है इसलिये तुम यहां निश्चित होकर बैठो हैं। यह कार्य बड़ा कठिन है।

नारद से द्रौपदी की वार्ता सुनकर कृष्णराजा ने अपना चतुरंग सैन्य वहां ही छोड़ दिया और एक रथ से वह हास्तिनापुर को आ गया। विष्णु के पास जाकर और नमस्कार कर सब दुनिया को भीति उत्पन्न करनेवाली द्रौपदी हरण की वार्ता पाण्डवों ने विष्णु से कही। पापरहित पाण्डव और श्रीकृष्ण ने वहां विचार किया और समुद्र अलंघनीय है ऐसा समझकर लवणसमुद्र के सुंदर किनारे पर आए। वहां विष्णु ने तीन उपवास करके लवणसमुद्र के स्वामी श्रीस्वस्तिक नामक देव को स्पष्टरीति से सिद्ध किया। उस देव ने वेगवान् छह रथ उनको दिये। वे रथ पानी में चलनेवाले थे। उनके द्वारा वे क्षणमात्र में अमरकंका नगरी को आये।

पद्मनाभ का शरण आना

कृष्ण के साथ आये हुए वे पांच पाण्डव सिंह के समान गर्जना करने लगे। टंकारध्वनि से भरा हुआ शार्ङ्ग धनुष्य विष्णु ने सज्ज किया। भीम ने शीघ्र घुमाई हुई गदा विद्युल्लता के समान दिखने लगी। नकुल ने शत्रु को तोड़ने में समर्थ कुन्त-भाला हाथ में लिया। और सहदेव ने अपने हाथ में तेजस्वी तरवार ग्रहण की। धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने जयशाली शक्तिनामक आयुध हाथ में लिया। उस समय अर्जुन ने धर्मसुत को-युधिष्ठिर को नमस्कार कर कहा, कि ''तुम सब निश्चल रहो। मैं एक क्षण में शत्रु

को हटा दूँगा।'' ऐसा बोलकर धनुष्य जिसके हाथ में हैं, जो उत्तम रथ में बैठा है, ऐसा अर्जुन देवदत्त नामक शंख पूर कर रणभूमि की तरफ दौड़ने लगा। श्रीकृष्ण लोगों को भय उत्पन्न करनेवाला पांचजन्य नामक शंख फूका। उसकी ध्वनि सुनकर बल-से सैन्य से उद्वत पद्मनाभराजा नगर के बाहर युद्ध के लिये आया। शीघ्र रणवाद्यों में सर्व दिशाओं को बधिर करनेवाला और रेणुओं से आकाश को आच्छादित करनेवाला वह पद्मनाभराजा लड़ने लगा। परंतु जब अर्जुन ने महाबाणों से उसे जर्जर किया तब वह रण छोड़कर अपने नगर में गया और नगरद्वार बंद करके बैठा। उस नगरद्वार को कठिन पादप्रहारों से विष्णु ने तोड़ दिया और सब पाण्डवों ने सर्व लोगों को भय दिखाते हुए नगर में प्रवेश किया। भीमने तो गदा से सब मंदिरों को तोड़ डाला। मदंरपर्वत के समान स्थिर सुंदर भीमने गदा से सब मंदिरों को तोड़ डाला। मंदरपर्वत के समान स्थिर सुंदर भीमने सर्व द्रव्य हरण किया। तब सब लोग भागने लगे, राजा भी भाग गया और दौड़ता हुआ, रक्षण करो रक्षण करो ऐसा कहता हुआ द्रौपदी को शरण गया। ''हे द्रौपदी, तेरे हरण से जो मैंने पाप किया उसका फल मुझे भूमीशों से मिला'' इस तरह यह बोलने लगा। इसके अनन्तर ''हे मूढचित्त, तुझे मैंने पूर्व में कहा था, कि पाण्डव जल्दी यहां आयेंगे। इन्होंने दुर्योधनादिक योद्धाओं को युद्ध में क्षण में जीत लिया है उनके आगे तेरी क्या कथा है ऐसा भी मैंने पूर्व में कहा था।'' द्रौपदी उसे बोल रही थी, इतने में निरंकुश हाथियों के समान वे वहां आ गये। ''मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो'' इस तरह कहता हुआ वह राजा उनको देखकर नम्र हुआ। भय से भरा हुआ वह राजा द्रौपदी को शरण गया। और कहने लगा, कि ''हे द्रौपदी, तू अखण्ड महाशीलवती है, तू सुशील है और समप्रिय है। मुझे तू इन राजा के द्वारा जीवन देनेवाला अभयदान दिला।'' तब उन राजाओं के द्वारा उसे द्रौपदी ने अभयदान दिलाया। तदनंतर विनय से युक्त राजा ने कृष्ण के चरणों को नमस्कार कर पाण्डवों का भोजनादिकों से यथायोग्य विनय किया। उस समय वे द्रौपदी को लेकर और स्नान करके जिनचरणकमलों की पूजा करने लगे। इसके अनंतर उन्होंने द्रौपदी को पारणा कराई। शुभ और आंनददायक जिनेश्वर में जिन्होंने उत्तम नम्रता-भक्ति की है, जिनके कल्याण करनेवाले भाव हैं, तथा जो सुभव्य हैं, ऐसे पाण्डवों ने शुभकर्म के उदय से उस द्रौपदीको ग्रहण कर लोक-समूह में वृद्धिगत हुए, जगत में संचार करनेवाले उत्तम

यश को प्राप्त किया है। इस जिनधर्म से पाण्डवों ने राजाओं में पूज्य पद्मनाभराजा को जीत लिया और अतिदूर महा धातकीखण्ड में जाकर वहां उत्पन्न हुई पूजा को प्राप्त किया ऐसे वे पाण्डव अर्जुन की आनंद देनेवाली पत्नी द्रौपदी को प्राप्त कर सौख्य को प्राप्त हुए। यह सब जिनेश्वर के धर्म की महिमा जानो।

कृष्ण-पाण्डवों का द्रौपदी के साथ आगमन

अनंतर वे पाण्डव विष्णु के चरणों को नमस्कार कर आनंद से बोलने लगे- हे विष्णो, आपके सामर्थ्य से हमें शत्रु के द्वारा हरी गई द्रौपदी प्राप्त हुई है। तदनंतर सैंकड़ों मनोरथ पूर्ण होने से आनंदित हुए वे राजा रथ में आरूढ होकर और उस मनोहर द्रौपदी को साथ लेकर हस्तिनापुर के प्रति प्रयाण करने लगे। पीताम्बरा याने- श्रीकृष्ण ने जिसकी ध्वनि मेघ के समान है, ऐसा महाध्वनि करने वाला पांचजन्य नाम का शंख पूरा।

उस समय घातकी खण्ड के भरतक्षेत्र चम्पापुर नगर के पति, तीन खण्ड के देशों के प्रभु कपिलनामक अर्द्धचक्रवर्ती राज्य करते थे। संपूर्ण पृथ्वी को कँपानेवाला विष्णु के शंख का महाध्वनि जिनेश्वर को वंदन करने के लिये आये हुए महामना उदार चित्तवाले कपिल नारायण ने सुना। जिनेश्वर समवसरण में बैठे हुए अर्द्धचक्रवर्ती ने शंख-शब्द सुनकर मुनिसुव्रतनाथ जिनेश्वर को (धातकीखंडस्थ भरतक्षेत्र तीर्थंकर को) पूछा, हे प्रभो, यह शंखध्वनि किसका है? ऐसा पूछने पर जिनेश्वर ने इस प्रकार कहा-जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में सुंदर द्वारावती नगर है। वहां त्रिखण्ड भरत का स्वामी कृष्णराजा राज्यशासन कर रहा है। वह यहां अर्जुन की स्त्री द्रौपदी को ले जाने के लिये आया था उसने यहाँ शंख पूरा है। उसको देखने के लिये मुझे जाने की इच्छा है ऐसा अर्थचक्री ने कहा, तब धर्मचक्रवर्ती मुनिसुव्रतनाथ ने ऐसा कहा-हे कपिल, चक्रवर्ती चक्रवर्ती को, हरि-नारायण हरिको-नारायण को, तीर्थंकर तीर्थंकर को और बलभद्र बलभद्र को नहीं देखते हैं। देखने के लिये जाने पर चिह्नमात्र से ध्वजमात्र से तुझे दर्शन होगा। तो भी कपिल श्रीकृष्ण को देखने की इच्छा से शीघ्र चला गया, परंतु उन दोनों ने अन्योन्य ध्वजामात्र स्पष्ट देख ली। उन दोनों ने पूरे हुए एक दूसरे के शंख का ध्वनि सुना। श्रीकृष्ण समुद्र के पास चले गये ऐसा समझ कर वह कपिल अर्धचक्रवर्ती अपनी राजधनी के प्रति लौट गया।

पाण्डवों का दक्षिण मथुरा में राज्य-स्थापन

चम्पामागत्य चक्री स निर्भर्त्स्य पारदारिकम्।
पद्मनाभं सुखेनास्थान्त्रिखण्डभरतेश्वरः।। (14)
अमी च पूर्ववत्तीर्त्वा जलधिं तत्तटे स्थिताः।
जनार्दनो जगादैवं यूयं व्रजत पाण्डवाः।। (15)
विसर्ज्य स्वस्तिकं यावदायामि यमुनातटम्।
उत्तीर्य तां तरीं मह्यं प्रेषयध्वं पुनर्नृपाः।। (16)
ततस्ते यमुनां प्राप्य द्रौपद्या सह पाण्डवाः।
उत्तीये तां स्थितास्तीरे दक्षिणे लक्ष्यलक्षणाः।। (17)
धूर्तत्वेनाशु भीमने नीतोत्पाट्य तरीस्तटम्।
कृष्णबाहुबलं द्रष्टुं कालिन्द्युत्तरणक्षणे।। (18)
तावता केशवः प्राप्तोः विसर्ज्य वरनिर्जरम्।
सरिज्जलमगाधं च वीक्ष्य ब्रूते स्म पाण्डवान्।। (19)
कथं तीर्णा सरिच्छीघ्रं भवद्भिः कथ्यतां मम।
तन्निशम्य तदावोचन्पाण्डवाश्छद्मतः खलु।। (20)
अस्माभिर्भुजदण्डेन तीर्णेयं च तरङ्गिणी।
तन्निशम्याच्युतो दोर्भ्यामुत्तार सरिज्जलम्।। (21)

त्रिखंड भरत का पति वह कपिल चक्रवर्ती चम्पानगरी में आया। अनंतर उसने परस्त्रीलम्पट पद्मनाभ की निभ्रर्त्सना की और अपनी राजधानी में सुख से रहने लगा। ये पाण्डव पूर्व के समान समुद्र को रथों से उल्लंघकर उसके तट पर बैठ गये। जर्नादन ने पाण्डवों को कहा कि ''हे राजा पाण्डवो, तुम आगे चलो, मैं स्वस्तिक देव का विसर्जन करके जब आऊँगा तब आप यमुना नदी को तीरकर मेरे पास यमुना के तटपर पुनः नौका भेज दें। तदनंतर कुछ बहाने का विचार करनेवाले पाण्डव द्रौपदी के साथ यमुना नदी को तीरकर उसके दाहिने तटपर बैठ गये। कालिन्दी को तीरने के समय कृष्ण का बाहुबल देखने के लिये धूर्तपना से भीम शीघ्र नौका वहां से हटाकर तटपर ले गया। उतने में श्रीकृष्ण इस उत्तम देव को विसर्जित करके आये। उन्होंने नदी

का अगाध पानी देखकर पाण्डवों को कहा कि ''हे पाण्डवों, आप शीघ्र नदी कैसे तीरकर गये मुझे बोलो! श्रीकृष्ण का भाषण सुनकर पाण्डव कपट से निश्चयपूर्वक यों कहने लगे ''हम लोगों ने अपने बाहुदण्ड से इस नदी को उल्लंघा है।'' उनका भाषण सुनकर श्रीकृष्ण अपने दोनों बाहुओं से नदी का पानी उल्लंघ गये।

तीरं गत्वा नृपान्वीक्ष्य हर्षितास्यो जहर्ष सः।
जहसुः पाण्डवा वीक्ष्य कृष्णं हडहडस्वनाः।। (22)
हसतः पाण्डवान्वीक्ष्य प्रोवाच चक्रनायकाः।
भवद्भिर्हसितं किं भो कथ्यतां कथ्यतां मम।। (23)

तीर को गये श्रीकृष्ण हर्षितमुख पाण्डवों को देखकर आनंदित हुए। पाण्डव श्रीकृष्ण को देखकर अट्टहास्य से हसने लगे। हसनेवाले पाण्डवों को चक्रपति श्रीकृष्ण बोलने लगे कि, तुम क्यों हसने लगे मुझे कहो।

ते जगुर्यमुनातीरं वर्य तर्याथ तेरिम।
त्वद्बाहुबलवीक्षायै प्रच्छन्ना सा कृता ततः।। (24)
नरेन्द्राघटितं कार्यभस्माभिर्घटितं स्फुटम्।
प्रत्यर्थिकुम्भिकुम्भानां भञ्जने त्वं हरिर्हरिः।। (25)
श्रुत्वेति क्रोधभारेण बभाषे कम्पिताधरः।
माधवः पाण्डवा यूयं सदा कलहकारिणः।। (26)
स्वजनस्नेहनिर्मुक्ता भायायुक्ताः सदा खलाः।
किं सरित्तरणेऽस्माकं माहात्म्यं वीक्षितं ननु।। (27)
गोवर्धनसमुद्धारे कालिन्दीनागमर्द्दने।
चाणूरचूर्णने ने चित्रं कंसदस्युविघातने।। (28)
अपराजितनिर्नाशे गौतमामरसंस्तवे।
रुक्मिणीहरणे तूर्ण शिशुपालवधोद्यमे।। (29)
जरासंधवधेऽस्माकं चक्ररत्नसमागमे।
त्रिखण्डपरमैश्वर्ये भवद्भिर्नेक्षितं बलम्।। (30)
सरिज्जलसमुत्तारे किं माहात्म्यं बलेक्षणे।

अद्यापि जडता याति युष्माकं न खलात्मनाम्।। (31)
दूरं यान्तु भवन्तोऽत्र योजनानां शतान्तरे।
अपाच्यां मथुरायां च चिरं तिष्ठन्तु पाण्डवाः।। (32)

पाण्डवों का भाषण सुनकर अतिशय क्रोध से जिनका अधरोष्ठ कंपित हुआ है ऐसे श्रीकृष्ण बोलने लगे ''हे पाण्डवो, तुम हमेशा कलह करनेवाले हो। तुम हमेशा स्वजनों के प्रति स्नेहरहित, कपटयुक्त और सदा दुष्ट हो। नदी के उल्लंघन में आपने हमारा माहात्म्य बोलो क्या देखा है? गोवर्धनपर्वत को उठाना, यमुना नदी के कालियासर्प का मर्दन करना, चाणूर को चूर्ण करना, कंसशत्रु का वध करना, अपराजित का नाश करना, गौतम नामक देव की स्तुतिकर वश करना (जिससे द्वारिका का निर्माण हुआ।) रुक्मिणी का हरणकार्य, शीघ्र शिशुपाल का वध करने में उद्यत होना, जरासंघ के वध का कार्य, चक्ररत्न की प्राप्ति, त्रिखण्ड का उत्तम ऐश्वर्य, इत्यादि कार्य हमने किये उस समय हमारा बल नहीं देखा! तुम दुष्टों की अद्यापि मूर्खता नष्ट नहीं होती है? हे पाण्डवों, तुम यहाँ से सौ योजन दूर दक्षिणमथुरा में जाकर वहाँ दीर्घकाल तक रहो।''

परिक्षित को राज्य-प्राप्ति

इत्युक्ते दुःखचेतस्का जग्मुर्गजपुरं नृपाः।
अभिमन्युसुतं तत्र सुभद्रापौत्रमुत्तमम्।। (33)
विराटनृपसंजातोत्तरादेवीसमुद्भवम्।
हरिः परीक्षितं राज्ये स्थापयामास सुस्थिरम्।। (34)
द्वारावतीं ययौ विर्ष्णुर्दक्षिणां मथुरां गताः।
पाण्डवा मातृकान्ताद्यैः पुत्रैः सह समुद्धताः।। (35)
अथ द्वारावतीपुर्यां नेमीशो हरिसंसदि।
संप्राप्तो बलमाहात्म्यवर्णने वर्ण्यतां गतः।। (36)

श्रीकृष्ण के ऐसा वचन कहने पर पाण्डवराजाओं का मन दुःखित हुआ। वे गजपुर गये वहां अभिमन्यु का पुत्र अर्थात् सुभद्रा का उत्तम पौत्र अर्थात् विराटराजा से उत्पन्न हुई कन्या उत्तरादेवी से उत्पन्न हुआ पुत्र जिसका नाम परीक्षित था उसे राज्य पर

श्रीकृष्ण ने स्थिरता से स्थापन किया। तदनंतर श्रीविष्णु द्वारावती चले गये और उद्धत अर्थात् शूर पाण्डव अपनी माता, अपनी स्त्रियाँ और अपने पुत्रों को साथ लेकर मथुरा को गये।

भगवान् महावीर का विश्व को दिव्य सन्देश

(विश्व शान्त्यार्थ)

(चालः सुनो-सुनो हे दुनियाँ वालों....)

सुनो-सुनो हे दुनियाँ वालों, महावीर का दिव्य सन्देश।
उसका निश्चय विकास होगा, जो अपनायेगा यह सन्देश।। (1)
अनेकान्त है दिव्य सन्देश, उदारवादी बने मानव।
सापेक्ष दृष्टि अपनाकर, सापेक्ष कथन करें मानव।। (2)
इससे दूर संकीर्णता होगी, कट्टरता भी गायब होगी।
पक्षपात भी दूर होगा, सर्व समस्या शान्त होगी।। (3)
अहिंसा से स्व-पर-विश्व रक्षा, पर्यावरण की सुरक्षा होगी।
कषाय भाव मन में न हो, यह अन्तरंग अहिंसा होगी।। (4)
इससे तनाव संक्लेश भाव, लड़ाई-झगड़ा दूर भी होंगे।
गृह कलह से आतंकवाद, युद्ध महायुद्ध दूर भी होंगे।। (5)
तृष्णा की कमी सन्तोष वृत्ति से, अपरिग्रह का होगा विकास।
मार्यादित में गृहस्थ पाले, सम्पूर्ण पाले साधु संन्यास।। (6)
प्रकृति शोषण कम भी होगा, यान वाहन भी कम ही होंगे।
कल-कारखाने भी कम होंगे, अपरिग्रह जब हम पालेंगे।। (7)
पर्यावरण की सुरक्षा होगी, प्रदूषणों में कमी आयेगी।
ग्लोबल वार्मिंग विषम वृष्टि, रोग दुर्घटना में कमी आयेगी।। (8)
आध्यात्मिकता से अन्तर दृष्टि, समता भाव में होगी प्रवृत्ति।
इससे होगी आत्मिक शान्ति, सत्य सहिष्णुता व सन्तोष वृति।। (9)
पवित्रता व सहज वृत्ति, जिससे फैलेगी विश्व में शान्ति।
अन्त में मिलेगी मुक्ति की प्राप्ति, महावीर सम मिलेगी शान्ति।। (10)
'कनकनन्दी' भी भावना भाये, विश्व मानव यह अपनाये।

विश्व में सर्वत्र शान्ति प्रसारे, अन्त में आत्मिक शान्ति पाये।। (11)
जैना द्वारा यह दिव्य सन्देश, विश्व कल्याणार्थे हो प्रसारा।
मंगल कामना विश्व हेतु है, ब्रह्माण्ड में हो मंगल सारा।। (12)

तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित परम सत्य विज्ञान
(जैन धर्म की अति विशेषताएँ)

सुनो-सुनो हे दुनियाँ वालों!...जैन धर्म की विशिष्ठ गाथा।
जिसे सुनकर तुम जान पाओगे...जैन धर्म की महान् शिक्षा/(आत्मा)।। (स्थायी/टेक)
जैन धर्म है प्राकृतिक धर्म, वस्तु स्वभाव धर्म कहता है।
प्रत्येक द्रव्य का जो-जो स्वभाव, उसका धर्म वह कहलाता है।।...(1)
जीव का धर्म है चेतन रूप, सच्चिदानन्द स्वरूप है।
ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय, अहिंसा क्षमादि स्वरूप है।।...(2)
द्रव्य-व्यवस्था में अति विशेषता, धर्म-अधर्म द्रव्य द्वय है।
गति स्थिति में सहायक होते, जीव पुद्गल जब प्रमुख/(उपादान/मुख्य) होते।।...(3)
अनेकान्त है सत्य निर्णायक, स्याद्वाद है सत्य कथन।
हर द्रव्य है अनन्त गुणमय, हर द्रव्य अनेकान्तमय।।...(4)
विश्व है अनादि अनन्तमान, अकृत्रिम षड् द्रव्य प्रमाण।
कोई न कर्त्ता-हर्त्ता नियन्ता, उत्पाद व्यय ध्रौव्य संयुक्ता।।...(5)
जीव पुद्गल धर्म-अधर्म काल, अनन्त आकाश द्रव्य संकुल।
छहों द्रव्य भी अनादि अनन्त, अकृत्रिम शाश्वत परिणमनशील।।...(6)
द्रव्य क्षेत्र काल भाव व कर्म, जिसमें जीवों का निहित मर्म।
संसारी जीवों के जन्म-मरण, सुख-दुःखादि में है मर्म।।...(7)
द्रव्य-भाव-नोकर्म त्रिविध, अष्ट अष्टोत्तर शत विविध।
संख्य-असंख्य भेद-प्रभेद, कर्म परमाणु से अनन्त भेद।।...(8)
भाव से कर्माणु बन्धन होते, कर्म/(बन्ध) से विविध रूप धरते।
भाव से कर्मों से मोक्ष भी होते, भाव अशुद्ध-शुद्ध से होते।।...(9)
अशुभ-शुभ शुद्ध भावों से, निर्माण आध्यात्मक सोपान होते।

चौदह गुणस्थान इसे कहते, आत्म विकास से मोक्ष/(निर्वाण) पाते।।...(10)
जीव ही है जिनवर बनता, बीज ही जैसा वृक्ष बनता।
आत्मा ही परमात्मा बनता, बन्ध से जब मुक्त हो जाता।।...(11)
धारण करे धर्म उसका होता, नर-नारकी या पशु देवता।
सत्य-विश्वास व पवित्र भाव, जैसी बनने का सर्वोच्च भाव।।...(12)
अलौकिक गणित अति विशेष, अणु से लेकर विश्व अशेष।
संख्यात-असंख्यात अनन्त तक, प्रतिच्छेद से ब्रह्माण्ड तक।।...(13)
सप्त तत्त्व तथा नव पदार्थ, षट् लेश्या तथा जीव समास।
जन्मान्तर व मोक्ष की गति, मार्गणा स्थान क्रम उन्नति।।...(14)
अगुरुलुघु है अति विचित्र, जिससे द्रव्य में बने स्थायित्व।
षड् गुण हानि अनन्त बने, शुद्ध द्रव्य में सतत बने।।...(15)
इत्यादि अनेक विशेष सत्य, जैनागम से करे प्रत्यक्ष।
संक्षिप्त से यहाँ वर्णन किया, 'कनकनन्दी' ने जो कुछ पाया।।...(16)

(विश्व ज्ञान-विज्ञानमयी जिनवाणी)

अहोभाग्य है जिनवाणी का पय जो पीये है।

(रागः रात कली एक ख्याब में आई... धन्य हमारे भाव...)

धन्य हमारे भाव जगे हैं, जिनवाणी का मनन करें।
अनन्त भवों में स्व को न जाना, दिव्यवाणी से अभी जाने।। (टेक)
विद्यालय की शिक्षा से क्या हो, जीवन निर्वाह पाठ रटे,
जिनवाणी से शिक्षा जो मिले है जीवन निर्माण करें।
स्कूल की शिक्षा व सांसारिक जन, संसार चलाना सिखलाते,
पशु पक्षी व कीट वृक्ष तक, संसार वर्द्धक कार्य करे।। धन्य--
यह तो सहज संस्कार जनक, बहुभवों का कर्म वेग,
इसे क्या सिखाये आहार मैथुन, निद्रा परिग्रह तीव्र वेग।
दयालु जननी जिनेन्द्रवाणी, अमृतपय का पान कराये,
जिसे पानकर काम क्रोध मान, जन्म जरा मृत्य-विनष्ट करे।। धन्य--

अज्ञान मोह अन्धेरा नाशे, उदारभाव का उदय,
भेद-भाव व संकीर्णता नाशे, आत्मज्योति का प्रकाश फैले।
विश्वबन्धुत्व व विश्वशान्ति का, सहज पाठ जो हमें मिले,
पर्यावरण की सुरक्षा उपाय, ज्ञान-विज्ञान सुशिक्षा मिले।। धन्य--
मनोविज्ञान व सापेक्ष सिद्धान्त, अणुशक्ति का ज्ञान मिले।
एकीकृत का सूत्र भी पढ़ें, ब्रह्माण्ड का सच्चा ज्ञान करे,
न्याय या राजनीति वैश्विक सुनीति, प्रबन्धन का बोध मिले,
''कनकनन्दी'' तो बालछात्र सम, जिनवाणी पय पान करे।। धन्य--

स्वाध्याय का स्वरूप-विषय एवं फल

तर्ज-(नगरी नगरी---)

बड़ा सुख पाता, आंनद होता, गुरुवर से ज्ञान जो होता।
मध्याह्न प्रातः होता स्वाध्याय, गुरु से ज्ञान जो पाता।।
वाचना, पृच्छना, समाधान गुरुवर से ज्ञान जो पाता।
मनन, चिन्तन, अनुप्रेक्षा होता हर विधा का ज्ञान जो होता।। बड़ा सुख--
प्रथमानुयोग से गुरुवर हमें, प्राचीन इतिहास का ज्ञान देते।
प्राचीन शिक्षा संस्कार नीति, संस्कृति, सभ्यता भी देते।। बड़ा सुख--
समाज शास्त्र, राजनीति ज्ञान, कानून कला वास्तु देते।
युद्ध-विग्रह समाधान ज्ञान, स्वप्न शकुन का पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख--
ज्ञान-विज्ञान यांत्रिक ज्ञान, देश-विदेश का ज्ञान देते।
नदी-पर्वतग्राम नगर, प्रकृति प्रेम का पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख--
करणानुयोग है गहन ज्ञान, गणित द्वारा ही पाठ पढ़ाते।
लौकिक गणित सामान्य ज्ञान, अलौकिक भी जो बतलाते।। बड़ा सुख--
परमाणु से है प्रारंभ होता, ब्रह्माण्ड तक का मापन होता।
सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि, ब्रह्माण्डीय ज्ञान हमें भी होता।। बड़ा सुख--
ब्रह्माण्डीय काल गणना आदि, कर्म प्रकृति की गणना होती।
ब्रह्माण्डीय जीव अजीव आदि, समस्त द्रव्यों की गणना होती।। बड़ा सुख--
चरणानुयोग से हमें सिखाते, सदाचार का पाठ पढ़ाते।

प्रथम भेद है श्रावकाचार, गृहस्थ सम्बन्धी नीति सिखाते।। बड़ा सुख--
पंचाणुव्रत से हमें सिखाते, भ्रष्टाचार से हमें बचाते।
सप्त व्यसन का त्याग दिलाते, अष्टमूलगुण हमें दिलाते।। बड़ा सुख--
उत्कृष्ट भेद है श्रमणाचार साधु सम्बन्धी पाठ पढ़ाते।
पंचमहाव्रत हमें सिखाते, समस्त पापों का त्याग बताते।। बड़ा सुख--
पंच समिति का पाठ पढ़ाते, सम्यक् प्रवृत्ति की शिक्षा देते।
दश-धर्मों का पाठ पढ़ाते, वैश्विक धर्म की शिक्षा भी देते।। बड़ा सुख--
द्रव्यानुयोग है सूक्ष्माति ज्ञान, आध्यात्म विज्ञान सहित ज्ञान।
दर्शन तर्क से युक्त भी ज्ञान, वैश्विक दृष्टि का महान् ज्ञान।। बड़ा सुख--
आत्मिक विकास ज्ञान सिखाते, आत्मिक शक्ति का ज्ञान भी देते।
शुद्धात्मा होने का पाठ पढ़ाते, आत्म वैभव का ज्ञान भी देते।। बड़ा सुख--
षट्द्रव्यों का ज्ञान भी देते, सापेक्ष सिद्धान्त हमें सिखाते।
सिद्धांत एकीकृत हमें सिखाते, विज्ञान से परे ज्ञान भी देते।। बड़ा सुख--
भौतिक रसायन अणु सिद्धान्त, मनोविज्ञान व जीव सिद्धांत।
इससे श्रेष्ठ का ज्ञान भी देते, परम विज्ञान पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख--
गुरुदेव से जो पाठ हैं पढ़ते, लोक लोकोत्तर काम में आते।
तन मनात्मा की शुद्धि बताते, पवित्रता का पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख--
स्व पर विश्व के हित बताते, विश्वशान्ति की शिक्षा भी देते।
ऐसा ज्ञान सब कोई पायें, ''कनकनन्दी'' भी यह भावना भाये।।

उपेक्षित जिनवाणी का अमृत संदेश

तर्ज-(1. होठों पे सच्चाई रहती है... 2.हाँ तुम बिल्कुल)

मैं जिनवाणी सर्वज्ञवाणी सबसे उपेक्षित मैं दिव्यवाणी।
सर्वज्ञसुता मैं सरस्वती मेरे (हैं) पुत्र गणधर ज्ञानी।। (टेक)
मेरी सन्तति आचार्य यती पाठक साधुसंत आर्यिका सती।
मेरी कोख से जन्म लेते हैं ज्ञान-विज्ञान भाषा संस्कृति।। ज्ञान--
तथापि मुझे कोई न जाने न माने हैं वे मंदमती
जो भव्य जाने जो भव्य माने सो ही बनें मोक्षपति।। सो--(1)

पढ़ाई-बढ़ाई चमड़ी-दमड़ी में लगे रहते हैं मूढ़ अज्ञानी
सत्ता-सम्पत्ति प्रसिद्धि डिग्री को ही सब कुछ माने अज्ञानी।। को--
कोई मुझे पढ़े पर गुने नहीं अतः हैं वे पंथ मतगामी
स्वार्थ में मेरा करे उपयोग स्व-पर घातक अन्धश्रद्धानी।। स्व-पर-(2)
अनेकान्त को एकान्तवाद रूप में वीतराग को वित्तराग में माने
परमार्थ को स्वार्थरूप में आत्मसिद्धि को प्रसिद्धि रूप माने।। आत्मसिद्धि--
मैं जो बताऊँ ज्ञान-विज्ञान आत्मिकज्ञान में नहीं है रुचि
किंतु अढ़ाई वर्ष आयु से पढ़ने-पढ़ाने में होती है रुचि।। पढ़ने--(3)
मेरा ज्ञान तो अनंतज्ञान लौकिक अलौकिक आध्यात्मज्ञान
लौकिकज्ञान भौतिकज्ञान तथापि मेरा न लेता ज्ञान।। तथापि--
ऊँट को यथा नीम सुहाये मोही को लौकिकज्ञान ही भाये
इसलिए मैं होती उपेक्षित उल्लू को यथा सूर्य न भाये।। उल्लू--(4)
''कनकनन्दी'' का सुनो आह्वान स्वाध्याय से तुम नाश करो अज्ञान
अमृत समान मेरा है समस्त दुःखों के नाशक ज्ञान।। समस्त--
मैं जिनवाणी सर्वज्ञवाणी सबसे उपेक्षित मैं दिव्यवाणी
सर्वज्ञसुता मैं सरस्वती मेरे हैं पुत्र गणधर ज्ञानी।।--(5)

जिनवाणी सेवन की महिमा/फल

तर्जः धन्य हमारे भाग्य/(भाव) जगे हैं

धन्य हमारे भाग्य/(भाव) जगे हैं जिनवाणी का मनन/(पठन-लेखन) करे है। (टेक)
जिनवाणी का पय जो पीये है। जिनवाणी का प्रचार करे हैं।
जिनवाणी का श्रवण/सेवन करे हैं। छोड़ के पंथ मत संकीर्ण परम्परा,
स्व-पर हित हेतु ग्रहण करे (हैं)। ख्याति पूजा लाभ-अहं को त्यागकर,
विश्व हित हेतु प्रचार करे (हैं)।। (1)
अनेकान्त से हमने सीखा है, छोड़ो संकीर्ण बना उदार।
स्याद्वाद से हमने सीखा है, हितमित प्रिय का करो उच्चार।। (2)
वस्तु स्वरूप से हमने सीखा है, मैं हूँ सत्य शिव सुन्दर।
पंचव्रतों से हमने सीखा है, सर्व न्याय राजनीति सार।। (3)

गुणस्थानों से हमने सीखा है, आत्मविकास आत्मिक सार।
षोडष भावना से हमने सीखा है, विश्व कल्याण की भावना सार।। (4)
द्वादश अनुप्रेक्षा हमें सीखाती हैं, विश्व विचित्र अपरम्पार,
षट्लेश्या भी हमें सीखाती है। भाव के अनुसार होता आचार।। (5)
दशधर्म भी हमें सीखाते है, वैश्विक धर्म सर्व सार।
पंच समिति भी हमें सीखाती है, जीवन जीने की कला सार।। (6)
सत्य में समस्त ब्रह्माण्ड गर्भित, जीव-अजीव (व) मूर्त-अमूर्त।
समता में सर्व समावेश होता है, धर्म व चारित्र नियमानुसार।। (7)
शान्ति में गर्भित धर्म का फल है, शान्ति इच्छुक जीव सकल।
शान्ति प्राप्ति हेतु जिनवाणी सेवन, मैं करता हूँ निशि दिन।। (8)
जो श्रद्धा से जिनवाणी सुने है, **निकट भव्य** (वह) होता सुजान।
स्वाध्याय करना परम तप है, असंख्यात पापों का होता हनन।। (9)
विश्व विज्ञान का कोप जिनवाणी, लोक-अलोक करे प्रकाश।
भाग्यहीन वह मानव होता है, जो जिनवाणी का न करे सेवन।। (10)
जिनवाणी का जो सेवन करे हैं, साक्षात् जिनेन्द्र करे सेवन।
जन्म-जरा मृत्यु अघ हरे वह, जो ज्ञानामृत करे सेवन।। (11)
मेरा आह्वान है विश्व मानावों को, जिनवाणी का करो सेवन।
'कनकनन्दी' तो प्रयासरत है, जिनवाणी से हो विश्व कल्याण।। (12)

सुध्यान का स्वरूप एवं सुफल

(सुध्यान से शारीरिक मानसिक आध्यात्मिक रोग दूर)

तर्जः चौपाई...

ध्यान है आत्मिक पवित्र धर्म, ध्यान से मिटते (हैं) पापों के कर्म।
ध्यान से तनाव समाप्त होता, ध्यान से रोगों का विनाश होता।।टेक
एकान्त प्रशान्त पावन स्थले, पद्मासनादि सुख आसने।
पूर्व या उत्तर दिशा समुखे, सुध्यान लगाओ एकाग्र चित्ते।। (1)
सुध्यान निमित्ते उपाय करो, तन-मन आत्मा पवित्र करो।

सात्विक आहार मौन को (पालो)/धरो, फैशन व्यसन पाप न करो।। (2)
आत्मा परमात्मा सत्य को जानो, क्रोध-मान माया लोभ को हनो।
व्यग्रता उग्रता संताप त्यागो/(छोड़े), स्व आत्म-भाव में मन को जोड़ो।। (3)
शरीर सुस्थिर मन प्रशान्त, शान्त श्वास क्रिया एकाग्र चित्त।
इन्द्रिय संयम इच्छा निरोध, जिससे सुध्यान होता है साध्य।। (4)
ध्यान से मस्तिष्क प्रशान्त होता, मानसिक बल अधिक होता।
रोग प्रतिरोध शक्ति बढ़ती, ओरा की शक्ति सम्वृद्ध होती।। (5)
दुश्चिन्ता, व्यग्रता रोग न होते सिजोफ्रेनिया डिसऑर्डर रोग न आते।
एलजाइमर, सिंड्रोम रोग भागते, शारीरिक रोग भी दूर रहते।। (6)
मेडिटेशन (भी) मेडिशन का काम करता, तन-मनआत्मा का रोग हरता।
साइडइफेक्ट बिना रोग हरता, बिन धन खर्च स्वास्थ्य देता।। (7)
इसीलिए विदेशी करते ध्यान, भारतीयों का ध्यान में न लगे मन।
इसीलिए भारत में रोग बढ़ गया, ध्यान करने हेतु योग बढ़ गया।। (8)
ध्यान प्रेरणा हेतु हुई रचना, ''सर्वेसन्तु निरामया'' मम भावना।
''कनकनन्दी'' सदा भावना भाये, परम स्वास्थ्य हर जीव पाये।। (9)

विनय मोक्ष द्वारः पंचविध मोक्ष विनय (भक्ति)

(श्रद्धा-भक्ति-विनय-बहुमान-पूजा-प्रार्थना-वन्दना-प्रशंसादिका व्यापक स्वरूप व फल तथा संकीर्ण स्वरूप)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.सुनो सुनो ऐ दुनिया वालों... 2.छोटी-छोटी गैया...)
सुनो! सुनो हे! भक्तजन; भक्ति करने की सही पद्धति।
''वन्देतद्गुणलब्धये'' हेतु भक्ति, दर्शनज्ञान चारित्र सहित होती।।
भक्ति के (होते) विभिन्न रूप, प्रार्थना, पूजा, आरती, वन्दना, स्तुति।
प्रशंसा बहुमान आदर, विनय, गुणी-गुण कथन-स्मरण, कीर्ति।। (1)
लोकाचार-काम-अर्थ-भय विनय, नहीं होते हैं मोक्ष विनय।
मोक्ष विनय ही यथार्थ भक्ति, आध्यात्मिक लाभ हेतु ही स्तुति।।

ज्ञान-ज्ञानी व दर्शन-दर्शनी, चारित्र-चारित्रधारी की भक्ति।
तप-तपस्वी व उपचार विनय, मोक्षद्वार स्वरूप (होती) स्तुति।। (2)
पंचविधज्ञान व ज्ञान की भक्ति, प्रमाद अतिचार रहित स्तुति।
प्रत्यक्ष परोक्ष में जो स्तुति वन्दना, विनय बहुमान आदर प्रार्थना।।
प्रशंसा सत्कार गुणगुण स्मरण, इससे भक्त को मिलता ज्ञान।
पाप निरोध व सातिशय पुण्य बन्धन, जिससे मिले अभ्युदय से निर्वाण।। (3)
तथाहि जिनवाणी का अध्ययन अध्यापन, लेखन सहयोग से ले प्रकाशन।
प्रचार प्रसार करना करवाना; ये सभी ज्ञान ज्ञानी की स्तुति वन्दना।।
ऐसा ही अन्य मोक्ष विनय ज्ञेय, नवकोटि से यथायोग्य करणीय।
केवल रूढ़ि से नहीं (होती) स्तुति पूजा, कट्टर संकीर्णता से देखादेखी करना।। (4)
अभी न होते तीर्थंकर से ले गणधर, उनकी वाणी ही सही मार्गदर्शक।
'आगम चक्खुसाहु' कहा कुन्दकुन्द देव, 'आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा' है आदर्श।।
प्रत्येक-प्रत्येक व समग्र-समग्र, होती स्तुति पूजा प्रार्थना वन्दना।
नवकोटि से करना सदा विधेय, नवकोटि से सदा विरोध अविधेय।। (5)
विरोध से बन्धते घोर घातिया कर्म, श्रद्धान ज्ञान चारित्र होते क्षीण।
होते हैं पंचविध संसार भ्रमण, स्थूल पाप से भी यह ताप जघन्य।।
गणधर से भी पूजनीय जो जिनवाणी, द्वादश सभी के जीव होते जिससे ज्ञानी।
जग हितकारी जो जिनवाणी, उसका अनादर करे सो अधम प्राणी।। (6)
पंचमकाल में आगम धर्म का केन्द्र, श्रावक व श्रवण धर्म का केन्द्र।
इस केन्द्र से परिचालीत धर्म चक्र, अतः जिनवाणी सभी के मार्गदर्शक।।
केन्द्र प्रति केन्द्रित नहीं अधिसंख्य धार्मिक; अतएव धर्मचक्र प्रवर्तन मन्द।
अध्ययन अध्यापन शोध-बोध मन्द, संकीर्ण पंथमत स्वार्थ में केन्द्रित।। (7)
अतएव जैन का प्रचार-प्रसार मन्द, आड़म्बर दिखावा वर्चस्व आबद्ध।
सभी को जगना-जगाना सभी को, इस हेतु 'कनक' करे आह्वान सभी को।।

ग.पु.कॉ. दि-29/8/2020 मध्याह्न-1.12

संदर्भ-

तत्थ णाणायरो अट्ठविहो काले, विणए, उवहाणे, बहुमाणे, तहेव अणिण्हवणे, विंजण-अत्थ-तदुभये चेदि। णाणायारो अट्ठविहो परिहाविदो,

से अक्खर-हीणं वा, सर-हीणं वा, विंजण-हीणं वा, पद हीणं वा, अत्थ-हीणं वा, गंथ-हीणं वा, थएसु वा, थुइसु वा, अत्थक्खाणेसु वा, अणियोगेसु वा, अणियोग-द्वारेसु वा, अकाले-सज्झाओ, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो, काले वा, परिहाविदो, अच्छाकारिदं वा, मिच्छा-मेलिदं वा, आ-मेलिदं, वा-मेलिदं, अण्णहा-दिण्हं, अण्णहा-पडिच्छिदं, आवासएसु-परिहीणदाए तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।। (1)

अन्वयार्थ-(तत्थ) उन पाँच प्रकार के आचारों में पहला (णाणयारो) ज्ञानाचार (अट्टविहो) आठ प्रकार का है-(काले) कालाचार (विणये) विनयाचार (उवहाणे) उपधानाचार (बहुमाणे) बहुमानाचार (लहेव) तथा (अण्णिण्हवणे) अनिह्नवाचार (विंजण) व्यञ्जनाचार (अत्थ) अर्थाचार (च) और (तदुभये) उभयाचार (इदि) इस प्रकार है। (तत्थ) उस (अट्टविहो णाणायारो) आठ प्रकार के ज्ञानाचार का (थएसु) तीर्थंकर, पञ्चपरमेष्ठी या नव देवताओं के गुणों का वर्णन करने वाले स्तवनों में (वा) अथवा (थुईसु) तीर्थंकर पंचपरमेष्ठी आदि गुणों का वर्णन करने वाली स्तुतियों में (वा) अथवा (अत्थक्खाणेसु) चारित्र और पुराणों रूप अर्थाख्यानों में वा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगों में (वा) अथवा (अणियोगेसु) अनुयोगों में (वा) अथवा (अणियोगद्वारेसु) कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोग द्वारों में (अक्खरहीणं) अक्षरहीन (वा) अथवा (सरहीणं) स्वरहीन (वा) अथवा पदहीणं सुबन्ततिङन्त से रहित (विंजणहीणं) व्यंजन हीन (ककरादि व्यञ्जनहीन) (अत्थहीणं) अर्थहीन वाक्य, अधिकाररहित अथवा (गंन्थहीणं) ग्रंथहीन (वा) अथवा (अकाले) अकाल में उल्कापात संध्या काल आदि में (सज्झाओ) स्वाध्याय (कदो) किया हो (वा) अथवा (कारिदो) कराया हो (वा) (कीरंतो समणुमण्णिदो) करते हुए की अनुमोदना की हो (वा) अथवा (काले) काल में आगम का स्वाध्याय किया हो, (परिहाविदी) आगम में कथित गोसर्गिकादि काल में स्वाध्याय नहीं किया हो (अच्छाकारिदं) श्रुत का जल्दी-जल्दी उचारण किया हो (मिच्छामेलिदं) किसी अक्षर या शब्द को किसी अक्षर या शब्द के साथ मिलाया हो (वा)

अथवा (आमेलिदं) शास्त्र के अन्य अवयव को किसी अन्य अवयव के साथ जोड़ा हो (मेलिदं) उच्चध्वनि युक्त पाठ को नीच ध्वनि युक्त पाठ के साथ, नीच ध्वनियुक्त पाठ को उच्च ध्वनि युक्त पाठ के साथ जोड़कर पढ़ा हो (अण्णहादिण्णं) अन्यथा कहा हो (अण्णहापडिच्छिदं) अन्यथा ग्रहण किया (आवासएसु परिहीणदाए) छह आवश्यक क्रियाओं में परिहीनता/कमी करके ज्ञानाचार का परिहापन किया हो (तस्स) तत्संबंधी (मे) मेरे (दुक्कडं) दुष्कृत (मिच्छा) मिथ्या हो।

दंसणायारो अट्ठविहो

णिस्संकिय णिकंक्खिय णिव्विदिगिंच्छा अमूढदिट्ठीय।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल-पहावणा चेदि।। (2)

दंसणायारो अट्ठविहो परिहाविदो, संकाए, कंखाए, विदिगिंछाए, अण्ण-दिट्ठी पंससणाए, परपाखंड-पसंसणाए, अणायदण-सेवणाए, अवच्छल्लदाए, अपहावणाए, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।। (2)

अर्थ-दर्शनाचार के निम्न आठ भेद हैं-(णिस्संकिय) निःशंकित (णिकंक्खिय) निःकांक्षित (णिव्विदिगिंछो) निर्विचिकित्सा (अमूढदिट्ठीय) अमूढदृष्टि (उवगूहण) उपगूहन (ठिदिकरणं) स्थितिकरण (बच्छल्ल) वात्सल्य (च) और (पहावणा) प्रभावना (इदि) इस प्रकार।

श्री श्रुतभक्ति

स्तोष्ये संज्ञानानि परोक्ष-प्रत्यक्ष-भेद-भिन्नानि।
लोकालोक-विलोकन-लोलित-सल्लोक-लोचनानि सदा।। (2)

सम्यक्ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। जैसे जीव को नेत्रों के द्वारा घट-पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है, वैसे ही भव्यजीवों को मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-अवधि-ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान इन पाँच समीचीन ज्ञानों से लोक और अलोक का पूर्ण ज्ञान होता है अतः आचार्य देव पूज्यपाद स्वामी यहाँ प्रतिज्ञा वाक्य में कहते हैं-ऐसे समीचीन ज्ञानी की मैं सदा स्तुति करता हूँ/उन्हीं का स्तवन करूँगा।

मतिज्ञान की स्तुति

अभिमुख-नियमित-बोधन-माभिनिबोधिक-मनिन्द्रियेन्द्रियजम्।
बह्वाद्यवग्रहादिक-कृत-षट्त्रिंशत्-त्रिशत-भेदम्।। (2)
विविधर्द्धि-बुद्धि-कोष्ठ-स्फुट-बीज-पदानुसारि-बुद्ध्यधिकम्।
संभिन्न-श्रोतृ-तया, सार्धं श्रुतभाजनं वन्दे।। (3)

मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ में उमास्वामी आचार्य ने लिखा भी है-''मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'' (त.सू.अ.1/सू.13) मतिज्ञान को आभिनिबोधिक यह सार्थक संज्ञा है। अभि का अर्थ है-ज्ञान के योग्य देश-काल और ग्रहण करने योग्य सामग्री को ''अभि'' कहते हैं। ''नि'' शब्द का अर्थ है नियम। जैसे चक्षु आदि के द्वारा रूप आदि का ज्ञान। पञ्चेन्द्रियों से जो नियमित रीति से ज्ञान होता है वह ''निबोध'' कहलाता है। इस प्रकार योग्य क्षेत्र पर योग्य काल में निर्दोष इन्द्रियों से होने वाला पदार्थों का ज्ञान ''आभिनिबोधिक'' ज्ञान है।

मतिज्ञान सम्यग्ज्ञान का प्रथम भेद है। इसके 336 भेद हैं। बहु-बहुविध आदि 12 पदार्थ, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये 4 ज्ञान=12X4=48। यह ज्ञान अर्थावग्रह-व्यञ्जनावग्रह की अपेक्षा दो प्रकार का है। उनमें अर्थावग्रह 5 इंद्रियों मन से उत्पन्न होता है अतः 48X6=288 भेद हुए। व्यञ्जनावग्रह में मात्र अवग्रह ही होता है तथा यह 4 इंद्रियों से ही होता है चक्षु इन्द्रिय व मन से नहीं होता है अतः 12X4=48 288+48=336 मतिज्ञान के भेद हैं।

मतिज्ञान अनेक ऋद्धियों से शोभायमान है। दिगम्बर साधुओं के तपश्चरण के फल स्वरूप विधि ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यथा-

कोष्ठबुद्धि ऋद्धि-जिस प्रकार भंडारी एक ही कोठे में अनेक प्रकार के धान्य वस्तुएँ रखता है उसी प्रकार इस बुद्धि के धारक ऋषिगण अपनी बुद्धि में अनेक प्रकार के ग्रन्थों को धारण कर रखते हैं। धारण को कभी नष्ट नहीं होने देते हैं। कोष्ठ सम बुद्धि की प्राप्ति को 'कोष्ठबुद्धि' कहते हैं।

बीज बुद्धि ऋद्धि-खेत में बोया एक बीज ही बहुत से धान्य को उत्पन्न कर

देता है वैसे ही एक पद के ग्रहण से अनेक पदों का ज्ञान हो जाय उसे बीज बुद्धि ऋद्धि कहते हैं।

पदानुसारि बुद्धि ऋद्धि-जिस बुद्धि में ग्रन्थ का प्रथम या अन्तिम पद ग्रहण करने से ही पूर्ण ग्रन्थ का ज्ञान हो जावे उसे पदानुसारि बुद्धि ऋद्धि कहते हैं।

संभन्निश्रोतृत्वऋद्धि-एक ही समय में होने वाले अनेक शब्दों को एक साथ अलग-अलग जिस बुद्धि विशेष से जाना जाता है उसे संभिन्नश्रोतृबुद्धि ऋद्धि कहते हैं। चक्रवर्ती के 12 योजन लम्बे और नौ योजन चौड़े सैन्य में रहने वाले मानव, पशु, पक्षी आदि सभी की अक्षरात्मक अनक्षरात्मक भाषा को एक साथ अलग-अलग जान लेना इस ऋद्धि का कार्य है।

इन सबके साथ ही मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण है। क्योंकि उमास्वामी आचार्य ने लिखा है-''श्रुतंमतिपूर्वं'' मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार अनेक भेदों से शोभायमान, ऋद्धियों से युक्त ऐसे इस मतिज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रुतज्ञान की स्तुति

श्रुतमपि-जिनवर-विहितं गणधरं-रचितं द्व्यनेक-भेदस्थम्।
अंगांगबाह्य-भावित-मनन्त-विषयं नमस्यामि।। (4)

जो श्रुतज्ञान अर्थरूप में जिनेन्द्रदेव के द्वारा निरूपित है, अर्थ व पद रूप से जिसकी अंग रूप में रचना गणधर देवों ने की है तथा जो अङ्ग प्रविष्ट व अङ्ग बाह्य रूप दो व अनेक भेद वाला है अनन्त पदार्थों को विषय करने वाले उस श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हुआ। इनमें अर्थ रूप ज्ञान ''भावश्रुत'' है और शब्दरूप ज्ञान द्रव्यश्रुत है।

द्रव्यश्रुत की अंग प्रविष्ट व अङ्ग बाह्य संज्ञा का हेतु क्या है? अङ्ग बाह्य द्वादशांग में गर्भित है या नहीं? ऐसी शंका होने पर आचार्य देव उत्तर देते हुए कहते हैं-

द्वादशांग के समस्त अपुनरुक्त अक्षरों का प्रमाण 18446744073709551614 कुल बीस अंग प्रमाण है। मध्यम पद के अक्षरों का प्रमाण सौलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी है। मध्यमपद के अक्षरों का जो प्रमाण है उसका समस्त द्वादशांग के अक्षरों के प्रमाण में

भाग देने पर जितना लब्ध आवे उतने अंग प्रविष्ट अक्षर होते हैं और शेष जितने अक्षर रहें उतना अंगबाह्य अक्षरों या श्रुत का प्रमाण होता है। वास्तव में यहाँ अङ्ग बाह्य या अंग प्रविष्ट का भेद मध्यमपदों की अपेक्षा है अतः अंग बाह्य या अंग प्रविष्ट दोनों द्वादशांग के ही भेद है। अर्थात् वे सब द्वादशांग में ही गर्भित हैं।

ऐसा यह श्रुतज्ञान परोक्षरूप से अनन्त पदार्थों को जानता है अतः उस श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ।

पर्यायाक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्तिकानुयोग-विधीन्।
प्राभृतक-प्राभृतकं प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च।। (2)
तेषां समासतोऽपि च विंशाति-भेदान् समश्नुवानं तत्।
वन्दे द्वादशधोक्तं गम्भीर-वर-शास्त्र-पद्धत्या।। (3)

श्रुतज्ञान के पर्याय आदि 20 भेद हैं। इनमें पर्यायज्ञान सबसे जघन्य ज्ञान है। इस ज्ञान का दूसरा नाम लब्ध्यक्षर ज्ञान भी हैं। श्रुतज्ञान के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं। जिस ज्ञान का कभी नाश नहीं होता उसको अक्षर कहते हैं। यह ज्ञान अक्षर का अनन्तवाँ भाग है, इसका कभी नाश नहीं होता। यह ज्ञान सक्ष्मनिगोदिया लब्ध्य-पर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के पहले समय होता है। वह ज्ञान अक्षर का अनन्तवाँ भाग होकर सदा निरावरण होता है। इसका जीव के कभी अभाव नहीं होता। यदि इसका अभाव हो जाय तो जीव का ही अभाव हो जाय।

पर्याय ज्ञान के ऊपर और अक्षर श्रुतज्ञान से पहले तक पर्यायसमास ज्ञान कहलाता है। अकार, आकार आदि श्रुतज्ञान को अक्षर श्रुतज्ञान कहते हैं। यह अक्षर श्रुतज्ञान सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के अनन्तानन्त लब्ध्यक्षरों के बराबर होता है (ध.पु. 13, पृ. 264)। अक्षरज्ञान के ऊपर पद श्रुतज्ञान से नीचे श्रुतज्ञान के समस्त भेद अक्षर समास हैं।

जिससे अर्थ का बोध हो सो पद है-1.अर्थपद 2.मध्यमपद व प्रमाणपद। अक्षर समास के ऊपर एक अक्षरज्ञान के बढ़ने पर यह पद ज्ञान होता है। पद नामक श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर-प्रमित श्रुतज्ञान के बढ़ने पर पदसमास नामक श्रुतज्ञान होता है।

एक गति का निरूपण करने वाला संघात नामक श्रुतज्ञान है। एक मध्यमपद के

ऊपर भी एक-एक अक्षर की वृद्धि होते हुए संख्यात हजार पदों की वृद्धि जिसमें हो वह संघात नामक श्रुतज्ञान है। संघात श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुतज्ञान की वृद्धि होने पर संघात समास नामक ज्ञान होता है।

संख्यात संघात श्रुतज्ञानों का आश्रयकर एक प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता है। अथवा जितने पदों के द्वारा चार गति, मार्गणा का प्ररूपण हो वह प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान है। इसमें एक अक्षर प्रमाण वृद्धि होने पर प्रतिपत्तिक समास श्रुतज्ञान होता है संख्यात प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान का एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है अथवा चौदह मार्गणाओं से प्रतिबद्ध जितने पदों के द्वारा अर्थ जाना जाता है उतने पदों से उत्पन्न श्रुतज्ञान को अनुयोग कहते हैं। अनुयोग के ऊपर अक्षर की वृद्धि होने पर अनुयोग समास श्रुतज्ञान होता है। अनुयोगों के ऊपर क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते हुए चतुरादि अनुयोगी की वृद्धि होने पर प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुतज्ञान की वृद्धि होने पर प्राभृत-प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है।

चौबीस प्राभृत-प्राभृत का एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। प्राभृत श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमाण वृद्धि होने पर प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है। तथा 1-1 वस्तु में 20-20 प्राभृत होते हैं।

14 पूर्वों में 125 वस्तुएँ हैं और प्राभृतों का प्रमाण 3200 है। संक्षेप में- कम से कम श्रुतज्ञान को पर्यायज्ञान, इन्द्रियों से ग्रहण में आवे सो अक्षरज्ञान, जिससे अर्थ का बोध हो वह पद ज्ञान, एक गति स्वरूप को प्रकट करने वाला संघात ज्ञान, 4 गतियों के स्वरूप को जानने वाले प्रतिपत्तिक ज्ञान, 14 मार्गणाओं का निरूपक अनुयोग ज्ञान 4 निक्षेप, सत् संख्यादि का कथन करनेवाला प्राभृत-प्राभृत ज्ञान। प्राभृतक-प्राभृतक का अधिकार प्राभृत ज्ञान, पूर्व का अधिकार वस्तु और शास्त्र के अर्थ को पोषक पूर्व तथा हर एक के भेदों को समास कहते हैं, इस प्रकार भावश्रुतज्ञान के क्रमित विकास अपेक्षा 20 भेद हैं।

श्रुतज्ञान के बारह भेद

आचारं सूत्रकृतं स्थानं समवाय-नामधेयं च।
व्याख्या-प्रज्ञप्तिं व ज्ञातृकथोपासकाध्ययने।। (7)

वन्देऽन्तकृद्दश-मनुत्तरोपपादिकदशं दशावस्थम्।
प्रश्नव्याकरणं हि विपाकसूत्रं च विनमामि।। (8)

मुनियों के आचार का वर्णन करने वाला **आचाराङ्ग** है, 5 प्रकार का विनय, अध्ययन व व्यवहार धर्म क्रिया का वर्णन करने वाला **सूत्रकृताङ्ग** है, सम्पूर्ण द्रव्यों के क्रमशः एक से लेकर अनेक स्थानों का वर्णन करने वाला **स्थानाङ्ग** है, समस्त द्रव्य में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा समानता का वर्णन करने वाला **समवायाङ्ग** है, जीव द्रव्य के सम्बन्ध में 6000 प्रश्नों का समाधान करने वाला **व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग** है, तीर्थंकरादि महापुरुषों के वैभव व गुणों का वर्णन करने वाला ज्ञातृकथाङ्ग है, श्रावकों के आचार का कथन करने वाला **उपासकाध्ययनाङ्ग** है, प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थंकाल में 20-20 मुनि उपसर्ग केवली हो मुक्त हुए इनका वर्णन करने वाला **अन्तकृद्दशाङ्ग** है, महोपसर्ग सहन कर विजयादि विमानों में उत्पन्न हुए उनका वर्णन करने वाला **अनुत्तरोपपादिक दशाङ्ग** है, तीन काल में लाभ-अलाभ व चार प्रकार की कथाओं का वर्णन करने वाला **प्रश्नव्याकरण अङ्ग** है तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार कर्मफलों का वर्णन करने वाला **विपाकसूत्राङ्ग** है। इन **अङ्गों** में **4 करोड़ 15 लाख 2 हजार** पद है। ग्यारह अङ्ग रूप पूर्ण श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ।

दृष्टिवाद (बारहवें) अंग की स्तुति

परिकर्म च सूत्रं च स्तौमि प्रथमानुयोग-पूर्वगते।
सार्द्धं चूलिकयापि च पंचविधं दृष्टिवादं च।। (9)

भावार्थ-दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अङ्ग है, इसके पाँच भेद हैं 1.परिकर्म, 2.सूत्र, 3.प्रथमानुयोग, 4.पूर्वगत और 5.चूलिका इन सबकी मैं स्तुति/वन्दना करता हूँ।

परिकर्म-जिसमें गणित की व्याख्या कर उसका पूर्ण विचार किया हो उसके परिकर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं-1.चन्द्रप्रज्ञप्ति 2.सूर्यप्रज्ञप्ति 3.जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 4.दीपसागर प्रज्ञप्ति और 5.व्याख्या प्रज्ञप्ति।

जिसमें चन्द्रमा की आयु, गति, विभूति आदि का वर्णन हो वह **चन्द्रप्रज्ञप्ति**

है। जिसमें सूर्य की आयु, गति, परिवार, आदि का वर्णन हो वह **सूर्यप्रज्ञप्ति** है। जिसमें जम्बूद्वीप संबंधी सात क्षेत्र कुलाचल आदि का वर्णन है वह **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति** है। जिसमें असंख्यात द्वीप व समुद्रों का वर्णन है वह **द्वीपसागरप्रज्ञप्ति** है। और जिसमें जीव, अजीव आदि द्रव्यों के स्वरूप का वर्णन है वह **व्याख्याप्रज्ञप्ति** है।

सूत्र-जिसमें जीव का विस्तृत विवेचन-कर्त्ता भोक्ता आदि रूप है वह सूत्र है।

प्रथमानुयोग-जिसमें 63 शलाका पुरुषों का निरूपण है वह प्रथमानुयोग है।

पूर्वगत-इसके उत्पाद आदि 14 भेद हैं।

चूलिका-इसके पाँच भेद हैं-जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

जलगता-इसमें जल में गमन, जल का स्तंभन करने के लिये जो मंत्र-तंत्र आदि कारण हैं उनका वर्णन है। **स्थलगता**-पृथ्वी पर गमन करने के कारण मंत्र-तंत्र और तपश्चरण आदि का वर्णन इसमें हैं। **मायागता**-इसमें इन्द्रजाल संबंधी मंत्र-तंत्रों का वर्णन है। **रूपगता**-इसमें सिंह, व्याघ्र आदि के रूप धारण करने के मंत्र-तंत्रों का वर्णन है तथा **आकाशगता**-इसमें आकाश में गमन करने के कारण तन्त्र-मन्त्र और तपश्चरण आदि का वर्णन है।

अथ प्रशस्तिः (महापुराण)

यस्यानताः पदनखैन्दबिम्बचुम्बिः चूडामणिप्रकटसन्मुकुटाः सुरेन्द्राः।
न्यक्कुर्वते स्म हरमर्धशशाङ्कमौलिलीलोद्धतं स जयताज्जिनवर्धमानः।। (1)

इन्द्र लोग जिन्हें नमस्कार करते थे और इसीलिए जिनके चरण-नखरूपी चन्द्रमा के बिम्ब का स्पर्श करने से जिन इन्द्रों के उत्तम मुकुट प्रकट हो रहे थे वे इन्द्र, मस्तक पर अर्धचन्द्र को धारण करने से लीला से उन्मत्त हुए महादेव का भी तिरस्कार करते थे ऐसे श्री वर्धमान स्वामी सदा जयशील हों।

श्रीमूलसङ् घवाराशौ मणीनामिव साचिंषाम्।
महापुरुषरत्नानां स्थानं सेनान्वयोऽजनि।। (2)

जिस प्रकार समुद्र में अनेक देदीप्यमान रत्नों के स्थान होते हैं उसी प्रकार मूलसंघ रूपी समुद्र में महापुरुष-रूपी रत्नों के स्थान स्वरूप एक सेनवंश हो गया है।

तत्र वित्रासिताशेषप्रवादिमदवारणः।

वीरसेनाग्रणीर्वीरसेनभट्टारको को बभौ।। (3)

उसमें समस्त प्रवादी रूपी मदोन्मत्त हाथियों को त्रास देनेवाले एवं वीरसेन संघ के अग्रणी वीरसेन भट्टारक सुशोभित हुए थे।

ज्ञानचारित्रसामग्रीवा ग्रहीदिव विग्रहम्।

विराजते विधातु यो विनेयानामनुग्रहम्।। (4)

वे ज्ञान और चारित्र की सामग्री के समान शरीर को धारण कर रहे थे और शिष्य जनों का अनुग्रह करने के लिए ही मानो सुशोभित हो रहे थे।

यत्क्रमानम्रराजन्यमुखाब्जान्यादधुः श्रियम्।

चित्रं विकाससमासाद्य नखचन्द्रमरीचिभिः।। (5)

यह आश्चर्य की बात थी कि उन वीरसेन भट्टारक के चरणों में नम्र हुए राजा लोगों के मुखरूपी कमल उनके नखरूपी चन्द्रमा की किरणों से प्रफुल्लित होकर शोभा को धारण कर रहे थे।

सिद्धिभूपद्धतिं यस्य टीकां संवीक्ष्य भिक्षुभिः।

टीक्यते हेलयान्येषां विषमापि पदे पदे।। (6)

सिद्धिभूपद्धति ग्रन्थ यद्यपि पद-पद पर विषम या कठिन था परन्तु उन वीरसेन स्वामी के द्वारा निर्मित उसकी टीका देखकर भिक्षु लोग उसमें अनायास ही प्रवेश करने लगे थे।

यस्यास्याब्जजवाक्छिया धवलया कीर्त्येव संश्राव्यया

सम्प्रीतिं सततं समस्तसुधियां सम्पादयन्त्या सताम्।

विश्वव्याप्तिपिश्रमादिव चिरं लोके स्थितिं संश्रिताः।

श्रोत्रालीनमलान्यनाद्युपचितान्यस्तानि निःशेषतः।। (7)

अभवदिव हिमाद्रेर्देवसिन्धुप्रवाहो

ध्वनिरिव सकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्तिः।

उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो

मुनिरनु जिनसेनो वीरसेनादमुष्मात्।। (8)

जिन वीरसेन स्वामी के मुखरूपी कमल से प्रकट हुई वचन रूपी लक्ष्मी, धवल कीर्ति के समान श्रवण करने के योग्य है, समस्त बुद्धिमान् सज्जनों को सदा प्रेम उत्पन्न करनेवाली है और समस्त संसार में फैलने के परिश्रम से ही मानो इस लोक में बहुत दिन से स्थित है उसी वचनरूपी लक्ष्मी के द्वारा अनादि काल से संचित कानों में भरे हुए मैल पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं।

विशेषार्थ-श्री वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम के ऊपर जो धवला नामकी टीका लिखी है वह मानो उनके मुखरूपी कमल से प्रकट हुई लक्ष्मी ही है, कीर्ति के समान श्रवण करने योग्य है, समस्त सम्यग्ज्ञानी पुरुषों को निरन्तर उत्तम प्रीति उत्पन्न करती है, उसका प्रभाव समस्त लोक में फैला हुआ है। और वह लोक में सिद्धान्त ग्रन्थों की सीमा के समान स्थित है। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि उनकी वह धवला टीका श्रोतृजनों के अज्ञान रूपी मैल को चिरकाल तक सम्पूर्ण रूप से नष्ट करता रहे। जिस प्रकार हिमवान् पर्वत से गङ्गानदी का प्रवाह प्रकट होता है, अथवा सर्वज्ञ देव से समस्त शास्त्रों की मूर्ति स्वरूप दिव्य ध्वनि प्रकट होती है अथवा उदयाचल के तट से देदीप्यमान सूर्य प्रकट होता है उसी प्रकार उन वीरसेन स्वामी से जिनसेन मुनि प्रकट हुए।

यस्य पांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तर विर्भवत्।
पादाम्भोजरजः पिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्वममोधवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलम्।
स श्रीमान्जिसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम्।। (9)

श्री जिनसेन स्वामी के देदीप्यमान नखों के किरणसमूह धारा के समान फैलते थे और उसके बीच उन के चरण कमल के समान जान पड़ते थे उनके उन चरण-कमलों की रजते जब राजा श्री अमोघवर्ष के मुकुट में लगे हुए नवीन रत्नों की कान्ति पीली पड़ जाती थी तब वह अपने आप को ऐसा स्मरण करता था कि मैं आज अत्यन्त पवित्र हुआ हूँ। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि उन पूजनीय भगवान् जिनसेनाचार्य के चरण संसार के लिए मङ्गल रूप हों।

प्रावीण्यं पदवाक्ययोः परिणतिः पक्षान्तराक्षेपणे
सद्भावावगतिः कृतान्तविषया श्रेयःकथाकौशलम्।

ग्रन्थग्रन्थिभिदिः सदध्ववितेत्यग्रो गुणानां गणो

ये सम्प्राप्य चिरं कलङ्कविकलः काले कलौ सुस्थितः।। (10)

पद और वाक्य की रचना में प्रवीण होना, दूसरे पक्ष का निराकरण करने में तत्परता होना, आगमविषयक उत्तम पदार्थों को अच्छी तरह समझना, कल्याणकारी कथाओं के कहने में कुशलता होना, ग्रन्थ के गूढ अभिप्राय को प्रकट करना और उत्तम मार्ग युक्त कविता का होना ये सब गुण जिनसेनाचार्य को पाकर कलिकाल में भी चिरकाल तक कलङ्करहित होकर स्थिर रहे थे।

ज्योत्स्नेव तारकाधीशे सहस्त्रांशाविव प्रभा।

स्फटिके स्वच्छतेवासीत्सहजास्मिन्सरस्वती।। (11)

जिस प्रकार चन्द्रमा में चाँदनी, सूर्य में प्रभा और स्फटिक में स्वच्छता स्वभाव से ही रहती है उसी प्रकार जिनसेनाचार्य में सरस्वती भी स्वभाव से ही रहती थी।

दशरथगुरुरासीत्तस्य धीमान्सधर्मा

शशनि इव दिनेशो विश्वलोकैकचक्षुः।

निखिलमिदमदीपि व्यापि तद्वाङ्मयूखैः

प्रकटितनिजभावं निर्मलैधर्मसारेः।। (12)

जिस प्रकार समस्त लोक का एक चक्षुस्वरूप सूर्य चन्द्रमा का सधर्मा होता है। उसी प्रकार अतिशय बुद्धिमान् दशरथ गुरु, उन जिनसेनाचार्य के सधर्मा बन्धु थे-एक गुरु-भाई थे। जिस प्रकार सूर्य अपनी निर्मल किरणों से संसार के सब पदार्थों को प्रकट करता है उसी प्रकार वे भी अपने वचनरूपी किरणों से समस्त जगत् को प्रकाशमान करते थे।

सद्भावः शर्वशास्त्राणां तद्भास्वद्वाक्यविस्तरे।

र्दपणार्पितबिम्बाभो बालैप्याशु बुध्यते।। (13)

जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य के मण्डल को बालक लोग भी शीघ्र जान जाते हैं उसी प्रकार जिनसेनाचार्य के शोभायमान वचनों में समस्त शास्त्रों का सद्भाव था वह बात अज्ञानी लोग भी शीघ्र ही समझे जाते थे।

प्रत्यक्षीकृतलक्ष्यलक्षणविधिविंश्वोपविद्यां गतः।
सिद्धान्ताब्ध्यवसानयानजनित प्रागल्भ्यवृद्धीद्धधीः।
नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूषितः।
शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीज्जगाद्विश्रुतः।। (14)

सिद्धान्त शास्त्र रूपी समुद्र के पारगामी होने से जिसकी बुद्धि अतिशय प्रगल्भ तथा देदीप्यमान (तीक्ष्ण) थी, जो अनेक नय और प्रमाण के ज्ञान में निपुण था, अगणित गुणों से भूषित था तथा समस्त जगत् में प्रसिद्ध था ऐसा गुणभद्राचार्य, उन्हीं जिनसेनाचार्य तथा दशरथ गुरु का शिष्य था।

पुण्यश्रियोऽयमजयत्सुभगत्वदर्प
मित्याकलय्य परिशुद्धमतिस्तपश्रीः।
मुक्तिश्रिया पुटतमा प्रहितेव दूती
प्रीत्या महागुणधनं समशिश्रियद्यम्।। (15)

'गुणभद्र ने पुण्य-रूपी लक्ष्मी के सौभाग्यशाली होने का गर्व जीत लिया है' ऐसा समझकर मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने उनके पास अत्यन्त चतुर दूत के समान विशुद्ध बुद्धि वाली तपोलक्ष्मी को भेजा था और वह तपोलक्ष्मी दूती महागुण-रूपी धन से सम्पन्न रहने वाले उस गुणभद्र की बड़ी प्रीति से सेवा करती रहती थी।

तस्य वचनांशुविसरः सन्ततहृतदुरास्तन्तरङ्गतमाः।
कुवलयपद्माह्लादी जिनशिशिराशिशिररश्मिप्रसरः।। (16)

उन गुणभद्र के वचनरूपी किरणों के समूह ने हृदय में रहनेवाले अज्ञानान्धकार को सदा के लिए नष्ट कर दिया था और वह कुवलय तथा कमल दोनों को आह्लादित करनेवाला था (पक्ष में महीमण्डल की लक्ष्मी को हर्षित करनेवाला था) इस तरह उसने चन्द्रमा और सूर्य दोनों के प्रसार को जीत लिया था।

कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम्।
सकलच्छन्दोलङ्कृतिलक्ष्यं सूक्ष्मार्थगूढपदरचनम्।। (17)
ब्यावर्णनानुसारं साक्षात्कृतसर्वशास्त्रसद्भावम्।
अपहस्तितान्यकाव्यं श्रव्यं व्युत्पन्नमतिभिरादेयम्।। (18)

जिनसेनभगवतोक्तं मिथ्याकविदर्पदलनमतिललितम्।
सिद्धान्तोपनिबन्धनकर्त्रा भर्त्रा विनेयानाम्।। (19)

परमेश्वर कवि के द्वारा कथित गद्य काव्य जिसका आधार है, जो समस्त छन्दों और अलंकारों का उदाहरण है, जिसमें में सूक्ष्म अर्थ और गूढ़पदों की रचना है, जिसने अन्य काव्यों को तिरस्कृत कर दिया है, जो श्रवण करने योग्य है, मिथ्या कवियों के दर्प को खण्डित करनेवाला है, और अतिशय सुन्दर है ऐसा यह महापुराण सिद्धान्त ग्रन्थ पर टीका लिखनेवाले तथा शिष्यजनों का चिरकाल तक पालन करनेवाले श्री जिनसेन भगवान् ने कहा है।

अतिविस्तरभीरुत्वादवशिष्टं सङ्गृहीतममलधिया।
गुणभद्रसूरिणेदं प्रहीणकालानुरोधेन।। (20)

ग्रन्थ का जो भाग, भगवान् जिनसेन के कथन से बाकी बच रहा था उसे निर्मल बुद्धि के धारक गुणभद्र सूरि ने हीनकाल के अनुरोध से तथा भारी विस्तार के भय से संक्षेप में ही संगृहीत किया है।

ब्यावर्णनादिरहितं सुबोधमखिलं सुलेखमखिलहितम्।
महितं महापुराणं पठन्तु शृण्वन्तु भक्तिमद्भव्याः।। (21)

यह महापुराण व्यर्थ के वर्णन से रहित है, सरलता से समझा जा सकता है, उत्तम लेख से युक्त है, सब जीवों का हित करनेवाला है, तथा पूजित है-सब इसकी पूजा करते हैं ऐसे इस समग्र महापुराण ग्रन्थ को भक्ति से भरे हुए भव्य जीव अच्छी तरह पढ़े तथा सुनें।

इदं भावयतां पुसां भूयो भवबिभित्सया।
भव्यानां भाविसिद्धीनां शुद्धदृग्वृत्तविद्वताम्।। (22)
शान्तिर्वृद्धिर्जयः श्रेयः प्रायः प्रेयः समागमः।
विगमो विप्लवव्याप्तेराप्तिरत्यर्थसम्पदाम्।। (23)
बन्धहेतुफलज्ञानं स्याच्छुभाशुकर्मणाम्।
विज्ञेयो मुक्तिसद्भावो मुक्तिहेतुश्च निश्चितः।। (24)
निर्वेगत्रितयोद्भूतिधर्मश्रद्धाप्रवर्धनम्।

असङ्ख्येयगुणाश्रेण्या निर्जराशुभकर्मणाम्।। (25)
आस्रवस्य च संरोधः कृत्स्नकर्मविमोक्षणात्।
शुद्धिरात्यन्तिकी प्रोक्ता सैव संसिद्धिरात्मनः।। (26)
तदेतदेव व्याख्येयं श्रव्यं भव्यैनिरन्तरम्।
चिन्त्यं पूज्यं मुदा लेख्यं लेखनीयञ्च भाक्तिकैः।। (27)

संसार के छेद की इच्छा से जो भव्य जीव इस ग्रन्थ का बार-बार चिन्तवन करते हैं, ऐसे निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के धारक पुरुषों को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, सब प्रकार की शान्ति मिलती है, वृद्धि होती है, विजय होती है, कल्याण की प्राप्ति होती है, प्रायः इष्ट जनों का समागम होता है, उपद्रवों का नाश होता है, बहुत भारी सम्पदाओं का लाभ होता है, शुभ-अशुभ कर्मों के बन्ध के कारण तथा उनके फलों का ज्ञान होता है, मुक्ति का अस्तित्व जाना जाता है, मुक्ति के कारणों का निश्चय होता है, तीनों प्रकार के वैराग्य की उत्पत्ति होती है, धर्म की श्रद्धा बढ़ती है, असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा होती है, अशुभ कर्मों का आस्रव रुकता है और समस्त कर्मों का क्षय होने से वह अत्यधिक शुद्धि प्राप्त होती है जो कि आत्मा की सिद्धि कही जाती है। इसलिए भक्ति से भरे हुए भव्यों को निरन्तर इसी महापुराण ग्रन्थ की व्याख्या करनी चाहिये, इसे ही सुनना चाहिये, इसी का चिन्तवन करना चाहिये, हर्ष से इसी की पूजा करनी चाहिये और इसे ही लिखना चाहिये।

विदितसकलशास्त्रो लोकसेना मुनीशः
कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः।
सततमिह पुराणे प्रार्थ्यं सहाय्यमुच्चै-
र्गुरुविनयमनैषीन्मान्यतां स्वस्य सिद्धः।। (28)

समस्त शास्त्रों के जाननेवाले एवं अखण्ड चारित्र के धारक मुनिराज लोकसेन कवि, गुणभद्राचार्य के शिष्यों में मुख्य शिष्य थे। इन्होंने इस पुराण को सहायता देकर अपनी उत्कृष्ट गुरु-विनय को सत्पुरुषों के द्वारा मान्यता प्राप्त कराई थी।

यस्तोत्तुङ्गमतङ्गजा निजमदस्त्रोतस्विनीसङ्गमा
द्गाङ्गं वारि कलङ्कित कटु मुहुः पीत्वापगच्छत्तृषः।
कौमारं धनचन्दनं वनमपां पत्युस्तरङ्गानिलै
र्मन्दान्दोलितमस्तभास्करकरच्छायं समाशिश्रियन्।। (29)

जिनके ऊँचे हाथी अपने मद रूपी नदी के समागम से कलङ्कित गङ्गा नदी का कटु जल बार-बार पीकर प्यास से रहित हुए थे तथा समुद्र की तरङ्गो से जो मन्द-मन्द हिल रहा था और जिसमें सूर्य की किरणों की प्रभा अस्त हो जाती थी ऐसे कुमारीपर्वत के सघन चन्दनवन में बार बार विश्राम लेते थे। **भावार्थ**-जिनकी सेना दक्षिण से लेकर उत्तर में गङ्गा नदी तक कई बार घूमी थी।

दुग्धाब्धौ गिरिणा हरौ हतसुखा गोपीकुचोद्धट्टनैः
पद्मे भानुकरौभिंदेलिमदले रात्रौ च संकोचने।
यस्यारेःशरणे प्रथीयसि भुजस्तम्भान्तरोत्तम्भित-
स्थेये हारकलापतोरणगुणे श्रीः सौख्यमागाचिरम्।। (30)

लक्ष्मी के रहने के तीन स्थान प्रसिद्ध हैं-एक क्षीर-समुद्र, दूसरा नारायण का वक्षःस्थल और तीसरा कमल। इनमें से क्षीरसमुद्र में लक्ष्मी को सुख इसलिए नहीं मिला कि वह पर्वत के द्वारा मथा गया था, नारायण के वक्षःस्थल में इसलिए नहीं मिला कि वहाँ गोपियों के स्तनों का बार-बार आघात लगता था और कमल में इसलिए नहीं मिला कि उसके दल सूर्य की किरणों से दिन में तो खिल जाते थे परन्तु रात्रि में संकुचित हो जाते थे।

इस तरह लक्ष्मी इन तीनों स्थानों से हट कर, भुज रूप स्तम्भों के आधार से अत्यन्त सुदृढ़ तथा हारों के समूह रूपी तोरणों से सुसज्जित जिन के विशाल वक्षःस्थल रूपी घर में रहकर चिरकाल तक सुख को प्राप्त हुई थी।

अकालवर्षभूपाले पालयत्यखिलामिलाम्।
तस्मिन्विध्वतस्तनिरशेषद्विषि वीध्रयशोजुषि।। (31)

जिन्होंने समस्त शत्रु नष्ट कर दिये थे, और जो निर्मल यश को प्राप्त थे ऐसे राजा अकालवर्ष जब इस समस्त पृथिवी का पालन कर रहे थे।

पद्मालयमुकुलकुलप्रविकाससत्प्रतापततमहसि।
श्रीमति लोकादित्ये प्रध्वस्तप्रथितशत्रुसन्ततमसे।। (32)
चेल्लपता के चेल्लध्जानुजे चेल्लकेतननूजे।
जैनेन्द्रधर्मवृद्धेविंधायिनि विधुवीध्रपृथुयशसि।। (33)
वनवासदेशमखिलं भुञ्जति निष्कण्टकं सुख सुचिरम्।
तत्पितृनिजनामकृते ख्याते वङ्कापुरे पुरेष्वधिके।। (34)

तथा कमलाकर के समान अपने प्रपितामह मुकुल के वंश को विकसित करनेवाले सूर्य के प्रताप के समान जिसका प्रताप सर्वत्र फैल रहा था, जिसने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध शत्रु रूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया था, जो चेल्ल पताकावाला था। जिसकी पताका में मयूर चिह्न था-चेल्लध्वज का अनुज था, चेल्लकेतन (बंकेय) का पुत्र था, जैनधर्म की वृद्धि करनेवाला था, और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश का धारक था ऐसी श्रीमान् लोकादित्य राजा, अपने पिता के नाम पर बसाये हुए अतिशय प्रसिद्ध बङ्कापुर नाम के श्रेष्ठ नगर में रहकर कण्टक रहित समस्त वनवास देश का सुखपूर्वक चिरकाल से पालन करता था।

शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते।
मङ्गलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे।। (35)
श्रीपच्चभ्यां बुधार्द्रायुजि दिवसजे मन्त्रिवारे बुधांशे
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे सैंहिकेये तुलायाम्।
सूर्ये शुक्र कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्यैः
प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति वियजते पुण्यमेतत्पुराणम्।। (36)

तब महामङ्गलकारी और समस्त मनुष्यों को सुख देनेवाले पिङ्गल नामक 620 शक संवत् में श्री पञ्चमी (श्रावण वदी 5) गुरुवार के दिन पूर्वा फाल्गुनी स्थित सिंह लग्न में जब कि बुध आर्द्रा नक्षत्र का, शनि मिथुन राशि का, मंगल धनुष राशि का, राहु तुलाराशि का, सूर्य, शुक्र कर्कराशि का, और वृहस्पति वृष राशि पर था तब यह उत्तरपुराण ग्रन्थ पूर्ण हुआ था, उसी दिन भव्यजीवों ने इसकी पूजा की थी। इस प्रकार सर्व श्रेष्ठ एवं पुण्यरूप यह पुराण संसार में जयवन्त हैं।

यावद्वारा जलनिधिर्गगनं हिमांशु

स्तिग्मद्युतिः सुरगिरिः ककुभां विभागः।

तावत्सतां वचसि चेतसि पूतमेत-

च्छ्रोतस्यतिस्थितिमुपैतु महापुराणम्।। (37)

जब तक पृथिवी है, आकाश है, चन्द्रमा है, सूर्य है, सुमेरु है, और दिशाओं का विभाग है, तब तक सज्जनों के वचन में, चित्त में और कान में यह पवित्र महापुराण स्थिति को प्राप्त हो अर्थात् सज्जन पुरुष वचनों द्वारा इसकी चर्चा करें, हृदय में इसका विचार करें और कानों से इसकी कथा श्रवण करें।

धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र

तीर्थेशिनां चरितमत्र महापुराणे।

यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्द

निर्यद्वचांसि न मनांसि हरन्ति केषाम्।। (38)

इस महापुराण में धर्मशास्त्र, मोक्ष का मार्ग है, कविता है, और तीर्थंकरों का चरित्र है अथवा कविराज जिनसेन के मुखारविन्द से निकले हुए वचन किनका मन हरण नहीं करते? अर्थात् सभी का करते हैं।

महापुराणस्य पुराणपुंसः पुरा पुराणे तदकारि किञ्चित्।

कवीशिनानेन यथा न काव्यचर्चासु चेतोविकलाः कवीन्द्राः।। (39)

महाप्राचीन पुराण पुरुष भगवान् आदिनाथ के इस पुराण में कवियों के स्वामी इन जिनसेनाचार्य ने ऐसा कुछ अद्भुत कार्य किया है कि इसके रहते कविलोग काव्य की चर्चाओं में कभी भी हृदयरहित नहीं होते।

स जयति जिनसेनाचार्यवर्यः कवीड्यः

विमलमुनगणेड्यः भव्यमालासमीड्यः।

सकलगुणसमाढ्यो दुष्टवादीभसिंहो

विदितसकलशास्त्रः सर्वराजेन्द्रवन्द्यः।। (40)

वे जिनसेनाचार्य जयवन्त रहें जो कि कवियों के द्वारा स्तुत्य हैं, निर्मल मुनियों के समूह जिनकी स्तुति करते हैं, भव्य जीवों का समूह जिनका स्तवन

करता है, जो समस्त गुणों से सहित है, दुष्टवादी रूपी हाथियों को जीतने के लिए सिंह के समान हैं, समस्त शास्त्रों के जाननेवाले हैं, और सब राजाधिराज जिन्हें नमस्कार करते हैं।

यदि सकलवीन्द्रप्रोक्तसूक्तप्रचार-
श्रवणसरचेतास्तत्त्मेवं सखे स्याः।
कविवरजिनसेनाचार्यवक्त्रारिविन्द-
प्राणिगदितपुराणाकर्णनाभ्यर्णकर्णः।। (41)

हे मित्र! यदि तेरा चित्त, समस्त कवियों के द्वारा किए हुए सुभाषितों का समूह सुनने में सरस है तो तू कवि श्रेष्ठ जिनसेनाचार्य के मुखारविन्द से कहे गए इस पुराण के सुनने में अपने कर्ण निकट कर।

स जयति गुणभद्रः सर्वयोगीन्द्रवन्द्यः
सकलकविराणामग्रिमः सूरविन्द्यः।
जितमदविलासो दिक्चलत्कीर्तिकेतु-
र्दुरिततरुकुठारः सर्वभूपालवन्द्यः।। (42)

वे गुणभद्राचार्य भी जयवन्त रहें जो कि समस्त योगियों के द्वारा वन्दनीय हैं, समस्त श्रेष्ठ कवियों में अग्रगामी है, आचार्यों के द्वारा वन्दना करने के योग्य हैं, जिन्होंने कामक विलास को जीत लिया है, जिनकी कीर्ति रूपी पताका समस्त दिशाओं में फहरा रही हैं, जो पापरूपी वृक्ष के नष्ट करने में कुठार के समान है और समस्त राजाओं के द्वारा वन्दनीय हैं।

धर्मः कश्चिदिहास्ति नैतदुचितं वक्तुं पुराणं महत्।
श्रव्याः किन्तु कथास्त्रिषष्टिपुरुषाख्यानं चरित्रार्णवः।
कोऽप्यस्मिन्कवितागुणोऽस्ति कवयोऽप्येतद्वचोब्जालयः
कोऽसावत्र कविः कवीन्द्रगुणभद्राचार्यवर्यःस्वयम्।। (43)

'यह महापुराण केवल पुराण ही है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि यह अद्भुत धर्मशास्त्र है, इसकी कथाएँ श्रवणीय हैं-अत्यन्त मनोहर हैं, यह त्रेशठ शलाकापुरुषों का व्याख्यान है, चरित्र वर्णन करने का मानो समुद्र ही है, इसमें

कोई अद्भुत कविता का गुण है, और कविलोग भी इसके वचनरूपी कमलों पर भ्रमरों के समान आसक्त है, यथार्थ में इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीगुणभद्राचार्य स्वयं कोई अद्भुत कवि हैं।'

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षण

महापुराणसंग्रहे प्रशस्तिव्यावर्णनं नाम सप्तसप्ततितमं पर्व।। (77)

इस प्रकार ऋषि प्रणीत भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण के संग्रह में प्रशस्ति का वर्णन करनेवाला सत्तहत्तरवाँ पर्व पूर्ण हुआ।

हितोपदेशी-जिनवाणी-प्रश्नकर्त्ता-श्रोतादि की प्रशंसा

तमादिदेवं देवानामधिदेवं स्वयंभुवम्।

प्रणम्य तत्पुराणस्य वच्म्युपोद्धात विस्तरम्।। (1) आदिपुराण

अब मैं देवाधिदेव स्वयम्भू भगवान् वृषभदेव को नमस्कार कर उनके इस महापुराण सम्बन्धी उपोद्घात-प्रारम्भ का विस्तार के साथ कथन करता हूँ।

अथातो धर्मजिज्ञासासमाहित मतिः कृतो।

श्रेणिकः परिप्रच्छ गौतमं गणभृत्प्रभुम्।। (2)

अथानन्तर धर्म का स्वरूप जानने में जिसकी बुद्धि लग रही है, ऐसे बुद्धिमान् श्रेणिक महाराज ने गणनायक गौतम स्वामी से पूछा।

भगवन्नर्थतः कृत्स्नं श्रुतं स्वायंभुवान्मुखात्।

ग्रन्थतः श्रोतुमिच्छामि पुराणं त्वदनुग्रहात्।। (3)

हे भगवन्, श्रीवर्द्धमान स्वामी के मुख से यह सम्पूर्ण पुराण अर्थरूप से मैंने सुना है अब आप के अनुग्रह से उस ग्रन्थरूप से सुनना चाहता हूँ।

त्वमकारणबन्धुर्नस्त्वमकारणवत्सलः।

त्वमकारणवैद्योऽसि दुःखातङ्कातिंतात्मनम्।। (4)

हे स्वामिन्, आप हमारे अकारण बन्धु हैं, हम पर बिना कारण के ही प्रेम करनेवाले हैं, तथा जन्म-मरण आदि दुखदायी रोगों से पीड़ित संसारी प्राणियों के लिए अकारण-स्वार्थरहित वैद्य हैं।

पुण्याभिषेकमभितः कुर्वन्तीव शिरस्सु नः।

व्योमगङ्गाम्बुसच्छाया युष्मत्पादनखांशवः।। (5)

हे देव, आकाशगङ्गा के जल के समान स्वच्छ, आप के चरणों के नखों की किरणें जो हमारे शिरपर पड़ रही हैं वे ऐसी मालूम होती हैं मानो मेरा सब ओर से अभिषेक ही कर रही हों।

तव दीप्ततपोलब्धे रङ्गलक्ष्मीः प्रतायिनी।

अकालेऽप्यनुसंधत्ते सान्द्रबालातपश्रियम्।। (6)

हे स्वामिन्, उग्र तपस्या की लब्धि से सब ओर फैलनेवाली आप के शरीर की आभा असमय में ही प्रातःकालीन सूर्य की सान्द्र-सघन शोभा को धारण कर रही है।

त्वया जगदिदं कृत्स्नम विद्यामीलितेक्षणम्।

सद्यः प्रबोधमानीतं भास्वतेवाब्जीवनम्।। (7)

हे भगवन्, जिस प्रकार सूर्य रात में निमीलित हुए कमलों को शीघ्र ही प्रबोधित-विकसित कर देता है उसी प्रकार आपने अज्ञान रूपी निद्रा में निमीलित-सोये हुए समस्त जगत् को प्रबोधित-जागृत कर दिया है।

यन्नेन्दुकिरणैः स्पृष्टमनालीढं रवेःकरैः।

तत्त्वया हेलयोद स्तमन्तर्ध्वान्तं वर्चोऽशुभिः।। (8)

हे देव, हृदय के जिस अज्ञानरूपी अन्धकार को चन्द्रमा अपनी किरणों से छू नहीं सकता तथा सूर्य भी अपनी रश्मियों से जिसका स्पर्श नहीं कर सकता उसे आप अपने वचनरूपी किरणों से अनायास ही नष्ट कर देते हैं।

तवोच्छिखाः स्फुरन्येता योगिन् सप्त महर्द्धयः।

कर्मेन्धनदहोछीप्ता सप्तार्चिष इवार्चिषः।। (9)

हे योगिन्, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आपकी यह बुद्धि आदि सात ऋद्धियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानो कर्मरूपी ईंधन के जलाने से उद्दीप्त हुई अग्नि की सात शिखाएँ ही हों।

इदं पुण्याश्रमस्थानं पवित्रं त्वत्प्रतिश्रयात्।

रक्षाण्यमिवाभाति तपोलक्ष्म्या निराकुलम्।। (10)

हे भगवन्, आपके आश्रय से ही यह समवसरण पुण्य का आश्रमस्थान तथा

पवित्र हो रहा है अथवा ऐसा मालूम होता है मानो तपरूपी लक्ष्मी का उपद्रवरहित रक्षावन ही हो।

अत्रैते पशवो वन्या मृष्टैस्तृणाङ्कुरैः।

न क्रूरमृगसंबाधां जानन्त्यपि कदाचन।। (11)

हे नाथ, इस समवसरण में जो पशु बैठे हुए हैं वे धन्य हैं, इनका शरीर मीठी घास के खाने से अत्यन्त पुष्ट हो रहा है, ये दुष्ट पशुओं (जानवरों) द्वारा होनेवाली पीड़ा को कभी जानते ही नहीं है।

पादप्रधावनोसत्सृष्टैः कमण्डलुजलैरिमे।

अमृतैरिव वर्द्धन्ते मृगशावाः पवित्रिताः।। (12)

पादप्रक्षालन करने से इधर-उधर कण्मडलु के जल से पवित्र हुए ये हरिणों के बच्चे इस तरह बढ़ रहे हैं मानो अमृत पीकर ही बढ़ रहे हों।

सिंहस्तनन्ध्यानत्र करिण्यः पाययन्त्यमूः।

सिंहधेनुस्तनं स्वैरं स्पृशन्ति कलमा इमे।। (13)

इस ओर ये हथिनियाँ सिंह के बच्चे को अपना दूध पिला रही हैं और ये हाथी के बच्चे स्वेच्छा से सिंहिनी के स्तनों का स्पर्श कर रहे हैं-दूध पी रहे हैं।

अहो परममाश्चर्य यदवाचोऽप्यमी मृगाः।

भजन्ति भगवत्पादच्छायां मुनिगणा इव।। (14)

अहो! बड़े आश्चर्य की बात है कि जिन हरिणों को बोलना भी नहीं आता वे भी मुनियों के समान भगवान् के चरणकमलों की छाया का आश्रय ले रहे हैं।

अकृत्तवल्कलाश्चामी प्रसूनफलशालिनः।

धर्मारामतरूयन्ते परितो वनपादपाः।। (15)

जिनकी छालों को कोई छील नहीं सका है तथा जो पुष्प और फलों से शोभायमान हैं ऐसे सब ओर लगे हुए ये वन के वृक्ष ऐसे मालूम होते हैं मानो धर्मरूपी बगीचे के ही वृक्ष हैं।

इमा वनलता रभ्याः प्रफुल्ला भ्रमरैर्वृताः।

न विदुः करसंबाधां राजन्वत्य इव प्रजाः।। (16)

ये फूली हुई और भ्रमरों से घिरी हुई वनलताएँ कितनी सुन्दर हैं? ये सब न्यायवान् राजा की प्रजा की तरह कर-बाधा (हाथ से फल-फूल आदि तोड़ने का दुःख, पक्ष में टैक्स का दुःख) को तो जानती ही नहीं है।

तपोवनमिदं रम्यं परितो विपुलाचलम्।

दयावनमिवोद्भूतं प्रसादयति मे मनः।। (17)

आपका यह मनोहर तपोवन जो कि विपुलाचल पर्वत के चारों ओर विद्यमान है, प्रकट हुए दयावन के समान मेरे मन को आनन्दित कर रहा है।

इमे तपोधना दीप्ततपसो वातवल्कलाः।

भवत्पादप्रसादेन मोक्षमार्गमुपासते।। (18)

हे भगवन्, उस तपश्चरण करनेवाले ये दिगम्बर तपस्वीजन केवल आपके चरणों के प्रसाद से ही मोक्षमार्ग की उपासना कर रहे हैं।

इति प्रस्पष्टमाहात्म्यः कृती जगदनुग्रहे।

भगवन् भव्यार्थस्य सार्थवाहायते भवान्।। (19)

हे भगवन्, आपका माहात्म्य अत्यन्त प्रकट है, आप जगत् के उपकार करने में सातिशय कुशल हैं अतएव आप भव्य समुदाय के सार्थवाह-नायक गिने जाते हैं।

ततो ब्रूहि महायोगिन् न ते कश्चिदगोचरः।

तव ज्ञानांशवो दिव्याः प्रसरन्ति जगत्त्रये।। (20)

हे महायोगिन्, संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो आपके ज्ञान का विषय न हो, आपकी मनोहर ज्ञानकिरणें तीनों लोकों में फैल रही है इसलिए हे देव, आप ही यह पुराण कहिए।

विज्ञाप्यमन्यदप्यस्ति समाधाय मनः शृणु।

यतो भगवतश्चित्तं दृढं स्वान्मदनुग्रहे।। (21)

हे भगवन्, इसके सिवाय एक बात और कहनी है उसे चित्त स्थिर कर सुन लीजिए जिससे मेरा उपकार करने में आप का चित्त और भी दृढ़ हो जाये।

पुरा चरितमज्ञानन्मया दुश्चरितं महत्।

तस्यनैसः प्रशान्तत्यर्थं प्रायश्चितं चराम्यहम्।। (22)

वह बात यह है कि मैंने पहले अज्ञानवश बड़े-बड़े दुराचरण किये हैं। अब उन पापों की शान्ति के लिए ही यह प्रायश्चित्त ले रहा हूँ।

हिंसानृता न्यरैरामारत्यारम्भपरिग्रहैः।
मया संचितमज्ञेन पुरैनो निरयोचितम्।। (23)

हे नाथ, मुझ अज्ञानी ने पहले हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन और अनेक प्रकार के आरम्भ तथा परिग्रहादि के द्वारा अत्यन्त घोर पापों का संचय किया है।

कृतो मुनिवधानन्दस्तीव्रो मिथ्यादृशा मया।
येनायुष्कर्म दुर्मोचं बद्ध श्वाभ्रीं गतिं प्रति।। (24)

और तो क्या, मुझ मिथ्यादृष्टि ने मुनिराज के वध करने में भी बड़ा आनन्द माना था जिससे मुझे नरक ले जानेवाले नरकायु कर्म का ऐसा बन्ध हुआ जो कभी छूट नहीं सकता।

तत्प्रसीद विभो वक्तुमामूलात् पावनीं कथाम्।
निष्क्रयो दुष्कृतस्यास्तु मम पुण्यकथाश्रुतिः।। (25)

इसलिए हे प्रभो, उस पवित्र पुराण को प्रारम्भ से कहने के लिए मुझ पर प्रसन्न होइए क्योंकि उस पुण्यवर्धक पुराण के सुनने से मेरे पापों का अवश्य ही निराकरण हो जायेगा।

इति प्रश्रयिणीं वाचमुदीर्य मगधाधिपः।
व्यरमद्दर्शनज्योत्स्नाकृतपुष्पार्चनस्तुतिः।। (26)

इस प्रकार दाँतों की कान्तिरूपी पुष्पों के द्वारा पूजा और स्तुति करते हुए मगधसम्राट् विनय के साथ ऊपर कहे हुए वचन कहकर चुप हो गये।

ततस्तमृषयो दीप्ततपोलक्ष्मीविभूषणाः।
प्रशंससुरिति प्रीता धार्मिकं मगधेश्वरम्।। (27)

तदनन्तर श्रेणिक के प्रश्न से प्रसन्न हुए और तीव्र तपश्चरणरूपी लक्ष्मी से शोभायमान मुनिजन नीचे लिखे अनुसार उन धर्मात्मा श्रेणिक महाराज की प्रशंसा करने लगे।

साधु भो मगधधीश! साधु प्रश्नविदां वर!
पृच्छताद्य त्वया तत्त्वं साधु नः प्रीणितं मनः।। (28)

हे मगधेश्वर, तुम धन्य हो, तुम प्रश्न करनेवालों में अत्यन्त श्रेष्ठ हो, इसलिए और भी धन्य हो, आज महापुराणसम्बन्धी प्रश्न पूछते हुए तुमने हम लोगों के चित्त को बहुत ही हर्षित किया है।

पिपृच्छिषितमस्माभिर्यदेव परमार्थकम्।

तदेवाद्य त्वया पुष्टं संवादः पश्च कीदृशः।। (29)

हे श्रेणिक, श्रेष्ठ अक्षरों से सहित जिस पुराण को हम लोग पूछना चाहते थे उसे ही तुमने पूछा है। देखो, यह कैसा अच्छा सम्बन्ध मिला है।

बुभुत्सावेदनं प्रश्नः स ते धर्मो बुभित्सितः।

त्वया बुभुत्सना धर्म विश्वमेव बुभुत्सितम्।। (30)

जानने की इच्छा प्रकट करना प्रश्न कहलाता है। आपने अपने प्रश्न में धर्म का स्वरूप जानना चाहा है। सो हे श्रेणिक, धर्म का स्वरूप जानने की इच्छा करते हुए आपने सारे संसार को जानना चाहा है अर्थात् धर्म का स्वरूप जानने की इच्छा से आपने अखिल संसार के स्वरूप को जानने की इच्छा प्रकट की है।

पश्य धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्रसः।

सन्त्रिवर्गत्रयस्यास्य मूलं पुण्यकथाश्रुतिः।। (31)

हे श्रेणिक, देखो, यह धर्म एक वृक्ष है। अर्थ उसका फल है और काम उसके फलों का रस है। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को त्रिवर्ग कहते हैं, इस त्रिवर्ग की प्राप्ति का मूल कारण धर्म सुनना है।

धर्मादर्थश्च कामश्च स्वर्गश्चेत्यविगानतः।

धर्मः कामार्थयोः सूतिरित्यायुष्मन् विनिश्चनु।। (32)

हे आयुष्मन्, तुम यह निश्चय करो कि धर्म से ही अर्थ, काम, स्वर्ग की प्राप्ति होती है। सचमुच वह धर्म ही अर्थ और काम का उत्पत्ति स्थान है।

धर्मार्थीं सर्वकामार्थी धर्मार्थी धनसौख्यवान्।

धर्मो हि मूलं सर्वासां धनर्द्धिसुखसंपदाम्।। (33)

जो धर्म की इच्छा रखता है वह समस्त इष्ट पदार्थों की इच्छा रखता है। धर्म की इच्छा रखनेवाला मनुष्य ही धनी और सुखी होता है क्योंकि धन, ऋद्धि, सुख-

संपत्ति आदि सबका मूल कारण एक धर्म ही है।

धर्मः कामदुधा धेनुर्धर्मश्चिन्तामणिर्महान्।

धर्मः कल्पतरुः स्थेयान् धर्मो हि निधिरक्षयः।। (34)

मनचाही वस्तुओं को देने के लिए धर्म ही कामधेनु है, धर्म ही महान् चिन्तामणि है, धर्म ही स्थिर रहनेवाला कल्पवृक्ष है और धर्म ही अविनाशी निधि है।

पश्य धर्मस्य माहात्म्यं योऽपात्यपरिरक्षति।

यत्र स्थितं नरं दूरान्नातिक्रामन्ति देवताः।। (35)

हे श्रेणिक, देखो धर्म का कैसा माहात्म्य है, जो पुरुष धर्म में स्थिर रहता है- निर्मल भावों से धर्म का आचरण करता है वह उसे अनेक संकटो से बचाता है। तथा देवता भी उस पर आक्रमण नहीं कर सकते, दूर-दूर ही रहते हैं।

विचारनृपलोकात्मदिव्यप्रत्ययतोऽपिच।

धीमन् धर्मस्य माहात्म्यं निर्विचारमवेहि भोः।। (36)

हे बुद्धिमन्, विचार, राजनीति, लोकप्रसिद्धि, आत्मानुभव और अवधि मनःपर्यय आदि ज्ञान इन सबकी प्राप्ति धर्म से ही होती है। अतः इन सब बातों को देखकर धर्म का अलौकिक माहात्म्य जानना चाहिए।

स धर्मो विनिपातेभ्यो यस्मात् संधारयेन्नरम्।

धत्ते चाभ्ययुदयस्थाने निरपायसुखोदये।। (37)

यह धर्म नरक निगोद आदि के दुःखों से इस जीव की रक्षा करता है और अविनाशी सुख से युक्त मोक्ष स्थान में इसे पहुँचा देता है इसलिए इसे धर्म कहते हैं।

स च धर्मः पुराणार्थः पुराणं पञ्चधा विदुः।

क्षेत्रं कालश्च तीर्थं च सत्पुंसस्तद्विचेष्टितम्।। (38)

जो पुराण का अर्थ है वही धर्म है, मुनिजन पुराण को पाँच प्रकार का मानते हैं-क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और उनकी चेष्टाएँ।

क्षेत्रं त्रैलोक्यविन्यासः कालस्त्रैकाल्यविस्तरः।

मुक्त्युपायो भवेत्तीर्थं पुरुषास्तन्निषेविणः।। (39)

न्याय्यमाचरितं तेषां चरितं दुरितच्छिदाम्।

इति कृत्स्नः पुराणार्थः प्रश्ने संभावितस्त्वया।। (40)

ऊर्ध्व, मध्य और पातालरूप तीन लोकों की जो रचना है उसे क्षेत्र कहते हैं। भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप तीन कालों का जो विस्तार है उसे काल कहते हैं। मोक्षप्राप्ति के उपायभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को तीर्थ कहते हैं। इस तीर्थ को सेवन करनेवाले शलाकापुरुष सत्पुरुष कहलाते हैं और पापों को नष्ट करनेवाले उन सत्पुरुषों के न्यायोपेत आचरण को उनकी चेष्टाएँ अथवा क्रियाएँ कहते हैं। हे श्रेणिक, तुमने पुराण के इस सम्पूर्ण अर्थ को अपने प्रश्न में समाविष्ट कर दिया है।

अहो प्रसन्नगम्भीरः प्रश्नोऽयं विश्वगोचरः।

क्षेत्रक्षेत्रसन्मार्गकालचरिताश्रयः।। (41)

अहो श्रेणिक, तुम्हारा यह प्रश्न सरल होने पर भी गम्भीर है, सब तत्त्वों से भरा हुआ है तथा क्षेत्र, क्षेत्र को जाननेवाला आत्मा, सन्मार्ग, काल और सत्पुरुषों का चरित्र आदि का आधारभूत है।

इदमेव युगस्यादौ पप्रच्छ भरतः पुरुम्।

ततोऽनुयुजुजे सम्राट् सागरोऽजितमच्युतम्।। (42)

इति प्रमाणभूतेयं वक्तृश्रोतृपरम्परा।

त्वयाद्यालङ्कृता धीमान्! पृच्छतेमं महाधियम्।। (43)

हे बुद्धिमान श्रेणिक, युग के आदि में भरत चक्रवर्ती ने भगवान् आदिनाथ से यही प्रश्न पूछा था, और यही प्रश्न चक्रवर्ती सगर ने भगवान् अजितनाथ से पूछा था। आज तुमने भी अत्यन्त बुद्धिमान् गौतम गणधर से यही प्रश्न पूछा है। इस प्रकार वक्ता और श्रोताओं की जो प्रमाणभूत-सच्ची परम्परा चली आ रही थी उसे तुमने सुशोभित कर दिया है।

त्वं प्रष्टा भगवान् वक्ता सहशुश्रूषवो वयम्।

सामग्रीं नेदृशी जातु जाता नैव जनिष्यते।। (44)

हे श्रेणिक, तुम प्रश्न करने वाले भगवान् महावीर स्वामी उत्तर देनेवाले और हम सब तुम्हारे साथ सुननेवाले हैं। हे राजन्, ऐसी सामग्री पहले न तो कभी मिली है और न कभी मिलेगी।

तस्मात् पुण्यकथामेनां शृणुयाम समं वयम्।

प्रज्ञापारमितो देवो वक्तुमुत्सहताभयम्।। (45)

इसलिए पूर्ण श्रुतज्ञान को धारण करनेवाले ये गौतम स्वामी इस पुण्य कथा का कहना प्रारम्भ करें और हम सब तुम्हारे साथ सुनें।

इति प्रोत्साह्य तं धर्मे ते समाधानचक्षुपः।

ततो गणधरस्तोत्रं पेठुरित्युच्चकैस्तदा।। (46)

इस प्रकार वे सब ऋषिगण महाराज श्रेणिक को धर्म में उत्साहित कर एकाग्रचित्त हो उच्च स्वर से गणधर स्वामी का नीचे लिखा हुआ स्तोत्र पढ़ने लगे।

त्वां प्रत्यक्षविदां बोधैरप्यबुद्धमहोदयम्।

प्रत्यक्षस्तवनैः स्तोतुं वयं चाद्य किलोद्यताः।। (47)

हे स्वामिन्, यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान के धारक बड़े-बड़े मुनि भी अपने ज्ञान-द्वारा आप के अभ्युदय को नहीं जान सके हैं तथापि हम लोग प्रत्यक्ष स्तोत्रों के द्वारा आप की स्तुति करने के लिए तत्पर हुए हैं सो यह एक आश्चर्य की ही बात है।

चतुर्दशमहाविद्यास्थानाकूपारपारगम्।

त्वामृषे! स्तोतुकाभाः स्मः केवलं भक्तिचोदिताः।। (48)

हे ऋषे, आप चौदह महाविद्या (चौदह पूर्व) रूपी सागर के पारगामी है अतः हम लोग मात्र भक्ति से प्रेरित होकर ही आपकी स्तुति करना चाहते हैं।

भगवन् भव्यसार्थस्य नेनुस्तव शिवाकरम्।

पातकेवोच्छ्रिता भाति कीर्तिरेषा विधूज्ज्वला।। (49)

हे भगवन्, आप भव्य जीवों को मोक्षस्थान की प्राप्ति करानेवाले हैं, आपकी चन्द्रमा के समान उज्वल कीर्ति फहराती हुई पताका के समान शोभायमान हो रही है।

आलवालीकृताम्भोधिवलया कीर्तिवल्लरी।

जगन्नाडीतरोरग्रमाकक्रामति तवोच्छिखा।। (50)

देव, चारों ओर फैले हुए समुद्र को जिसने अपना आलवाल (क्यारी) बनाया है ऐसी बढ़ती हुई आपकी यह कीर्तिरूपी लता इस समय त्रसनाड़ीरूपी वृक्ष के अग्रभाग पर आक्रमण कर रही है-उस पर आरूढ़ हुआ चाहती है।

स्वामामनन्ति मुनयो योगिनामधियोगिनम्।

त्वां गण्यं गणनातीतगुणं गणधरं विदुः।। (51)

हे नाथ, बड़े-बड़े मुनि भी यह मानते हैं कि आप योगियों में महायोगी हैं, प्रसिद्ध है, असंख्यात गुणों के धारक हैं तथा संघ के अधिपति-गणधर हैं।

गोतमा गौ प्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञभारती।

तां वेत्सि तामधीषे च त्वमतो गौतमो मतः।। (52)

उत्कृष्ट वाणी को गौतम कहते हैं और वह उत्कृष्ट वाणी सर्वज्ञ-तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि ही हो सकती है उसे आप जानते हैं अथवा उसका अध्ययन करते हैं इसलिए आप गौतम माने गये हैं अर्थात् आपका यह नाम सार्थक है (श्रेष्ठा गौः गोतमा, तामधीते वेद वा गौतमः 'तदधीते वेद वा इत्यण्प्रत्ययः')।

गोतमादागतो देवः स्वर्गाग्राद् गौतमो मतः।

तेन प्रोक्तमधीयानस्त्वं चारौ गौतमश्रुतिः।।(53)

अथवा यों समझिए कि भगवान् वर्धमान स्वामी, गौतम अर्थात् उत्तम सोलह स्वर्ग से अवतीर्ण हुए हैं इसलिए वर्धमान स्वामी को गौतम कहते हैं इन गौतम अर्थात् वर्धमान स्वामी-द्वारा कही हुई दिव्यध्वनि को आप पढ़ते हैं, जानते हैं, इसलिए लोग आपको गौतम कहते हैं। (गौतमादागतः गौतमः 'तत आगतः' इत्यण्, गौतमेन प्रोक्तमिति गौतमम्, गौतमम् अधीते वेद वा गौतमः।)

इन्द्रेण प्राप्तपूजर्द्धिरिन्द्रभूतिस्त्वभिष्यसे।

साक्षात् सर्वज्ञपुत्रत्वमाप्तसंज्ञानकण्ठिकः।। (54)

आपने इन्द्र के द्वारा की हुई अर्चारूपी विभूति को प्राप्त किया है इसलिए आप इन्द्रभूति कहलाते हैं। तथा आप को सम्यग्ज्ञानरूपी कण्ठाभरण प्राप्त हुआ है अतः आप सर्वज्ञदेव श्री वर्धमान स्वामी के साक्षात् पुत्र के समान हैं।

चतुर्भिश्चामलैर्बोधैरबुद्धस्त्वं जगद् यतः।

प्रज्ञापारमितं बुद्धं त्वां निराहुरतो बुधाः।। (55)

हे देव, आपने अपने चार निर्मल ज्ञानों के द्वारा समस्त संसार को जान लिया है

तथा आप बुद्धि के पार को प्राप्त हुए हैं इसलिए विद्वान् लोग आप को बुद्ध कहते हैं।

पारेतमः परं ज्योतिस्वात्मदृष्ट्वा दुरासदम्।

ज्योतिर्मयः प्रदीपोऽसि त्वं तस्याभिप्रकाशनात्।। (56)

हे देव, आपको बिना देखे अज्ञानान्धकार से परे रहनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, आप उस ज्योति के प्रकाश होने से ज्योतिस्वरूप अनोखे दीपक हैं।

श्रुतदेव्याहितस्त्रैणप्रयत्ना बोधदीपिका।

तवैषा प्रज्वलत्युच्चैर्द्योतयन्ती जगद्गृहम्।। (57)

हे स्वामिन्, श्रुतदेवता के द्वारा स्त्रीरूप को धारण करनेवाली आपकी सम्यग्ज्ञानरूपी दीपिका जगत्रूपी घर को प्रकाशित करती हुई अत्यन्त शोभायमान हो रही है।

तव वाक्प्रकरो दिव्यो विद्युध्वन् जगतां तमः।

प्रकाशयति सन्मार्ग रवेरिव करोत्करः।। (58)

आप के दिव्य वचनों का समूह लोगों के मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को नष्ट करता हुआ सूर्य की किरणों के समूह के समान समीचीन मार्ग का प्रकाश करता है।

तव लोकातिगा प्रज्ञा विधानां पारदृश्वरी।

श्रुतस्कन्धमहासिन्धोरभजद् यानपात्रताम्।। (59)

हे देव, आपकी यह प्रज्ञा लोक में सबसे चढ़ी-चढ़ी है, समस्त विद्याओं में पारंगत है और द्वादशांगरूपी समुद्र में जहाजपने को प्राप्त है-अर्थात् जहाज का काम देती है।

त्वयावतारिता तुङ्गान्महावीरहिमाचलात्।

श्रुतामरसरित्पुण्या निर्धुनानाखिलं रजः।। (60)

हे देव, आपने अत्यन्त ऊँचे वर्धमान स्वामीरूपी हिमालय से उस श्रुतज्ञानरूपी गङ्गा नदी का अवतरण कराया है जो कि स्वयं पवित्र है और समस्त पापरूपी रज को धोनेवाली है।

प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च द्विधा ते ज्ञानपर्ययः।

केवलं केवलिन्येकस्ततस्त्वं श्रुतकेवली।। (61)

हे देव, केवलीभगवान् में मात्र एक केवलज्ञान ही होता है और आप में प्रत्यक्ष परोक्ष के भेद से दो प्रकार का ज्ञान विद्यमान है इसलिए आप श्रुतकेवली कहलाते हैं।

पारेतमः परंधाम प्रवेष्टुमनसो वयम्।

तद्द्वारोद्घाटनं बीजं त्वामुपास्य लभेमहि।। (62)

हे देव, हम लोग मोह अथवा अज्ञानान्धकार से रहित मोक्षरूपी परम धाम में प्रवेश करना चाहते हैं अतः आप की उपासना कर आप से उस का द्वार उघाड़ने का कारण प्राप्त करना चाहते हैं।

ब्रह्मोद्या निखिला विद्यास्त्वं हि ब्रह्मसुतो मुनिः।

परं ब्रह्म त्वदायत्तमतो ब्रह्मविदो विदुः।। (63)

हे देव, आप सर्वज्ञ देव के द्वारा कही हुई समस्त विद्याओं को जानते हैं इसलिए आप ब्रह्मसुत कहलाते हैं तथा परंब्रह्मरूप सिद्ध पद की प्राप्ति होना आप के अधीन है, ऐसा ब्रह्म का स्वरूप जाननेवाले योगीश्वर भी कहते हैं।

मुनयो वातरशनाः पदमूर्ध्व विधित्सवः।

त्वां मूर्द्धवन्दिनो भूत्वा तदुपायमुपासते।। (64)

हे देव, जो दिगम्बर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी हैं वे आप को मस्तक झुकाकार नमस्कार करते हुए उसके उपायभूत-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की उपासना करते हैं।

महायोगिन् नमस्तुभ्यं महाप्रज्ञ नमोऽस्तु ते।

नमो महात्मने तुभ्यं नमः स्तात्ते महर्द्धये।। (65)

हे देव, आप महायोगी हैं-ध्यानी हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप महाबुद्धिमान् हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप महात्मा हैं अतः आप को नमस्कार हो, आप जगत्त्रय के रक्षक और बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक हैं अतः आप को नमस्कार हो।

नमोऽवधिजुषे तुभ्यं नमो देशावधित्विषे।

परमावधये तुभ्यं नमः सर्वावधिस्पृशे।। (66)

हे देव, आप देशावधि, परमावधि और सर्वावधिरूप अवधिज्ञान को धारण करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो।

कोष्ठबुद्धे नमस्तुभ्यं नमस्ते बीजबुद्धये।
पदानुसारिन् संभिन्नश्रोतस्तुभ्यं नमो नमः।। (67)

दे देव, आप कोष्ठबुद्धि नामक ऋद्धि को धारण करनेवाले हैं अर्थात् जिस प्रकार कोठे में अनेक प्रकार के धान्य भरे रहते हैं उसी प्रकार आप के हृदय में भी अनेक पदार्थों का ज्ञान भरा हुआ है, अतः आप को नमस्कार हो। आप पदानुसारी ऋद्धि को धारण करनेवाले हैं अर्थात् आगम के आदि, मध्य, अन्त को अथवा जहाँ-कहीं से भी एक पद को सुनकर भी समस्त आगम को जान लेते हैं अतः आप को नमस्कार हो। आप संभिन्नश्रोतृ ऋद्धि को धारण करनेवाले हैं अर्थात् आप नौ योजन चौड़े और बारह योजन लम्बे क्षेत्र में फैले हुए चक्रवर्ती के कटकसम्बन्धी समस्त मनुष्य और तिर्यञ्चों के अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक मिले हुए शब्दों को एक साथ ग्रहण कर सकते हैं अतः आप को बार-बार नमस्कार हो।

नमोऽस्वृजुभते तुभ्यं नमस्ते विपुलात्मने।
नमः प्रत्येकबुद्धाय स्वयंबुद्धाय वै नमः।। (68)

आप ऋजुमति और विपुलमति नामक दोनों प्रकार के मनःपर्ययज्ञान से सहित हैं अतः आप को नमस्कार हो। आप प्रत्येकबुद्ध हैं इसलिए आप को नमस्कार हो तथा आप स्वयंबुद्ध हैं इसलिए आप को नमस्कार हो।

अभिन्नदशपूर्वित्वात् प्राप्तपूजाय ते नमः।
नमस्ते पूर्वविधानां विश्वासां पारदृश्वने।। (69)

हे स्वामिन्, दशपूर्वों का पूर्ण ज्ञान होने से आप जगत् में पूज्यता को प्राप्त हुए हैं अतः आप को नमस्कार हो। इसके सिवाय आप समस्त पूर्व विद्याओं के पारगामी हैं अतः आप को नमस्कार हो।

दीप्तोग्रतसे तुभ्यं नमस्तप्तमहातपः।
नमो घोरगुणब्रह्मचारिणे घोरतेजसे।। (70)

हे नाथ, आप पक्षोपवास, मासोपवास आदि कठिन तपस्याएँ करते हैं आतापनादि योग लगाकर दीर्घकाल तक कठिन-कठिन तप तपते हैं। अनेक गुणों से सहित अखण्ड

ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और अत्यन्त तेजस्वी हैं अतः आप को नमस्कार हो।

नमस्ते विक्रियर्द्धीनामष्टधा सिद्धिमीयुषे।
आमर्ष क्ष्वेलवाग्विप्रुड्जल्लसर्वौषधे नमः।। (71)

हे देव, आप अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व इन आठ विक्रिया ऋद्धियों की सिद्धि को प्राप्त हुए हैं अर्थात् (1) आप अपने शरीर को परमाणु के समान सूक्ष्म कर सकते हैं, (2) मेरु से भी स्थूल बना सकते हैं, (3) अत्यन्त भारी (वजनदार) कर सकते हैं, (4) हलका (कम वजनदार) बना सकते हैं, (4) आप जमीनपर बैठे-बैठे ही मेरु पर्वत की चोटी छू सकते हैं अथवा देवों के आसन कम्पायमान कर सकते हैं (6) आप अढ़ाई द्वीप में चाहे जहाँ जा सकते हैं अथवा जल में स्थल की तरह स्थल में जल की तरह चल सकते है, (7) आप चक्रवर्ती के समान विभूति को प्राप्त कर सकते हैं और (8) विरोधी जीवों को भी वश में कर सकते हैं अतः आप को नमस्कार हो। इनके सिवाय हे देव, आप आमर्ष, क्ष्वेल, वाग्विप्रुट, जल्ल और सर्वोषधि आदि ऋद्धियों से सुशोभित हैं अर्थात् (1) आप के वमन की वायु समस्त रोगों को नष्ट कर सकती है, (2) आप के मुख से निकले कफ को स्पर्शकर बहनेवाली वायु सब रोगों को हर सकती है, (3) आप के मुख से निकली हुई वायु सब रोगों को नष्ट कर सकती हैं, (4) आप के मल को स्पर्श कर बहती हुई वायु सब रोगों को हर सकती है और (5) आपके शरीर को स्पर्श कर बहती हुई वायु सब रोगों को दूर कर सकती है। इसलिए आप को नमस्कार हो।

नमोऽमृतमधुक्षीरसपिंरास्त्रविणेऽस्तु ते।
नभो मनोवचःकायबलिनां ते बलीयसे।। (72)

हे देव, आप अमृतस्रावणी, मधुस्रावणी, क्षीरस्रावणी और घृतस्रावणी आदि रस ऋद्धियों को धारण करनेवाले हैं अर्थात् (1) भोजन में मिला हुआ विष भी आप के प्रभाव से अमृतरूप हो सकता है, (2) भोजन मीठा न होने पर भी आप के प्रभाव से मीठा हो सकता है, (3) आप के निमित्त से भोजनगृह अथवा भोजन में दूध झरने लग सकता है और (4) आप के प्रभाव से भोजनगृह से घी की कमी दूर हो सकती है। अतः आप को नमस्कार हो। इनके सिवाय आप मनोबल, वचनबल और कायबल

ऋद्धि से सम्पन्न है अर्थात् आप समस्त द्वादशाङ्गका अन्तर्मुहूर्त में अर्थरूप से चिन्तवन कर सकते हैं, समस्त द्वादशाङ्गका अन्तर्मुहूर्त में शब्दों-द्वारा उच्चारण कर सकते हैं और शरीरसम्बन्धी अतुल्य बल से सहित हैं अतः आप को नमस्कार हो।

जलजङ्घाफलश्रेणीतन्तुपुष्पाम्बरश्रयात्।
चारणर्द्धिजुषे तुभ्यं नमोऽक्षीणमहर्द्धये।। (73)

हे देव, आप जलचारण, जंघाचारण, श्रेणीचारण, तन्तुचारण, पुष्पचारण और अम्बाचारण आदि चारण ऋद्धियों से युक्त हैं अर्थात् (1) आप जल में भी स्थल के समान चल सकते हैं तथा ऐसा करने पर जलकायिक और जलचर जीवों को आप के द्वारा किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी। (2) आप बिना कदम उठाये ही आकाश में चल सकते हैं। (3) आप वृक्षों में लगे फलों पर से गमन कर सकते हैं और ऐसा करने पर भी वे फल वृक्ष से टूटकर नीचे नहीं गिरेंगे। (4) आप आकाश में श्रेणीबद्ध गमन कर सकते हैं, बीच में आये हुए पर्वत आदि भी आप को नहीं रोक सकते। (5) आप सूत अथवा मकड़ी के जाल के तन्तुओं पर गमन कर सकते हैं पर वे आप के भार से टूटेंगे नहीं। (6) आप पुष्पों पर भी गमन कर सकते हैं परन्तु वे आपके भार से नहीं टूटेंगे और न उसमें रहनेवाले जीवों को किसी प्रकार का कष्ट होगा। और (7) इनके सिवाय आप आकाश में भी सर्वत्र गमनागमन कर सकते हैं। इसलिए आप को नमस्कार हो। हे स्वामिन्, आप अक्षीण ऋद्धि के धारक हैं अर्थात् आप जिस भोजनशाला में भोजन कर आवें उसका भोजन चक्रवर्ती के कटक को खिलानेपर भी क्षीण नहीं होगा और आप यदि छोटे से स्थान में भी बैठकर धर्मोपदेश आदि देंगे तो उस स्थान पर समस्त मनुष्य और देव आदि के बैठने पर भी संकीर्णता नहीं होगी। इसलिए आप को नमस्कार हो।

त्वमेव परमो बन्धुस्त्वमेव परमो गुरुः।
त्वामेव सेवमानानां भवन्ति ज्ञानसंपदः।। (74)

हे नाथ, संसार में आप ही परम हितकारी बन्धु हैं, आप ही परमगुरु हैं और आप की सेवा करनेवाले पुरुषों को ज्ञानरूपी सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

त्वयैय भगवन् विश्वा विहिता धर्मसंहिता।
अत एव नमस्तुभ्यममी कुर्वन्ति योगिनः।। (75)

हे भगवन्, इस संसार में आपने ही समस्त धर्मशास्त्रों का वर्णन किया है अतः ये बड़े-बड़े योगी आपको ही नमस्कार करते हैं।

त्वत्त एव परं श्रेयो मन्यमानास्ततो वयम्।

तव पादाङ्घ्रिच्छायां त्वय्यास्तिक्योदुपास्महे।। (76)

हे देव, मोक्षरूपी परम कल्याण की प्राप्ति आप से ही होती है ऐसा मानकर हम लोग आप में श्रद्धा रखते हुए आप के चरणरूप वृक्षों की छाया का आश्रय लेते हैं।

वाग्गुप्तेस्त्वत्स्तुतौ हानिर्मनोगुप्तेस्तव स्मृतौ।

कायगुप्तेः प्रणामे ते काममस्तु सदापि नः।। (77)

हे देव, आप की स्तुति करने से हमारी वचनगुप्ति की हानि होती है, आपका स्मरण करने से मनोगुप्ति में बाधा पहुँचती है तथा आपको नमस्कार करने में कायगुप्ति की हानि होती है सो भले ही हो हमें इसकी चिन्ता नहीं, हम सदा ही आपकी स्तुति करेंगे, आप का स्मरण करेंगे और आपको नमस्कार करेंगे।

स्तुत्वेति स्तुतिभिः स्तुत्यं भवन्तं भुवनाधिकम्।

पुराणश्रुतिमेबैनां तत्फलं प्रार्थयामहे।। (78)

हे स्वामिन्, जगत् में श्रेष्ठ और स्तुति करने के योग्य आप की हम लोगों ने जो ऊपर लिखे अनुसार स्तुति की है उसके फलस्वरूप हमें तिरसठ शलाकापुरुषों का पुराण सुनाइए, यही हम सब प्रार्थना करते हैं।

पुराणश्रुतितो धर्मो योऽस्माकमभिसंस्कृतः।

पुराणकवितामेव तस्मादाशास्महं वयम्।। (79)

हे देव, पुराण के सुनने से हमें जो सुयोग्य धर्म की प्राप्ति होगी उससे हम कवितारूप पुराण की ही आशा करते हैं।

त्वत्पदाराधनात् यदस्माभिरूपार्जितम्।

तवैव तेन भूयान्नः परार्था संपदूर्जिता।। (80)

हे नाथ, आप के चरणों की आराधना करने से हमारे जो कुछ पुण्य का संचय हुआ है उससे हमें भी आप की इस उत्कृष्ट महासम्पत्ति की प्राप्ति हो।

त्वत्प्रसादादियं देव सफला प्रार्थनाऽस्तु नः।

सार्धं राजर्षिणानेन श्रोतृननुगृहाण नः।। (81)

हे देव, आप के प्रसाद से हमारी यह प्रार्थना सफल हो। आज राजर्षि श्रेणिक के साथ-साथ हम सब श्रोताओं पर कृपा कीजिए।

इत्युचैः स्तोत्रसंपाठस्तत्क्षणं प्रविजृम्भितः।

पुण्यो मुनिसमाजेऽस्मिन् महान् कलकलोऽभवत्।। (82)

इस प्रकार मुनियों ने जब उच्च स्वर से स्तोत्रों से जो गणधर गौतम स्वामी की स्तुति की थी उससे एक समय मुनिसमाज में पुण्यवर्द्धक बड़ा भारी कोलाहल होने लगा था।

इत्थं स्तुवद्भिरोधेन मुनि वृन्दारकैस्तदा।

प्रसादितो गणेन्द्रोऽभूद् भक्तिग्राह्या हि योगिनः।। (83)

इस प्रकार समुदाय रूप से बड़े-बड़े मुनियों ने जब गणधर देव की स्तुति की तब वे प्रसन्न हुए सो ठीक ही है क्योंकि योगीजन भक्ति के द्वारा वशीभूत होते ही हैं।

तदा प्रशान्तगम्भीरं स्तुत्वा मुनिभिरर्थितः।

मनो व्यापारयामास गौतमस्तदनुग्रहे।। (84)

इस प्रकार मुनियों ने जब बड़ी शान्ति और गम्भीरता के साथ स्तुति कर गणधर महाराज से प्रार्थना की जब उन्होंने उनके अनुग्रह में अपना चित्त लगाया-उस और ध्यान दिया।

ततः प्रशास्तसंजल्पे प्रव्यक्तकरकुड्मले।

शुश्रूषावहिते साधुसमाजे निभृतं स्थिते।। (85)

वाङ्मलानमशेषाणामपायादतिनिर्मलाम्।

वाग्देवीं दशनज्योत्स्नाव्याजेन स्फुटयन्निव।। (86)

सुभाषितमहारत्नप्रसारमिव दर्शयन्।

यथाकामं जिघृक्षूणां भक्तिमूल्येन योगिनाम्।। (87)

लसदशनदीप्तांशुप्रसूनैराकिरन् सदः।

सरस्वतीप्रवेशाय पूर्वरङ्गमिवाचरन्।। (88)

मनः प्रसादमभितो विभजद्भिरिवायतैः।
प्रसन्नैर्वीक्षितैः कृत्स्नां सभां प्रक्षालयन्निव।। (89)
तपोऽनुभावसंजातमध्यासीनोऽपि विष्टरम्।
जगतामुपरीवोच्चैर्महिम्ना घटितस्थित।। (90)
सरस्वतीपरिक्लेशमनिच्छन्निव नाधिकम्।
तीव्रयन् करणस्पन्दमभिन्नमुखसौष्ठवः।। (91)
न स्विद्यन्न परिश्राम्यन्नो त्रस्यन्न परिस्लखन्।
सरस्वतीमतिप्रौढामनायासेन योजयन्।। (92)
सममृज्वायतस्थानमास्थाय रचितासनः।
पल्यङ्केन परां कोटीं वैराग्यस्येव रूपयन्।। (93)
करं वामं स्वपर्यङ्के निधायोत्तानितं शनैः।
देशनाहस्तमुत्क्षिप्य मार्दवं नाटयन्निव।। (94)
व्याजहारातिगम्भीरमधुरोदारया गिरा।
भगवान् गौतमस्वामी श्रोतॄन् संबोधयन्निति।। (95)

इसके अनन्तर जब स्तुति से उत्पन्न होनेवाला कोलाहल शान्त हो गया और सब लोग हाथ जोड़कर पुराण सुनने की इच्छा से सावधान हो चुपचाप बैठ गये तब वे भगवान् गौतम स्वामी श्रोताओं को संबोधते हुए गम्भीर मनोहर और उत्कृष्ट अर्थ से भरी हुई वाणी द्वारा कहने लगे। उस समय जो दाँतों की उज्वल किरणें निकल रही थीं उनसे ऐसा मालूम होता था मानो वे शब्दसम्बन्धी समस्त दोषों के अभाव से अत्यन्त निर्मल हुई सरस्वती देवी को ही साक्षात् प्रकट कर रहे हों। उस समय गणधर स्वामी ऐसे शोभायमान हो रहे थे जैसे भक्तिरूपी मूल्य के द्वारा अपनी इच्छानुसार खरीदने ने अभिलाषी मुनिजनों को सुभाषित रूपी महारत्नों का समूह ही दिखला रहे हों। उस समय वे अपने दाँतों के किरणरूपी फूलों को सारी सभा में बिखेर रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सरस्वती देवी के प्रवेश के लिए रङ्गभूमि को ही सजा रहे हों।

मन की प्रसन्नता को विभक्त करने के लिए ही मानो सब ओर फैली हुई अपनी स्वच्छ और प्रसन्न दृष्टि के द्वारा वे गौतम स्वामी समस्त सभा का प्रक्षालन करते हुए-से मालूम होते थे। यद्यपि वे ऋषिराज तपश्चरण के माहात्म्य से प्राप्त हुए आसनपर बैठे हुए थे तथापि अपने उत्कृष्ट माहात्म्य से ऐसे मालूम होते थे मानो समस्त लोक के ऊपर ही बैठे हो।

उस समय वे न तो सरस्वती को ही अधिक कष्ट देना चाहते थे और न इन्द्रियों को ही अधिक चलायमान करना चाहते थे। बोलते समय उनके मुख का सौन्दर्य भी नष्ट नहीं हुआ था। उस समय उन्हें न तो पसीना आता था, न परिश्रम ही होता था, न किसी बात का भय ही लगता था और न वे बोलते-बोलते स्खलित ही होते थे-चूकते थे। वे बिना किसी परिश्रम के ही अतिशय प्रौढ़-गम्भीर सरस्वती को प्रकट कर रहे थे। वे उस समय सम, सीधे और विस्तृत स्थान पर पर्यङ्कासन से बैठे हुए थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो शरीर-द्वारा वैराग्य की अन्तिम सीमा को ही प्रकट कर रहे हों।

उस समय उनका बायाँ हाथ पर्यङ्कपर था और दाहिना हाथ उपदेश देने के लिए कुछ ऊपर को उठा हुआ था जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो वे मार्दव (विनय) धर्म को नृत्य ही करा रहें हो अर्थात् उच्चतम विनय गुण प्रकट कर रहे हो।

श्रुतं मया श्रुतस्कन्धादायुष्मन्तो महाधियः।
निबोधत पुराणं मे यथावत् कथयामि वः।। (96)

वे कहने लगे-हे आयुष्मान् बुद्धिमान् भव्यजनों, मैंने श्रुतस्कन्ध से जैसा कुछ इस पुराण को सुना है सो ज्यों का-त्यों आप लोगों के लिए कहता हूँ, आप लोग ध्यान से सुनें।

यत् प्रजापतये ब्रह्मा भरतायादितीर्थकृत।
प्रोवाच तदहं तेऽद्य वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु।। (97)

हे श्रेणिक, आदि ब्रह्मा प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव ने भरत चक्रवर्ती के लिए जो पुराण कहा था उसे ही मैं आज तुम्हारे लिए कहता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो।

महाधिकारश्चत्वारः श्रुतस्कन्धस्य वर्णिताः।
तेषामाद्योऽनुयोगोऽयं सतां सच्चरिताश्रय।। (98)

श्रुतस्कन्ध के चार महा अधिकार वर्णित किये गये हैं उनमें पहले अनुयोग का

नाम प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोग में तीर्थंकर आदि सत्पुरुषों के चरित्र का वर्णन होता है।

द्वितीयः करणादिः स्यादनुयोगो जिनोदितः।

त्रैलोक्यक्षेत्रसंख्यानं कुलपत्रेऽधिरोपितम्।। (99)

दूसरे महाधिकार का नाम करणानुयोग है। इसमें तीनों लोकों का वर्णन उस प्रकार लिखा होता है जिस प्रकार किसी ताम्रपत्रपर किसी की वंशावली लिखी होती है।

चरणादिस्तृतीयः स्यादनुयोगे जिनोदितः।

यत्र चर्याविधानस्य परा शुद्धिरुदाहृता।। (100)

जिनेन्द्रदेव ने तीसरे महाधिकार को चरणानुयोग बतलाया है। इसमें मुनि और श्रावकों के चारित्र की शुद्धि का निरूपण होता है।

तुर्यो द्रव्यानुयोगस्तु द्रव्याणां यत्र निर्णयः।

प्रमाणनयनिक्षेपैः सदाद्यैश्च किमादिभिः।। (101)

चौथा महाधिकार द्रव्यानुयोग है इसमें प्रमाण नय निक्षेप तथा सत्संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदि के द्वारा द्रव्यों का निर्णय किया जाता है।

चिन्मय स्वरूप हे! गुरुदेवा!

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः ॐकार स्वरूपा....(मराठी))

चिन्मय स्वरूप हे! गुरुदेवा! सत्य शिवं सुन्दर तव काया ऽऽऽ
देह स्थितोऽपि लक्ष्य विदेही, द्रव्य भाव नो कर्म मुक्ति।। (1)
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र, समता सहित भाव समस्त।
निस्पृह निराड़म्बर शान्त स्वरूप, संसार शरीर भोग विमुख।। (2)
स्व वैभव हेतु परविभाव/(पर वैभव) त्यागा, रागद्वेष मोह काम को त्यागा।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि त्यागा, धन जन मान सम्मान त्यागा।। (3)
सत्य स्वरूप स्वयं को माना, स्वयंभू सनातन सम्पूर्ण माना।
स्वतंत्र स्वावलम्बी स्वभाव माना, विभाव परभाव से पृथक् जाना।। (4)

निर्मल निर्द्वन्द्व निर्भय निश्चल, शुद्ध बुद्ध आनन्द अचल।
इस हेतु ही साधना सर्व, तव सम बनना 'कनक' लक्ष्य।। (5)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-18/10/2020 प्रातः 8.33 (केशलोंच)

जिनकल्पी सम परभव मम में साधना की भावना

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : 1. झिलमिल सितारों का... 2.देहाची तिजोरी...)

मेरी साधना तब ही बनेगी श्रेष्ठ, जिनकल्पी सम जब बनूँगा ज्येष्ठ।
उत्तम संहनन मम होगा वज्र सम, द्रव्यक्षेत्र काल भाव भव (होंगे) उत्तम।
जिससे करूँगा मैं उत्तम ध्यान, आत्मा के द्वारा मम आत्म ध्यान।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश शून्य, आहार निहार-निद्रा से शून्य।। (1)
उपसर्ग परीषह जय में बनूँ दक्ष, अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा से मुक्त।
ख्यातिपूजा लाभ प्रसिद्धि से मुक्त, भोगोपभोग निदान मुक्त।।
ध्यान अध्ययन मनन चिन्तन, समता शान्ति निस्पृहता सहित।
रागद्वेषमोह क्षय करने में दक्ष, ईर्ष्या तृष्णा घृणा से होऊँ विमुक्त।। (2)
अपना पराया भेदभाव से मुक्त, परनिन्दा अपमान वैरत्व मुक्त।
''उत्तम स्वात्म ध्यान'' करूँ अशेष, शुद्धबुद्ध आनन्द आत्म स्वरूप।।
स्व का कर्त्ता-भोक्ता-विधाता बनूँ, अभिन्न षट् कारक स्वयं बनूँ।
आत्मविशुद्धि से आत्मशक्ति बढ़ाऊँ, जिससे कर्मशक्ति पर विजय पाऊँ।। (3)
जिस से क्षपक श्रेणी आरोहण करूँ, घाती नाश से सर्वज्ञ बनूँ।
अनन्त चतुष्टय प्राप्त करूँ, सदेही होने पर भी विदेही बनूँ।।
अठारह दोष रहित जीवन मुक्त, प्रवचन विहार में भी अनासक्त।
विश्वहित हेतु दिव्यध्वनि खीरेगी, अनेकान्तमयी सर्वभाषा मयी।। (4)
अन्त में सर्वकर्म होंगे क्षय, बनूँगा सच्चिदानन्द अमूर्तिक।
यह मेरा लक्ष्य तथाहि प्राप्य, यह ही मम स्वरूप मैं न हूँ 'कनक'।।

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-29-10-2020, रात्रि 11.30

धर्मतीर्थ प्रवर्तक को दानतीर्थ प्रवर्तक का आहार दान

(दान देना-अनुमोदना/प्रशंसा करना आदि पुण्यकार्य से स्वर्गन्मोक्ष प्राप्ति)

(चाल : 1.क्या मिलिए... 2.भातुकली...)

सुनो! हे! बच्चों तुम्हें सुनाऊँ, आहारदान की प्राचीन कथा।
जिसे सुनकर तुम्हें ज्ञात होगा, आहारदान की महिमा गाथा।
ऋषभदेव जब ध्यान अनन्तर, आहार हेतु गमन किया।
अज्ञप्रजा न जानपायी आहार दान की यथार्थ किया।। (1)
जिससे आहार न हो पाया, छः मास योग के अनन्तर भी।
जिस से ऋषभदेव विहार करते हुए पहुँचे हस्तिनापुर।।
स्वप्न दर्शन पूर्वक श्रेयांसराजा को जब हुआ जाति स्मरण ज्ञान।
ऋषभदेव मुनि के दर्शन अनन्तर जिस से हुआ उन्हें आहारदान का ज्ञान।। (2)
जिससे वे नवधाभक्ति व सप्तगुण सहित आदिनाथ को दिया आहार।
जिससे पंचाश्चर्य हुए रत्नवर्षा ने पुष्पवर्षा व देवदुन्दुभि नाद उच्च।
शीतल वायु बहने लगा देवों ने कहा ''धन्यदाता दान पात्रा''।
आहार देकर दोनों भ्राताओं ने अपने आपको बहुत ही कृत्यकृत्यमाना।। (3)
बहुत ही लोकों ने दानानुमोदना करके भावानुसार पुण्य बन्ध किया।
अहो कल्याण! ऐसा कल्याण! उस प्रकार कल्याण! शब्द से प्रशंसा हुई।
श्रेयांस कुमार की ऐसी प्रशंसा द्वारा समस्त संसार में जय जयकार हुई।
देव आकार भी श्रेयांस की पूजा की, भरत चक्री ने किया सम्मान।। (4)
श्रेयांस ने आहारदान की महिमा गाई, जो स्वर्ग-मोक्ष के कारण।
आहार देना अनुमोदना करना, तथाहि नवकोटि से यथायोग्य।
ये सभी ही पुण्य बन्ध के कारण, जो है स्वर्ग-मोक्ष के योग्य।
ऐसा ही बच्चो! औषधि ज्ञान, उपकरण, अभयदानादि सभी धर्मकर्म में।। (5)
मन वचन काय कृत कारित अनुमत से करणीय है स्व परहित में।
इससे विपरीत जो नवकोटि से धर्मकर्म में करते निन्दा-विरोध।
वे घोरातिघोर पापाबन्धकर संसार मध्य में पाते अनन्त दुःख।।

श्रेयांस सम बनो दानतीर्थ प्रवर्तक, जिससे बनोगे धर्मतीर्थ प्रवर्तक।
इस हेतु ही यह आहारदान की कथा संक्षेप में कहा ''सूरी कनक''।। (6)

ग.पु.कॉ. दि-28/10/2020 रात्रि 8:17

मुझे सद्बुद्धि हो कनकनन्दी जी गुरुदेव

क्षु. सुवीक्षमती

(चालः चाँद-सी महबुबा...)

दुर्बुद्धि मेरी नाश हो गुरुवर, सद्बुद्धि का विकास हो।
वर मोहे ऐसा दे दो गुरुवर, जीवन में शान्त का वास हो।। (ध्रुव)
मिथ्यात्व भव-भव भ्रमाता है, कुयोनियों में ले जाता है।
नरक निगोद के दुःख देता है, पंच परावर्तन कराता है-2
मिथ्यात्व मेरा दूर करो गुरु, सम्यक्त्व का प्रकाश करो...वर मोहे...(1)
कुज्ञान-अज्ञान-अधर्म हरो, ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा-कुभाव हरो।
समता-शान्ति-निस्पृहता दो, क्षमा-मृदुता-सरलता दो-2
विभाव मेरे दूर करो गुरु, स्वभाव में स्थिर करो...वर मोहे...(2)
तन-मन-इन्द्रियाँ स्ववश करूँ, सहजानन्द में वास करूँ।
संसार-शरीर-भोगविरत रहूँ, स्वआत्मानन्द में रत रहूँ-2
हित-अहित का बोध कराकर, हित में सदा प्रवृत्त करो...वर मोहे...(3)
छह द्रव्यों को सम्यक् जानूँ, स्वआत्म द्रव्य को पहचानूँ।
स्वपरभेदविज्ञान धरूँ, सच्चिदानन्द रूप धँरू-2
अशुभ त्यागकर शुभ को पाऊँ, विशुद्ध ''सुवीक्षमती'' करो...वर मोहे...(4)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-15/10/2020

कोई भी विषय अनेकांत के बिना सत्य नहीं हो सकता, यह परम सत्य, न्याय, राजनीति है

वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनंदीजी ने वेबिनार में पुद्गल के स्वरूप की व्याख्या की

(साभार-दैनिक भास्कर) **-विजय लक्ष्मी**

पुनर्वास कॉलोनी के विमलनाथ दिंगबर जैन मंदिर में चातुर्मास के लिए

विराजित वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनंदी गुरुदेव ने रविवार को वैज्ञानिक शिष्यों व आचार्य शिष्यों के वेबिनार में पुद्गल के स्वरूप की व्याख्या समझाई।

आचार्य ने कहा कि तुम्हारा शरीर हड्डी, मांस, रुधिर सब पुद्गल का उपकार है। वचन, मन तथा मन में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष, संकल्प विकल्प भी पुद्गल है। श्वसोश्वास भी पुद्गल है। पुद्गल को मैं व मेरा मान कर जीव समस्त पाप करता है। मरने से डरना यह भी पुद्गल का स्वभाव है। आचार्य ने बताया कि जीव मोह के कुज्ञान के कारण सभी पुद्गलों को अपना मान लेता है। पुद्गल को जानना जरूरी है जीवन मरण पुद्गल का है। पहला गुणस्थान से छटा गुणस्थान तक जीव भोजन करते हैं क्योंकि इस की अनिवार्यता है। जीव परस्पर में उपकार करते हैं। तीन लोक के गुरु अनेकांत है।

अनेकांत के बिना व्यवहार भी सही नहीं चल सकता। अनेकांत के बिना सत्य भी असत्य हो जाएगा। परम निश्चय नय भी यदि एकांत है तो वह भी मिथ्या है। कोई भी विषय अनेकांत के बिना सत्य नहीं हो सकता, अनेकांत ही परम सत्य, न्याय, राजनीति है। सत्य ही मेरा है वही अनेकांत है। अतः अनेकांत दृष्टिकोण और भावात्मक दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक है। अनेकांतवादी को केवल वाचनिक नहीं भावात्मक होना चाहिए। एक दूसरे को दुष्ट-दुर्जन सिद्ध करने में यह जीव आदिकाल से लगा हुआ है। लेकिन महापुरुषों का दृष्टिकोण उदार अनेकांत होता है। उसको सामान्य संसारी समझ नहीं सकते हैं। मोही, रागी, दुष्ट जीव संकीर्ण दृष्टिकोण रखते हैं।

अनेकांत बिना धर्म-अधर्म, विद्या-अविद्या नहीं जाना जा सकता। अनेकांत को अनंत दृष्टिकोण से जानना चाहिए। यह हमें वैश्विक दृष्टि देता है और भावात्मक उदार बनाना सिखाता है।

वेबिनार में सार्वभौम परम सत्य के लक्षण और स्वरूप का विवेचन किया

सत्य से पर कुछ नहीं हो सकता, समस्त धर्म सत्य को जानने के लिए है, कनकनंदीजी

पुनर्वास कॉलोनी के विमलनाथ दिंगबर जैन मंदिर में चातुर्मास के लिए

विराजित वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनंदी महाराज ने वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के वेबिनार में वैश्विक सार्वभौम परम सत्य के लक्षण और स्वरूप का विवेचन किया।

आचार्य ने बताया कि वैश्विक का अर्थ ब्रह्मांड, लोक अलोक व समग्र होता है। सत्य के कई प्रकार हैं। निश्चय सत्य, व्यवहार सत्य, सापेक्ष सत्य व अन्य प्रकार का होता है। परम सत्य को केवली भगवान् ही जान सकते हैं। सत्य अनादि शाश्वत है, इसको किसी ने बनाया नहीं है। संशय, विभ्रम अनध्यवसाय से जो जाना जाता है वह असत्य है। छद्मस्थ परम सत्य को नहीं जान सकते हैं। परम ज्योति, आध्यात्मिक ज्योति केवल ज्ञान ज्योति में समस्त पदार्थ दर्पण की तरह साफ दिखाई देते हैं। अनेकों सूर्य भी जिसकी प्रकाशित नहीं कर सकते ऐसे केवल ज्ञानी प्रभु की ज्ञान ज्योति होती है।

दर्पण जिस प्रकार पक्षपात रहित जैसी वस्तु हो वैसी ही प्रतिपादित करता है वैसे ही भगवान् जानने की इच्छा से रहित होते हुए समस्त पदार्थों को व उसके समस्त पर्यायों को जानते हैं। परम सत्य को भगवान् पूर्ण रूप से जानते हैं परंतु व्यक्त नहीं करते। रागी-द्वेषी, कषायवान् के शब्द परम सत्य को जानने के लिए सभी वैज्ञानिक प्रयासरत है परंतु वह असमर्थ है। परम सत्य का ज्ञान धारी रिद्धि संपन्न गणधर भी नहीं जान सकते। अतः वह केवली भगवान् से 60 हजार प्रश्न करते है। तीर्थंकर भी मुनि अवस्था में हजारों वर्ष तक परम सत्य की खोज करते हैं, परम सत्य स्वरूप स्वतत्त्व का ही ध्यान करते है।

उपनिषदों की 108 टिकाओं का अध्ययन करने वाले गुरुदेव ने बताया कि उपनिषदों में भी परम तत्त्व आत्म तत्त्व को ही बताया है। सत्य से परे कुछ नहीं हो सकता विभाव सत्य के कारण संसार है। समस्त धर्म सत्य को जानने के लिए है। सद और भाव का स्वभाव अर्थात् सद्भाव होना ही स्वभाव का वास्तविक स्वरूप है। जब तक केवल ज्ञान न हो तब तक मुनि भी पूर्ण स्वभाव में नहीं कहलाते। द्रव्य में अनंत गुण होते हैं। आचार्य ने बताया कि साधु और भगवान् में अनंत गुण, अनंत पर्याय तथा अनंत लक्षण होते हैं। सब लक्षण सत्य को इंगित करते हैं।

(विजयलक्ष्मी द्वारा)

पुनर्वास कॉलोनी जैन मंदिर में वेबिनार से देश-विदेश के वैज्ञानिक और शिष्य जुड़े

धर्म क्षेत्र में किए गए पाप वज्र की तरह हो जाते हैं, जो नष्ट करना बहुत कठिन है: धर्माचार्य

पुनर्वास कॉलोनी के विमलनाथ दिंगबर जैन मंदिर में विराजित वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनंदी गुरुदेव ने मोक्षमार्ग वेबिनार में धर्म क्षेत्र और धर्म के उपयोग-दुरुपयोग के बारे में सूक्ष्म विवेचना की।

वेबिनार से देश-विदेश के कई वैज्ञानिक और शिष्य जुड़े। आचार्य ने बताया कि धर्म क्षेत्र पाप को नष्ट करने के लिए होते हैं। धर्म का दुरुपयोग अधिक खतरनाक है। अन्य क्षेत्र में पाप करने पर धर्म क्षेत्र में नष्ट हो जाते हैं, परंतु धर्म क्षेत्र में किए गए पाप वज्र की तरह हो जाते हैं जो नष्ट करना अति कठिन होता है। मिथ्यात्व की परिभाषा देते हुए गुरुदेव ने बताया कि सत्य को असत्य, ग्राह्य-अग्राह्य, संशय करना, आत्मा को शरीर मानना मिथ्यात्व है। जिज्ञासा होनी चाहिए पर संशय नहीं। सर्वज्ञ भगवान् जो जानते हैं उसे कोई आचार्य नहीं जान सकते अतः हमेशा विद्यार्थी को विनयवान् बनना चाहिए। सत्यवान् के प्रति अनादर-अरुचि करना अज्ञान है। आत्मा का निर्मल परिणाम ही धर्म है। जीव स्वयं कर्म को बुलकर बांधता है। आचार्य ने बताया कि 15 प्रमाद, 15 योग व 25 कषायों से कर्म बंध होता है।

इन भावों से प्रभावित होकर अनंतानंत कर्म वर्गणाएं खींच कर के आती हैं। जब इन भावों को प्राप्त कर लेते हैं तब वह कर्म वर्गणाएं बंध जाती है। भाव असंख्यात लोक प्रमाण है। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि एक व्यक्ति 1 दिन में 60,000 विचार करता है, परंतु इससे भी कई गुणा भाव होते हैं। पानी एक समान मिर्ची, नीम, गन्ना आदि के पौधों के डालने पर वह अलग-अलग रूप में परिवर्तित होता है। वैसे ही जीव जैसा-जैसा भाव करता है उसी प्रकार वह कर्म बाधता जाता है। कर्म को जीव ही शक्ति देता है। मन, वचन, काय के माध्यम से आत्म प्रदेश में कंपन होता है और आत्म प्रदेश में कंपन से कर्म बंध होता है। इससे पहले संघस्थ मुनियों आर्यिकाओं, क्षुल्लिकाओं और श्रावकों ने आचार्यश्री का आशीर्वाद लिया।

(विजयलक्ष्मी द्वारा)

ज्ञानीप्रशंसा

जिनके हृदय में सदा ज्ञानरूपी सूर्य उदित रहता है वे तत्त्व-अतत्त्व के ज्ञाता ज्ञानी पुरुष लोक में धन्य हैं-प्रशंसनीय हैं।

अहा, ज्ञानी मनुष्य को लोकोत्तर आचार किसके द्वारा कहा जा सकता है? जहाँ अज्ञानी बन्ध को प्राप्त है वहीं ज्ञानी बन्धन से छूटता है।

वे मुनिराज विश्व को साक्षात् यथार्थ जानते हैं जो मोह रूपी पटल को ज्ञान रूपी चक्षु के द्वारा भेदते हैं-खण्डित करते हैं।

महापुराणों के ज्ञाता सत्पुरुष प्रिय पदार्थ के चले जाने पर विषाद नहीं करते हैं और आ जाने पर हर्ष नहीं करते। बुद्धि का यही फल है।

मनुष्यों का मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है। गृहों में आसक्त मन बन्ध के लिये और तप में स्थित मन मोक्ष के लिये होता है।

लोक में ज्ञानी पुरुष स्वयं तरते हैं और दूसरे को भी तारते हैं। निश्चय से, अन्य मनुष्यों को तारने वाले मनुष्य संसार-सागर में जलयान-जहाज के समान हैं।

ज्ञानी पुरुष कषायों को शत्रु के समान, विषयों को विष के समान और मोह को उत्कृष्ट भारी बीमारी के समान देखता है।

तदनन्तर उसने तत्त्वज्ञान रूपी जल के द्वारा शोक रूपी अग्नि को बुझा दिया सो उचित ही है क्योंकि ठण्ड के प्रगट रहते हुए क्या कभी घाम की पीड़ा होती है?

बोधयन्त्यमलबोधशालिनो ये जनं जिनमतं महामतिम्।
सत्त्वसार्थमखिले महीतले लीलयैव, परिपालयन्ति ते।। (13)

निर्मल ज्ञान से सुशोभित जो मनुष्य बुद्धिमान् मनुष्य को जैनधर्म का ज्ञान कराते हैं वे समस्त पृथिवीतल पर अनायास ही जीवसमूह की रक्षा करते हैं।

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।। (14)

विद्वत्व और नृपत्व कभी तुल्य नहीं होते क्योंकि राजा अपने देश में ही पूजा जाता है पर विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है।

वैदुष्येण हि वश्यत्वं वैभवं सदुपास्यता।

सदस्यताऽलमुक्तेन विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।। (15)

वैदुष्य-विद्वत्ता से वशीकरण, वैभव, सत्पुरुषों से उपासनीयता और सभाओं में बैठने की योग्यता प्राप्त होती है अथवा कहने से क्या, विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है।

सत्यं तपोज्ञानमहिंसता च विद्वत्प्रणामश्च सुशीलता च।

एतानि यो धारयते स विद्वान् न केवलं सः पठते स विद्वान्।। (16)

जो सत्य, तप, ज्ञान, अहिंसा, विद्वविनय और सुशीलता को धारण करता है वह विद्वान् है न कि केवल जो पढ़ता है वह विद्वान् है।

इदं वाच्यमिदं वाच्यमिति किम् शिक्ष्यते भवान्।

उत्पन्नः प्रज्ञया साकं प्रभयेव महामणिः।। (19)

यह कहना चाहिये, यह कहना चाहिये! इस प्रकार क्या शिक्षित किया जाय क्योंकि प्रभा से महामणि के समान आप प्रज्ञा-विचारशक्ति के साथ ही उत्पन्न हुए हैं।

अथ विज्ञाः प्रकुर्वन्ति येऽन्येषां प्रतिबोधनम्।

सर्वज्ञास्ते परे मूर्खा यत्तेस्युर्घददीपवत्।। (22)

जो विद्वान् दूसरों को संबोधित करते हैं, यथार्थ में वे ही सब को जानने वाले हैं अन्य लोग जो घट में रखे हुए दीपक के समान किसी के काम नहीं आते, वे मूर्ख है। **(स.श्लो.सं.)**

निःस्वार्थ माँ जिनवाणी की सेवा

वैश्विक सन्त महाज्ञानी श्री कनकनन्दी जी गुरुराज की बेमिसाल ज्ञान साधना से रचित गहन ग्रन्थों को विश्व पटल पर लाने हेतु स्वप्रेरणा से दृढ़ संकल्पी हुए चार अनन्य भक्त पहाड़िया सनत जी जैन उदयपुर (पूर्ण अर्थ सहयोग), राजेश जीतमल जी जैन कॉलोनी सागवाडा, राजपूत विक्रम सिंह जी व गोविंद सिंह जी शक्तावत रावली ग्रुप आदि आज से लभगभ 2000 वर्ष पूर्व श्री धरसेनाचार्य स्वामी ने श्रुतज्ञान को स्व से विश्व तक पहुँचे और जन जन का कल्याण हो इस नेक उद्देश्य से श्री पुष्पदन्त व भूतबलि महामुनियों को ज्ञान देकर

षट्खण्डागम लिपिबद्ध करवाया जिससे आज तक हमे तीर्थंकर भगवान् का दिव्य सन्देश जैनागम के रूप के मिल रहा है।

ऐसा ही प्रसंग वर्तमान में भी देखने को मिल रहा है

वर्तमान में विराजित सन्तों में सबसे वरिष्ठ गणाधिपति गणधराचार्य श्री कुंथुसागर जी महाऋषिराज के ज्येष्ठ, श्रेष्ठ प्रथम सुशिष्य व विश्वोत्तम सन्त स्वाध्याय तपस्वी वैज्ञानिक श्रमणाचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुराज जिनके अद्वितीय ज्ञानबल को देखकर 20वीं सदी के अनेक महान् आचार्यों (आ.श्री देशभूषण जी, वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री विमल सागर जी, श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानन्दी जी, दीक्षागुरु आ.कुंथुसागर जी,मर्यादा शिष्योत्तम आ. श्री भरतसागर जी, आ.श्री अभिनंदन सागर जी जैसे महामुनियों व प्रथम गणिनी आर्यिका श्री विजयमती माँ) ने कलिकाल अकलंक,वर्तमान समन्तभद्र, सिद्धान्त चक्रवर्ती जैसी अनेक उपमाओं से अलंकृत किया।

महाज्ञानी आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुराज पिछले 45 वर्षों से सतत माँ जिनवाणी की सेवा कर रहे हैं, आडम्बर रहित, निस्पृह युक्त पवित्र आत्म साधना-दिगम्बरत्व की साधना के साथ अध्ययन व अध्यापन की अद्वितीय शैली के माध्यम से जैन दर्शन के स्वाधाय तप को आपने विश्व के सर्वोच्च शिखर पर प्रकाशमान कर दिया। आप अब तक जैनागम के अति प्राचीन मूलग्रन्थों के सार रूप में 350 गहन साहित्यों की रचना कर चुके है जिसमे भगवान् की दिव्य देशना, जैन विश्व अध्यात्म का वैज्ञानिक विश्लेषण है।

इसी मुख्य विशेषता से देश विदेश के अनेकानेक वैज्ञानिक, प्रोफेसर व उच्च शिक्षविद् आपके जिज्ञासु शिष्य है जो आपको अभिनव श्रुतकेवली की उपमा पूर्वक नमन करते हैं। इन जिज्ञासु सुशिष्य विद्वानों द्वारा पूरे विश्व के पांच महाद्वीपों में आपके साहित्यों पर अध्ययन होता है। अब तक आप 8500 आध्यात्मिक सारभूत कविताओं की रचना कर चुके हैं। पूज्य आचार्य श्री का समस्त साहित्य सृजन जो इस विश्व के लिए अनमोल देन है जो युगों युगों तक जैन दर्शन की गौरव गाथा गाएगा,साथ

ही इससे वर्तमान में भगवान् की दिव्य देशना वैज्ञानिक रूप से समस्त संसार को उपलब्ध हो रही है।

ये साहित्य डिजिटल व पीडीएफके रूप में संसार के समस्त जिज्ञासुओं को सहजता से उपलब्ध हो,जग में जैन दर्शन का वैज्ञानिक व आध्यात्मिक प्रसार हो ऐसी नेक भावना सौभाग्यशाली श्री सनत जी पहाड़िया उदयपुर व राजेश जीतमल जी जैन कॉलोनी के अन्तर्मन में जागृत हुई जिन्होंने स्वेच्छा से आचार्य श्री के समक्ष निवेदन किया और जग हितैषी गुरुवर ने इस पर स्वीकृति प्रदान की इस नेक कार्य का सम्पूर्ण अर्थ पुण्यार्जन पहाड़िया सनत जैन उदयपुर ने किया तो साथ अन्य निस्वार्थ सहयोग राजपूत विक्रम सिंह जी व गोविंद सिंह जी शक्तावत रावली तोप ग्रुप ने किया जो समस्त साहित्यों को गुरु प्रवास से उदयपुर तक सदैव सविनय निःशुल्क आदान-प्रदान करते रहे। जिसमे राजेश जीतमल जी जैन का भी पूर्ण पुण्य सहयोग रहा।

आप चारों भव्यात्माओं ने विश्व कल्याण की भावना के साथ माँ जिनवाणी की अभूतपूर्व सेवा प्रदान की जिसकी हम सब कोटिशः अनुमोदना करते हैं। पुनश्च 30 भाषाओं के ज्ञाता, 300 से अधिक सन्तों के शिक्षागुरु अद्वितीय ज्ञानबल धारी स्वाध्याय तपस्वी वैज्ञानिक श्रमणाचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुराज द्वारा रचित अब समस्त साहित्य वेबसाइट पर डिजिटल पीडीएफ के रूप में सहज उपलब्ध है। (मधोक जैन)

https://www.acharyakanaknandijikesahitya.com/

मम परम सकारात्मक भावना-

मेरी सर्वोच्च पावन भावना=आत्मासे बनूँ परमात्मा

(मैं ही मेरा निर्माण व निर्वाण कर्त्ता-भोक्ता)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : 1.इह विधि... 2.रे पारसतेरी... 3.गरजतबरसत... 4.देहाची तिजोरी...)

करूँ भावना मैं स्वात्मतत्त्व की, आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र वीर्य की।
मुझ में है अनन्तगुण सदा ही, प्रगट करना ही अभी शेष भी।।

मेरे द्वारा मुझ में प्राप्त करना ही/भी, सुयोग्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव योग
मम उपादान प्रमुख सदा ही, निमित्त सहयोग विरोध अभाव भी।। (1)
मेरी भावना हेतु प्रमुख मैं ही, भले गौण में निमित्त सहयोग आदि।
भावना अभाव से सभी व्यर्थ ही, भावना भव नाशिनी भावना भव वर्द्धनी।।
अशुभ भावना परे शुभ भावना भाऊँ, शुभ को बढ़ाता शुद्ध को पाऊँ।
रागद्वेषमोहकामक्रोधादि अशुभ, ईर्ष्या तृष्णा घृणा वैरत्व अशुभ।। (2)
अशुभ से बन्धते कर्म पापमय, जिससे आत्मगुण मम होते क्षीण।
तन मन आत्मा होते अस्वस्थ दुर्बल, समता शान्ति आत्मा विशुद्धि निर्बल।।
अशुभ त्यागूँ मैं नवकोटि से, शुभभाव करूँ मैं नवकोटि से।
अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्म अपरिग्रह, उत्तम क्षमादि दशधाधर्म निर्मल।। (3)
इस से बढ़ेंगे आत्मगुण प्रबल, समता शान्ति आत्मविशुद्धि प्रखर।
इस से बन्धेंगे सातिशय पुण्य प्रचुर, जिससे मिलेंगे सुद्रव्य क्षेत्र काल।।
जिससे आत्मविकास होगा प्रबल होंगे पाप ताप विरोध दूर।
सरल सहज होंगे उत्तम कार्य प्रचुर, निर्मिल निर्विकार निर्द्वन्द्व निश्चल।। (4)
ध्यान अध्ययन शोध-बोध लेखन, आत्मविशुद्धि हेतु एकान्तवास मौन।
इससे आत्मशक्ति बढ़ती जायेगी, श्रद्धाप्रज्ञा चर्या एकमेक होगी।।
निर्विकल्प निष्काम वीतरागी बनूँ, अनन्तज्ञानदर्शन सुखवीर्य बनूँ।
यह ही मेरी परम उत्कृष्ट भावना, जिससे 'कनक' बनूँ शुद्ध बुद्ध परमात्मा।। (5)
मुझ में है परमात्मा बनने की शक्ति, मुझ में नहीं दीन हीन अहं वृत्ति।
यह मेरी परम सकारात्मक भावना, इससे भिन्न सभी नकारात्मक भावना।।
आगम अनुभव विज्ञान से जाना, मैं ही मेरा कर्त्ता-भोक्ता मैं ही माना।
मेरा विकास मुझसे ही माना, निःशंक निकांक्ष, निर्भय बना।। (6)
संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागूँ, निश्चित होकर स्व आत्मा को ध्याऊँ।
स्व ध्यान से सर्वार्थसिद्धि पाऊँ, उत्तम आत्मचिन्ता से मोक्ष मैं पाऊँ।।
अन्त्योदय से सर्वोदय करूँ, ख्याति पूजा लाभ निदान त्यागूँ।
परचिन्ता अधमाधमा (मैं) त्यागूँ, मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ भाऊँ।। (7)

एकान्तवासी, मितभाषी व प्राज्ञ के गुण

(असाधारण लोकों के असाधारण गुण जो साधारण लोकों से विपरीत)

(चालः 1.आत्मशक्ति... 2.क्या मिलिए...)

जो होते एकान्तवासी मितभाषी-प्राज्ञ, वे होते अनेक गुणगण युक्त।
उन्हें न मानना चाहिए निष्क्रिय अज्ञ, असामाजिक, दंभी, एकलखोर नीच।।
न होते मौलिक, ईर्ष्या-स्पर्द्धा रिक्त, आत्मसम्मानयुक्त, सक्रिय, शान्त।
आत्मनिर्भर, शोध-बोध-प्राज्ञ, बुद्धि लब्धि, संवेदनशील, (कृतज्ञ) लक्ष्ययुक्त।। (1)
रहस्यवादी, भविष्यज्ञाता, दक्षतायुक्त, पर से अप्रभावी, अन्धविश्वासरिक्त।
मंथरा, शुकनी सम न कुचारित्र युक्त, स्वपरविश्वहितकारी भावना युक्त।।
स्वपरगुण-दोष से शिक्षा वे लेते, परनिन्दा-अपमान से दूर रहते।
गाय, हंस, मधुमक्खी समान होते, मच्छर, जोंक सम दुर्भाव से रहित होते।। (2)
सकारात्मक विचार कल्पनाशील होते, आत्मानुशासी, शालीन, नैतिक होते।
प्रत्युपकारी दूरदृष्टि सम्पन्न होते, भीड़, प्रदर्शन, दंभ से रहित होते।।
ज्यादा सोचते व कम बोलते, स्वचारित्र से अन्य को शिक्षा देते।
सादाजीवन उच्चविचार सहित होते, संकीर्ण कट्टरता से विरक्त होते।। (3)
ईर्ष्या, घृणा, वैर-विरोध न करते, उदार, समन्वय निष्पक्षपाती होते।
आत्मविश्वासी, दृढसंकल्पी, निर्द्वन्द्व आत्मविश्लेषणकारी आत्मसंबोधी होते।।
जिससे अन्य से अनावश्यक न बोलते, स्वयं के द्वारा स्वयं को उपदेश देते।
समता-शान्ति व आत्मतृप्ति पाते, जिससे वे प्रज्ञाशील रचनात्मक (उत्पादक) होते।। (4)
अपेक्षा-उपेक्षा व प्रतीक्षा न करते, संकल्प-विकल्प-सक्लेश रहित होते।
फैशन-व्यसन, दिखावा से रहित होते, अन्तरंग गुणों को विकसित करते।।
ध्यान-अध्ययन, मनन, चिन्तन करते, सुगुणी से मित्रता, दुर्गुणी से न करते।
समय शक्ति बुद्धि का सदुपयोग करते, प्रमाद आलस्य से वे दूर रहते।। (5)
ऐसे लोक ही सृजनशील होते, तीर्थंकर, बुद्ध, वैज्ञानिक, संत होते।
लेखक, दार्शनिक, समाजसुधारक होते, 'कनकसूरी' को उक्त गुण बाल्यकाल से भाते।

अधिसंख्यजन उक्त गुणों से रिक्त होते, जिससे उक्त गुणी को दोषी मानते। जिससे उनकी निन्दा-अपमानादि करते, तीर्थंकरादि महान् पुरुषों के साथ भी करते।। (6)

पृथ्वी पर वेबिनार-स्वाध्याय की लहर

(अभिनव श्रुतकेवली आचार्यश्री कनकनन्दीजी द्वारा अभूतपूर्व वैश्विक ज्ञान-विज्ञान प्रभावना का सुफल!)

शब्द सुमन अर्चक-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चालः ऐ वतन ऐ वतन हमको तेरी कसम...)

वेबिनार-सेमिनार-स्वाध्याय की लहर...

पृथ्वी में चल रही है...प्रभावी लहर...

अभिप्रेरक श्रमण...कनकनन्दी गुरु...

आत्म द्रव्य वैज्ञानिक...वैश्विक गुरु...वेबिनार-सेमिनार...(ध्रुव)...

अरावली शृंखला...वाग्वर की धरा...

सागवाड़ा कॉलोनी...स्वाध्याय भवन...

ज्ञान प्रभावना का बन गया केन्द्र है...

धर्म-दर्शन-विज्ञान...समन्वय है...

आत्म (चेतना) विज्ञान इन सबके केन्द्र में है...

जो भी आता यहाँ...पाता आनन्द है...

शान्ति-समता-अनुभव-समाधान है...(1)...

कोई यूरोप अफ्रीका...आस्ट्रेलिया...

महादेश अमेरिका...कोई है एशिया...

देश-विदेश के पढ़ रहे शिष्य गण...

साधु-साध्वी-विद्वान् जिज्ञासु जन...

वैज्ञानिक-प्रोफेसर जैसे शोधार्थी जन...

बोधि-समाधि-परिणाम शुद्धि करे...

सत्य-साम्य-सुखामृत का पान करे...(2)...

कोई संचालन...कोई मंगलाचरण...

कोई स्व प्रेरणा (भावना) से सहायक बने...

ज्ञान-दान-शोध-बोध विकास हो रहा...

भाव-भक्ति-गुण-कला-कौशल का...

ज्ञानानन्द-सहजानन्द चेतना भाव का...

कोई वक्ता बने...कोई लेखक बने...

बाल कवि से लेकर 'सुविज्ञ' बने...(3)...

मेरी है भावना...ऐसी सुभावना...

नित्य होती रहे...सर्व सुभावना...

सभी ज्ञानी-विज्ञानी व ध्यानी बने...

प्रगतिशील-आधुनिक-गुणग्राही बने...

सनम्र सत्यग्राही-उदार बने...

जो भी भाएगा ऐसी शुभ भावना...

वह बनेगा सुदृष्टि मंगल कामना...(4)...

शहर के पुनर्वास कॉलोनी जैन मंदिर में वेबिनार से देश विदेश के वैज्ञानिक और शिष्य जुड़े

मनुष्य का मन एकाग्र होने से आई.क्यू. और एस.क्यू. बढ़ता है: धर्माचार्य कनकनंदी जी

पुनर्वास कॉलोनी के विमलनाथ दिंगबर जैन मंदिर में ससंघ विराजित वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनंदी गुरुदेव ने रविवार को वैज्ञानिक शिष्यों व आचार्य शिष्यों के वेबिनार में ध्यान का अध्यात्मिक, वैज्ञानिक और दार्शनिक विश्लेषण किया।

आचार्य ने बताया कि वेबिनार के माध्यम से आज हर घर स्कूल और कॉलेज सिद्ध हो रहे हैं। ध्यान के प्रति विदेशों में अधिक आकर्षण है। आचार्य ने

बताया कि केवल शारीरिक व्यायाम ही ध्यान नहीं है। ध्यान मुख्य रूप से तीन प्रकार का अशुभ, शुभ, शुद्ध होता है। मोक्षमार्ग में शुभ व शुद्ध ध्यान आत्म विशुद्धि के लिए अनिवार्य है। ध्यान व ज्ञान में बड़ा अंतर है।

एक इंद्रियों से लेकर पंच इंद्रिय हर जीव सतत आर्त्त ध्यान, रौद्रध्यान करता है। 84 प्रकार के आसन जैन धर्म व हिंदू धर्म में है, वह योगासन है परंतु योगासन ध्यान नहीं है। ध्यान मन को पवित्र भाव से केन्द्रीभूत करना है। आचार्य ने कहा कि मनुष्य से अधिक पशु ध्यान करते हैं। जैसे एनाकोंडा, घड़ियाल, पोलर बियर ये सप्ताह तक एक स्थान पर बिना हिले डुले स्थिर रहकर बिना शरीर को हिलाए ध्यान करते हैं परंतु यह आर्त्त ध्यान रौद्र ध्यान है। ये जीव शिकार आदि के लिए जो ध्यान करते हैं वह मोक्ष के भागीदार नहीं है। पंच पाप राग द्वेष होते हुए श्रावक को भावना रूप में तथा मुनि को प्रकृष्ट रूप में होता है। भाव अपवित्र होने पर मन चंचल होगा ही। मन को स्थिर करने का सबसे बड़ा उपाय है मन को पवित्र करना। मन एकाग्र होने से आईक्यू-एसक्यू बढ़ता है। ध्यान नहीं करने वालों का ओरा काला व शुभ ध्यान करने वालों का ओरा सफेद होता है।

शुभ ध्यान से मानसिक व शारीरिक रोग दूर होते है तथा अल्फा, बीटा किरणें निकलती है। जो तप, श्रुत, व्रत से युक्त होता है वही शुभध्यान कर सकता है। आत्म तत्त्व को जानना ध्यान के लिए आवश्यक है। आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, पंच पाप, सप्त व्यसन आदि का त्याग होने पर शुभ ध्यान होगा। योग के बारे में बताते हुए आचार्य ने कहा कि पंच पापों को त्याग करना यम है। मन को संयमित करने के लिए रोज नियम करना नियम है।

मन को एकाग्रचित्त, ज्ञान को स्थिर करना तथा चंचल मन को स्थिर करना, मन वचन काय व आत्मा को परमात्मा से जोड़ना योग है। मन अस्थिर होने से न्यूरॉन्स मस्तिष्क से कट जाते हैं अतः याद नहीं रहता है। मन चंचल होने पर ध्यान अवस्था में बैठने पर भी ध्यान नहीं होता है। संकल्प विकल्प को रोकना ध्यान से ही संभव है।

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से न्यूरॉन्स डिस्टर्ब हो जाते हैं। इसलिए उनको रोकने के लिए ध्यान, योग, प्राणायाम, सत्संग और स्वाध्याय का सहारा लेना चाहिए। **(सौ. विजयलक्ष्मी) (साभार-दैनिक भास्कर)**

Respected Sir. Jai Jinedra.

Have you read my above two articles

1. Body & Soul, Birth & Death.

2. Jainism, The Art of Living.

This article is my search which I delivered in JAINA CONVENTION 1997 in Toronto Canada as Jain Scholar invited by Executive Committee of JAINA.

Earlier in 1995 I was invited by JAINA Convention Committee in JAINA Convention Chicago and delivered my lecture in JAINISM is a SCIENCE which was the theme of Convention.

First article was published in India in 2000 in Speaking tree column of Times of India New Delhi.

Second article was published in JAIN Digest of JAINA quartely magazine.

Thus we must understand thata it is not new that we are discussing about Jainism is a Science.

Lack of knowledge is no excuse.

Truth of Natural Laws will remain always the same at all time for (JEEV) SOUL and (AJEEV) Pudgala as described in 1000 years old Granth Dravya Sangrah written by Sidhant Chakravarti Acharya Nemichandra and is a subject of discussion

of Webinar organized by Prof. respected Shri Raj Mal ji through JAINAM channel addressed by Shrut kevli Acharya kanak Nandi ji Gurudev.

We both are attending this webinar for the last four months.

It is my humble suggestion to all modern Scientist who are attending this webinar and who have attained tremendous knowledge in Modern Science in various filed and retired from top positions should minimize their knowledge of Modern Science (who has not recognized ATMA till today) while attending above said WEBINAR.

With due Appoligy. With warm regards. Ram Gopal Jain Indian American Chicago/California USA.